ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
Listed in UGC Care journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

बहुरि नहिं आवना

अंक-21
अक्टूबर 2022 - दिसम्बर, 2022
मूल्य : 20 रुपए

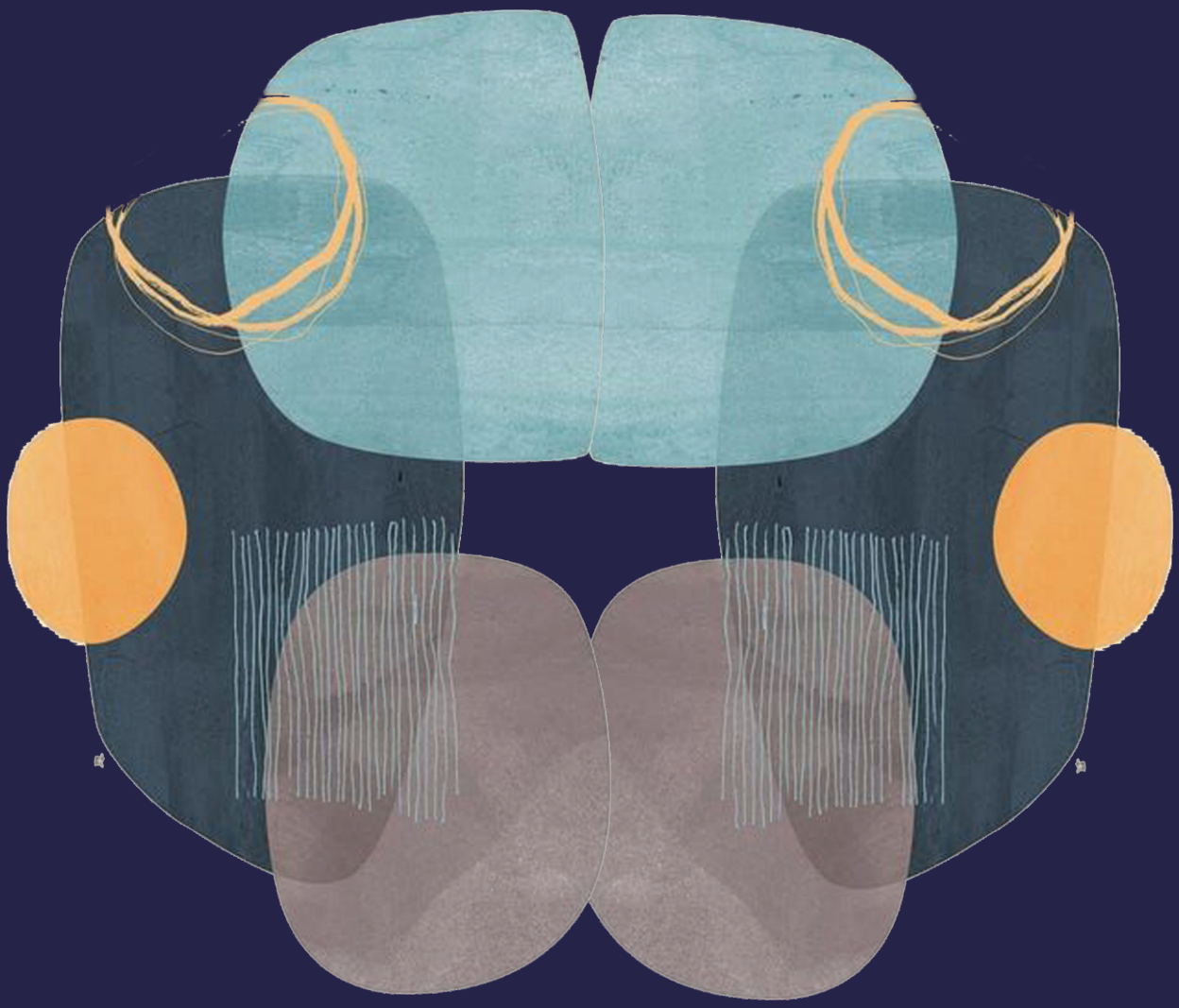

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य

वर्ष : 14
अंक : 21
अंक : अक्टूबर, 2022 - दिसंबर, 2022
संस्थाओं के लिए प्रति कापी : 100 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्क : 3000 रुपए
आजीवन सदस्यता : 10000 रुपए

संपादकीय पता
जे-5, यमुना अपार्टमेंट,
होली चौक, देवली,
नई दिल्ली-110080
मोबाइल : 09868701556
Email: bahurinahiawana14@gmail.com
Website-www.bahurinahiawana.in

Advertisement Rate
Full Page–Rs. 20,000/-
Half Page–Rs. 10,000/-
Qtr. Page–Rs. 5,000/-
Back Cover –Rs. 40,000/- (four colour)
Inside Front –Rs.35,000/- (four colour)
Inside Back –Rs.. 35,000/- (four colour)

Mechanical Data
Overall Size 27.5 cms x 21.5 cms
Full Pages Print Area 24 cms x 18 cms
Half Page 12 cms x 18 cms or
24 cms x 9 cms
Qtr Page12 cms x 9 cms

प्रधान संपादक
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
संपादक
प्रो. दिनेश राम
सहायक संपादक
डा. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु'
डा. सुनीता देवी
भाषा सहयोग
डा. हेमंत कुमार 'हिमांशु'
डा. राजकुमार राजन
कानूनी सलाहकार
एड. सतपाल विर्दी
एड. संदीप दहिया

संपादकीय सलाहकार एवं विषय विशेषज्ञ
डा. वी. पी. सिंह, प्रो. राजेन्द्र बड़गूजर, बलवीर माधोपुरी, प्रो. फूलबदन, प्रो. नामदेव, प्रो. सुजीत कुमार, डा. चन्देश्वर, डा. दीनानाथ, डा. मोहन चावड़ा, विजय सौदायी, डा. यशवंत वीरोदय, डा. सुरेश कुमार, डा. मनोज दहिया

अप्रवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के विशेषज्ञ
ओमप्रकाश वाघा, नरेन्द्र खेड़ा, राम बाबू गौतम, डा. गुलशन नजरोवना जुगुरोवा, डॉ. बयात रहमातोव, डा. सिराजुद्दीन नूरमातोव

* पत्रिका पूरी तरह अवैतनिक और अव्यावसायिक है।
* पत्रिका से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
* अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है।
* 'बहुरि नहिं आवना' के सारे भुगतान मनीआर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट 'बहुरि नहिं आवना' के नाम से स्वीकृत किये जायेंगे।
* स्वामी, संपादक, प्रकाशक एवं मुद्रक प्रो. दिनेश राम की ओर से भारत ग्राफिक्स, सी-83, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली-20 द्वारा मुद्रित एवं एफ-345, लाडो सराय, नई दिल्ली- 30 से प्रकाशित।
* 'बहुरि नहिं आवना' में प्रकाशित लेखों में आये विचार लेखकों के अपने हैं जिन से संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

अनुक्रम

संपादकीय : जात-पाँत तोड़क मंडल के सौ साल	*–डा. सुरेश कुमार*	4
मोहन दास : भूमंडलीकृत भारत का यथार्थ और वंचित वर्ग	*–डा. सतोष कुमार यादव*	7
नाटकीय अंतर्वस्तु एवं स्त्री स्वत्व की अवस्थिति : महिला निर्देशित नाट्य प्रस्तुतियों के संदर्भ में	*–डॉ अपर्णा वेणु*	13
हिंदी कथा साहित्य : मुस्लिम परिवेश	*–डा. पठान रहीम खान*	19
द डार्केस्ट डेस्टिनी : एक शिल्पगत प्रयोग	*–डा. रजनी दिसोदिया*	23
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं में प्राचीन साहित्य और आधुनिक चेतना का सामंजस्य	*–डा. संजीव कुमार पाण्डे*	26
सुमित्रानन्दन पन्त के कथा साहित्य में मानवेतर या दिव्य जीवन मूल्य और सौन्दर्य चेतना का विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–अशोक कुमार यादव*	31
रमेशचन्द्र शाह के उपन्यास 'कथा सनातन' में राजनीति, धर्म और ऐतिहासिकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–डा. कृपाशंकर*	34
गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन वृत्त का विवेचनात्मक अध्ययन	*–विजय कुमार पाल*	38
नई कहानी का बदलता स्वरूप	*–डा. राम किशोर यादव*	42
भारतीय योग-दर्शन और कबीर का सहजयोग	*–डा. पोर्शिया सरकार*	47
सांस्कृतिक भारत : श्री अरविन्दो के दृष्टिकोण में	*–प्रभाकर पाण्डेय –डा. अंजू बाली पाण्डेय*	51
राजेन्द्र यादव की कहानियों में स्त्री-दलित जीवन की पीड़ा और सामाजिक चेतना	*–अजय कुमार*	57
आजादी का उत्सव और नयी कविता का जनतंत्र	*–मिथलेश कुमार*	61
डा. अम्बेडकर की स्वराज और राष्ट्र की अवधारणा : 'मूकनायक' के संदर्भ में	*–ब्रजेश कुमार* *–प्रो. राजेश गर्ग*	65
मीरा के काव्य में व्यक्त संवेदना एवं साधना पद्धति	*–ब्रजेश उपाध्याय*	72
निराला का समाज दर्शन	*–डा. दिनेश्वर कुमार महतो*	76
निर्मला पुतुल के काव्य में आदिवासी स्त्री जीवन	*–डॉ. राजेंद्र घोडे*	79
हिन्दी कथा साहित्य एवं आदिवासी चेतना (संदर्भ : राजस्थान)	*–डा. जयसिंह मीणा*	82
दलित साहित्य बनाम ललित साहित्य का द्वंद्व : 'गूंगा नहीं था मैं'	*–डॉ. कर्मानंद आर्य*	86
पारंपरिक चेतना के चितेरे : नागबोडस	*–प्रो. कुसुमलता मलिक*	95
विनोबा का आर्थिक चिन्तन : भूदान आन्दोलन	*–डा. सीमा रानी, –कमल सिंह,*	100
भारत में लैंगिक असमानता, वर्तमान परिदृश्य एवं भविष्य की सम्भावनाएं : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	*–सीता पाण्डेय* *–डा. मनोज गुप्ता*	105

श्रीमद्भगवद्गीता शिक्षक और शिक्षार्थी के जीवन में तनाव प्रबन्धन की मार्गदर्शिका के रूप में	*–डा. सीमा रानी* *–अभिनव शर्मा*	109
प्रशिक्षुओं की शैक्षिक निष्पत्ति पर प्रशंसा एवं निंदा के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	*–प्रोफेसर (डॉ.) डी.पी. मिश्रा* *–गौरव शर्मा*	115
नादिरा ज़हीर बब्बर के नाटकों में पुरुष पात्र	*–अजीत कुमार सिंह– डा. मधु कौशिक*	121
वंशानुगत व्यवसाय पर प्रहार करती कहानी 'मिट्ठू की विरासत'	*–नेहा कन्नौजिया*	126
मीरा की कविता में प्रतिरोध का स्वर	*–राम बचन यादव*	129
असाध्य वीणा और वस्तुनिष्ठ कला परंपरा	*–डा. संतोष कुमार*	136
सन् 1990 ई. के पश्चात् कश्मीर की हिंदी कविता का विषय-परिवर्तन	*–उमर बशीर*	146
संत गुरु रविदास का सामाजिक चिंतन	*–विकास कुमार यादव*	150
समकालीन कहानी और हाशिए का समाज	*–डा. रेखा सिंह*	154
भारतीय रंग-प्रयोगों के पर्याय 'बंसी कौल'	*–डा. इंदू कुमारी*	157
मिथकीय घटनाओं के समसामयिक संदर्भ में 'उपसंहार'	*–आशीष द्विवेदी*	161
वेदों में वर्णित पर्यावरण संबंधी आचार नीति	*–डा. शिवानी रावत*	164
संस्कृति, अनुवाद और अस्मिता	*–निरंजन राव*	169
प्रेम कुमार मणि कृत 'उपसंहार' उपन्यास में व्यक्त सामाजिक सरोकार	*–उपदीप कौर*	173

संपादकीय

जात-पाँत तोड़क मंडल के सौ साल

—डा. सुरेश कुमार

बीसवीं सदी का तीसरा दशक सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक और आजादी की सरगर्मियों से भरा रहा। इस दशक में जहाँ स्वराज के प्रति ब्रिटिश सरकार के खिलाफ भारतीय गोलबंद हुए, वहीं अछूत समस्या के समाधान की पहलकदमियों की आहट भी सुनाई देने लगी थी। इसी दशक में उत्तर भारत में स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' के 'आदि-हिंदू' नाम से एक स्वतंत्र धार्मिक आंदोलन का उदय हुआ जिसने दलितों के मुल्की हकों का मुद्दा बड़े जोर शोर से उठाया। जब असहयोग आंदोलन अपने चरम पर था, तब उसी समय इंग्लैंड के प्रिंस आफ वेल्स भारत की यात्रा पर आए थे। कांग्रेसी नेताओं ने उनका असहयोग और विरोध किया था। परंतु, स्वामी अछूतानन्द ने उन्हें अछूतों की ओर से सत्रह सूत्री मांगों का ज्ञापन दिया था। इस ज्ञापन का काफी असर हुआ और अछूत अधिकारों को लेकर हो रही सरगर्मियों ने काफी जोर पकड़ लिया था। इसके बाद कांग्रेस ने अपने स्वराजवादी एजेंडे में अस्पृश्यता निवारण का मुद्दा जोड़ लिया था। बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में जाति-प्रथा को मिटाने की कवायदें और गतिविधियों में नया मोड़ उस समय आया जब संतराम बी. ए. ने लाहौर में जात-पाँत तोड़क मंडल की स्थापना की।

सन् 1922 में जात-पाँत तोड़क मण्डल, लाहौर का स्थापित होना बीसवीं सदी के तीसरे दशक की एक बड़ी घटना थी। यह मंडल सामाजिक बदलाव और जाति तोड़ने की आकांक्षा रखने वाले चंद युवकों की सोच का नतीजा था। सन् 1922 में आर्य समाज का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ था। इस अवसर पर भाई परमानंद के आवास पर संतराम बी. ए. सहित बीस-बाईस युवक इकटठे् हुए जिन्होंने जाति-तोड़ो संगठन बनाने की इच्छा प्रकट की थी। इस तरह 10 मार्ग शीर्ष 1977 विक्रमी (नवंबर, 1922 ईस्वी) को भाई परमानंद के आवास पर जात-पाँत तोड़क मण्डल की नींव पड़ी। वहाँ उपस्थित युवकों ने इस मंडल के प्रधान सभापति भाई परमानंद और मंत्री संतराम बी.ए. को चुना।

इस मण्डल की स्थापना के पीछे संतराम बी. ए. का उद्देश्य यह था कि समाज में व्याप्त जात-पाँत और वर्ण-व्यवस्था का संघार कर समाज के भीतर समता कायम की जाए। मंडल का दावा था कि समाज से जब तक जाति प्रथा का विनाश नहीं किया जाएगा, तब तक समाज में विषमता की विषबेल फैलती रहेगी। यह मंडल जात-पाँत की जननी वर्ण-व्यवस्था को मानता था। इसलिए मंडल का दावा था कि जाति प्रथा की जननी वर्ण-व्यवस्था का जब तक समूल नाश नहीं होगा, तब तक जाति प्रथा को नहीं मिटाया जा सकता है। जात-पाँत तोड़क मंडल का मत था कि जो सुधारक वर्ण-व्यवस्था के

विनाश के बिना जाति-प्रथा को मिटाने की बात करते हैं, यह एकदम वैसा ही है जैसे किसी बुखार के रोगी को दवा दिए बिना उसका उपचार बर्फ के टुकड़े से किया जाए।

जात-पाँत तोड़क मंडल ने जाति प्रथा के विनाश के लिए दो फार्मूलों पर काम किया था। पहला फार्मूला था कि समाज से वर्ण-व्यवस्था को मिटा दिया जाए, जिससे जाति-तोड़ने की संभावनाओं को काफी बल मिलेगा। वहीं दूसरा फार्मूला यह था कि हिंदू समाज में अंतरजातीय विवाह पर बल दिया जाए। इस मंडल का मत था कि यदि उच्च श्रेणी के हिंदू रोटी-बेटी की हदबंदी से बाहर निकल कर यदि अंतरजातीय विवाह करने लगे तो जाति प्रथा का संहार हो जाएगा। यह मंडल अपने वार्षिक अधिवेशनों और कार्यक्रमों में अंतरजतीय विवाह पर काफी बल देता था। इस मंडल के बैनर तले संतराम बी. ए. ने सैकड़ों अंतरजातीय विवाह करवाने का काम किया था। मंडल का जहाँ कहीं भी अधिवेशन होता था, वहाँ अंतरजातीय विवाह के फार्म मौजूद रहते थे और जाति-तोड़ने की आकांक्षा रखने वाले युवक-युवतियाँ इन फार्मों को भर दिया करते थे। इसके बाद मंडल उनका अंतरजातीय विवाह करवाने में मदद करता था।

जब मंडल संतराम बी. ए. की अगुआई में आकार लेने लगा था, तब इसके शुरुवाती दौर में उच्च श्रेणी के हिंदू मजाक उड़ाते थे। इन लोगों का मानना था कि मंडल नीच जाति के लोगों का जत्था है जिसके माध्यम से ये अपनी जाति छिपाना चाहते हैं। बड़ी दिलचस्प बात है कि जब मंडल वर्ण-व्यवस्था को मिटाने की बात करने लगा तो इसका विरोध पंडित लज्जाराम शर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और किशोरीदास वाजपेयी जैसे दिग्गज साहित्यकारों ने किया था। हिंदी लेखकों और सुधारकों को मंडल का वर्ण-व्यवस्था के खात्मे और अंतरजतीय विवाह वाला फार्मूला रास नहीं आया था। इन लेखकों की दलील थी कि यह मंडल जाति-तोड़ने के बहाने हिंदुओं को तोड़ने का काम कर रहा है। यदि इसका वश चले तो वह अछूत और ब्राह्मणों को एक ही पायदान पर लाकर खड़ा कर दे।

हिंदी के लेखकों ने जात-पाँत तोड़क मंडल के साथ संतराम बी. ए. की शिक्षा-दीक्षा का भी मजाक उड़ाया था। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का तो यहाँ तक कहना था कि यदि ''अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में जो शिक्षा मिलती है, उससे दैन्य ही बढ़ता है और अपना अस्तित्व भी खो जाता है। बी. ए. पास करके धीवर, लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे, तो संतराम बी.ए. की तरह हास्यास्पद होना पड़ेगा।'' जब जात-पाँत तोड़क मंडल के मंच से वर्ण-व्यवस्था के नाश होने का ऐलान हुआ तो अधिकांश उच्च श्रेणी के हिंदू लेखक इस मंडल के विरोधी हो गए थे। किशोरी दास वाजपेयी जैसे बड़े लेखक वर्ण-व्यवस्था की रक्षा में उतर आये थे। इस भाषाविद् की दलील थी कि वर्ण-व्यवस्था का जाति-प्रथा और छुआछूत से कोई लेना-देना नहीं है। इस तरह से तमाम हिंदी के लेखक और संपादक जात-पाँत तोड़क मंडल और इसके मंत्री संतराम बी. ए. का विरोध और आलोचना करते दिखायी दिए थे।

जात-पाँत तोड़क मंडल अछूतों का प्रबल पक्षधर था। इसका दावा था कि स्वराज का अर्थ तब तक अधूरा है, जब तक अछूत समस्या का समाधान नहीं हो जाता है। इसलिए उच्च श्रेणी के हिंदू सुधारकों को अपनी हठधर्मिता को त्यागकर अछूत समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए। इस दौर के अछूत सुधारक मंडल द्वारा चलाये जा रहे जाति-तोड़ो आंदोलन की प्रशंसा करते थे। संतराम बी. ए. का डा. आंबेडकर से घनिष्ठ संबंध था। उन्होंने डा. अंबेडकर को सन् 1936 में जात-पाँत-तोड़क मंडल के वाषिक अधिवेशन का सभापति बनाया था। इस अधिवेशन के होने के चंद महीने पहले ही डा. अंबेडकर ने जाति-व्यवस्था से तंग आकर यह घोषणा कर दी थी कि 'यद्यपि मैं हिंदू जन्मा हूं, लेकिन हिंदू के रूप में मरूंगा नहीं'। डा. अंबेडकर की इस घोषणा से पूरे देश में तहलका मच गया था। लाहौर के भद्रवर्ग ने संतराम बी. ए. को धमकी दे डाली कि यदि डा. अंबेडकर मंडल के वार्षिक अधिवेशन में आयेंगे तो हम काला झंडा दिखाकर उनका विरोध करेंगे।

संतराम बी. ए. ने अंत में डा. अंबेडकर की गरिमा का ख्याल रखते हुए 1936 में होने वाले जात-पाँत-तोड़क मंडल का वार्षिक अधिवेशन स्थगित कर दिया गया था। संतराम बी. ए. ने अपना कथन इस प्रकरण को लेकर गांधी को उनके पत्र हरिजन में प्रकाशनार्थ भेजा था, उसके मुताबिक 'हमने अपने अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए डा. अंबेडकर को इसलिए नहीं आमंत्रित किया था कि वे दलित वर्ग के हैं, क्योंकि हम अस्पृश्य हिंदू को स्पृश्य हिंदू से अलग नहीं मानते। इसके विपरीत, हमने उन्हें इसलिए चुना कि हिंदू समुदाय के इस मरणांतक मर्ज का उनका निदान वही है जो हमारा है। अर्थात, उनका मत भी यही है कि हिंदुओं के विघटन और पतन का मूल कारण जाति प्रथा है। डाक्टर की उपाधि के लिए डॉक्टर (अंबेडकर) का शोध प्रबंध जाति प्रथा पर था, इसलिए उन्होंने इस विषय का गहराई से अध्ययन किया है।

चूंकि, हमारे अधिवेशन का उद्देश्य हिंदुओं को जाति का उन्मूलन करने के लिए समझाना था, इसलिए धार्मिक और

सामाजिक मामलों में एक गैर-हिंदू की सलाह उन पर कुछ असर नहीं कर सकती। डॉक्टर ने अपने व्याख्यान के पूरक हिस्से में यह कहने पर बहुत जोर दिया कि हिंदू के रूप में उनका यह अंतिम व्याख्यान है, जो अप्रासंगिक तो था ही, अधिवेशन के हितों को चोट पहुंचाने वाला भी था। अतः हमने यह वाक्य निकाल देने का अनुरोध किया, क्योंकि वे यह बात किसी अन्य अवसर पर भी कह सकते थे। लेकिन उन्होंने इनकार कर दिया और हमारे जलसे को दिखावे की चीज बनाने की कोई उपयोगिता नहीं लगी। इस सबके बावजूद, मैं उनके व्याख्यान की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। जो, जितना मुझे पता है, इस विषय पर सबसे ज्यादा विद्वतापूर्ण प्रबंध है और जिसका अनुवाद भारत की प्रत्येक भाषा में करने के योग्य है।'

वहीं डा. अंबेडकर ने इस संबंध में मंडल के एक सदस्य हर भगवान को पत्र लिखा। इसके मुताबिक, ''मुझे विश्वास है कि श्री संत राम इस बात की तसदीक करेंगें कि उनके एक पत्र के जवाब में मैंने उन्हें लिखा था कि अंतरजातीय भोज और अंतरजातीय विवाह जाति प्रथा को समाप्त करने के सही तरीके नहीं हैं। इसका सही तरीका है उन धार्मिक विचारों को नष्ट करना, जो जाति का आधार हैं। अपने प्रत्युत्तर में श्री संत राम ने मुझसे कहा कि मैं अपने इस दृष्टिकोण, जिसे उन्होंने एकदम नया बताया, को तफसील से समझाऊं। उनके इस अनुरोध के प्रकाश में मैंने सोचा कि जिस बात को मैंने अपने पत्र में एक वाक्य में कहा था, मैं अपने भाषण में विस्तार से उसका वर्णन करूं। इसलिए आप यह नहीं कह सकते कि जो विचार मैंने व्यक्त किये हैं, वे नए हैं। कम से कम श्री संत राम, जो आपके आंदोलन के प्रणेता और उसके प्रमुख सदस्यों में एक हैं, के लिए तो वे बिलकुल ही नए नहीं हैं।''

जात-पाँत तोड़क मंडल ने औनिवेशिक भारत में वर्ण और जाति-प्रथा के विरोध में एक विमर्श का माहौल निर्मित किया था। मंडल ने अछूत समस्या और जाति-व्यवस्था के मसले पर अपने दौर के किसी उच्च श्रेणी के सुधारक के साथ मित्रता नहीं निभायी। वर्ण-व्यवस्था के समर्थन में महात्मा गांधी और पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे विचारकों की खुलकर आलोचना और उनसे प्रतिवाद भी करता था। यह मंडल और संतराम बी. ए. अछूत मसले पर पंडित मदनमोहन मालवीय के 'मंत्र-दीक्षा' की खुलकर आलोचना करते हुए, 'मंत्र-दीक्षा' को उच्च श्रेणी के हिंदुओं का शिगूफा करार दिया था। संतराम बी. ए. की दलील थी कि उच्च श्रेणी के सुधारकों को मंत्र-दीक्षा का ढोंग छोड़कर अछूतों को सामाजिक, राजनैतिक और शैक्षिक अधिकारों को देने की परियोजना पर बल देना चाहिए।

जात-पाँत तोड़क मंडल का गठन नवंबर, 1922 में हुआ था। इस मंडल ने जाति व्यवस्था के खिलाफ संगठित रूप से अभियान की शुरूआत की। हालांकि वर्णाश्रम को लेकर इसके सदस्यों में मत भिन्नता रही, परंतु उन दिनों जाति के खिलाफ जो बिगुल फूंका गया, उसकी अनुगूंज भारत के अलग-अलग हिस्सों में दूर तक सुनाई देती रही। जात-पाँत तोड़क मण्डल की स्थापना के नवंबर, 2022 में सौ साल पूरे हो जायेंगे। आज से सौ साल पहले मंडल ने जाति-तोड़ने के जो फार्मूले सुझाए थे, आधुनिक भारत के बुद्धिजीवी उन्हीं फार्मूलों पर जोर देते दिखाई देते हैं। आज भी जातिवाद के खिलाफ आवाज उठाने वाले बुद्धिजीवियों की ओर से जाति-तोड़ने का सर्वोत्तम साधन अंतरजातीय विवाह को ही बताया जाता है। यह अलग बात है कि आधुनिक भारत में भी जातिवादी ताकते अंतरजातीय विवाह को बड़ी हिकारत भरी नजर से देखती हैं। हम देखते हैं कि सौ साल बाद भी इस नयी सदी में जात-पाँत-तोड़क मंडल के विचार और दलीलें प्रासांगिक और अनुकरणीय हैं।

मोहन दास : भूमंडलीकृत भारत का यथार्थ और वंचित वर्ग

—डॉ. संतोष कुमार यादव

उदय प्रकाश की रचना मोहन दास एक लंबी कहानी है जिस में आख्यानपरक शैली में लेखक ने भारत के अति पिछड़े समाज के एक युवक को नायक बना कर उस के जीवन के त्रासदीपूर्ण यथार्थ को चित्रित किया है। कहानी के नायक को मोहन दास नाम महात्मा गाँधी और गाँधीवाद को इस कहानी में इंगित करने के लिए लेखक ने दिया है। लेखक कहानी के बीच में नरेटिव्स के माध्यम से स्वयं लिखता है, ''इस कहानी के मुख्य पात्र का नाम मोहन दास, पत्नी का नाम कस्तूरी बाई, माँ का नाम पुतली बाई और बेटे का नाम देव दास...? कस्तूरी बाई का नाम कस्तूरबा की याद दिलाता है, मोहन दास तो खैर एकदम साफ है। अगर आप महात्मा गाँधी की आत्मकथा 'दि स्टोरी ऑफ माइ एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रूथ' पढ़ें तो पता चलेगा कि उन के पिता करमचंद का दूसरा नाम काबा भी था और माँ का नाम पुतली बाई...'' कहानी में नौकरी के अवसरों में व्याप्त भ्रष्टाचार और ब्राह्मणवाद को आधार बनाया गया है। मोहन दास नामक बंसोर जाति के युवक की कोयलरी में डिपो सुपरवाइजर की नौकरी लग जाने के बावजूद, किस प्रकार एक ब्राह्मण जाति का युवक नकली मोहन दास बन कर उस की नौकरी हड़प लेता है और उस के दस्तावेजों पर नौकरी करता रहता है, यह बड़े ही मार्मिक ढंग से कहानी अभिव्यक्त करती है। यही नहीं इस कहानी में व्यक्ति के हक के साथ उस की अस्मिता की जातिवादी लूट को भी चित्रित किया गया है। यह यथार्थवादी चित्रण भारतीय व्यवस्था में मौजूद संगठित वर्गों द्वारा वंचित वर्ग के साथ हो रहे अन्याय को रोचक ढंग से अभिव्यक्त करता है।

भूमंडलीकरण के बाद भारत में जो परिवर्तन हुए उन में बड़ा परिवर्तन यह था कि निजीकरण और उदारीकरण के फलस्वरूप रोजगार के अवसरों की संख्या सीमित हो गई। निजीकरण की तीव्रता भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के अवसरों को सीमित करने वाली साबित हुई। पूंजी के अबाध प्रवाह ने व्यवस्था को और भ्रष्ट किया। उदारीकरण और निजीकरण ने हाशिए के वंचित तबके के लिए नई मुश्किलें खड़ी कीं। राष्ट्र और राज्य की कमजोरी ने वंचित समुदायों की मुक्ति के द्वार और भी संकीर्ण कर दिये। इस संदर्भ में डी. आर. नागराज लिखते हैं, ''अंतर्राष्ट्रीय पूंजी की व्यवहार शैली कुछ इस किस्म की है कि दलित न तो इस के निर्माण में भागीदारी कर पाते हैं और न ही उसके बाद उसकी प्रभुत्वकारी संरचनाओं में उस का कोई हिस्सा होता है। दलितों की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जरूरतें इस पूंजी की गतिशीलता में कहीं

फिट नहीं बैठतीं। दरअसल, दलितों के विपरीत सवर्णों और पूँजीवाद का गठजोड़ बड़े आराम से हो जाता है। भारतीय पूँजीवाद शुरू से ही भारतीय समाज के सामंती तत्वों से जुड़ा रहा है।''[2] भारत का ब्राह्मणवादी समाज यथास्थितिवादी रहा है। जाति के आधार पर यहाँ पेशे का निर्धारण होता रहा है और यदि कोई दलित-पिछड़ी जाति का व्यक्ति पढ़-लिख कर उस पेशे को छोड़ कर सम्मानित पेशा अपनाना चाहे तो उस के लिए व्यवस्था में बैठे लोग और भी क्रूर हो जाते हैं। मोहन दास दलित नहीं है बल्कि अति पिछड़ी जाति का है। मोहनदास का परिचय कहानी में इस तरह दिया गया है–''मोहनदास बल्द काबा दास जाति विश्वकर्मा, साकिन पुरबनरा, थाना और जिला अनूपपुर, मध्य प्रदेश।''[3] अन्यत्र कहानीकार ने मोहन दास की जाति को ले कर यह लिखा है, ''गाँव में वैसे भी कबीरपंथी बंसहर-पलिहा नीची जात के माने जाते थे। वे अनुसूचित जाति के हैं या आदिवासी या आदिम जनजाति, अभी तक सरकारी गजेट में यह स्पष्ट नहीं था। दस साल पहले हुई जनगणना में उनकी जाति के आगे सिर्फ 'बंसोर' या 'पलिहा' लिखा हुआ था। दूसरे कागजात में धर्म 'हिन्दू' और राष्ट्रीयता 'भारतीय'।''[4] इससे यह सिद्ध होता है कि मोहन दास वंचित वर्ग का व्यक्ति है। वहीं दूसरी तरफ बिछिया टोला का विश्वनाथ या बिसनाथ ब्राह्मण जाति का है जिस ने भ्रष्ट व्यवस्था का लाभ उठा कर मोहन दास की नौकरी हड़प ली है। ''बिसनाथ ऊँची जाति का है, जबकि मोहन दास नीची जात का कबीरपंथी है। उस की बिरादरी के बहुत से लोग आज भी सूपा-चटाई, दरी-कंबल बुनते हैं। मोहन दास हमारे गाँव ही नहीं, आस-पास के कई गाँवों में अपनी बिरादरी का पहला लड़का था, जिस ने बी.ए. पास किया और वह भी फ़र्स्ट डिवीज़न और मेरिट में दूसरे नंबर के साथ।''[5] लेकिन योग्य होते हुए भी मोहन दास को उस की नौकरी नहीं मिलती। बिसनाथ अपने पिता की साख-रसूख के बल पर मोहन दास की नौकरी हथिया लेता है। मोहन दास न्याय के लिए दर-दर ठोकरें खाता है किन्तु उसे न्याय नहीं मिलता। अंततः मोहन दास की ऐसी दशा हो जाती है कि वह अपनी अस्मिता को ही नकारने लगता है। कहानी में उत्पीड़ित मोहन दास कहता है, ''काका, मुझे किसी तरह बचा लीजिए ! मैं आप के हाथ जोड़ता हूँ ! बाल-बच्चे हैं मेरे ! उधर बाप मर रहा है टी.बी. से !...आप कहें तो मैं आप के साथ चल कर अदालत में हलफनामा देने को तैयार हूँ कि मैं मोहन दास नहीं हूँ। मैं इस नाम के किसी व्यक्ति को नहीं जानता ! कोई और होगा मोहन दास! मुझे किसी तरह बचा लीजिए !''[6] वर्ण-जाति व्यवस्था आधारित भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा शिक्षा से वंचित रहा। शिक्षा से वंचित रहा तो सम्मानित रोजगार के अवसरों से भी वंचित रहा और जब पढ़-लिख कर रोजगार के योग्य हुआ तो रोजगार के लिए प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ चुकी थी कि उस के अवसरों पर व्यवस्था में बैठे लोग अपने सजातीय, संबंधियों को तरजीह देने लगे। वास्तव में भारत की सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में स्वतन्त्रता के पश्चात से ही सवर्ण जातियों का आधिपत्य रहा है। संवैधानिक उपचारों और आरक्षण के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र में भले ही वंचित समाज के कुछ लोग व्यवस्था में पहुँच गए हैं किन्तु निजी क्षेत्र में भारत के वृहत्तर समाज की भागीदारी अत्यंत कम है। भारत की सवर्ण चेतना प्राचीन यथास्थितिवाद को किसी न किसी रूप में आज भी अपनाए हुए है जो किसी गैर सवर्ण जाति को सार्वजनिक या निजी क्षेत्र के उच्च पद पर सहज हो कर नहीं स्वीकार कर पाती है। दूसरी तरफ यह सवर्ण चेतना सवर्ण समाज को परिश्रमी कार्य करने से रोकती है। यही कारण है कि सवर्ण चेतना स्वयं को श्रेष्ठ कार्यों के योग्य समझती है। इस संदर्भ में मुद्राराक्षस लिखते हैं, ''भारत में कहीं भी कोई सवर्ण बीड़ी नहीं बनाता, कोई सवर्ण बच्चा कालीन नहीं बुनता, कोई सवर्ण स्लेट बत्ती, माचिस, आतिशबाज़ी नहीं बनाता, कोई सवर्ण लौह अयस्क की खुदाई नहीं करता। सीमेंट के कारखाने में सवर्ण सिर्फ लिखाई-पढ़ाई करता है। धमन भट्ठियों पर कोई सवर्ण काम नहीं करता। सवर्ण खेत मजदूर भी नहीं होता। मजदूर के नाम पर वह बैंकों, सरकारी संस्थानों या निजी औद्योगिक संस्थानों के सुरक्षित और सम्मानजनक काम करता है। रेलवे में सवर्ण टिकिट खिड़की पर बैठ सकता है, इंजन ड्राइवर या गार्ड हो सकता है पर वह कभी भी सफाई कर्मचारी नहीं होता। पटरी बिछाने वाले गैंग में भी शामिल नहीं होता। सड़क निर्माण में कोई भी सवर्ण कभी मजदूरी नहीं करता। वह कभी और कहीं भी ईंट भट्ठों में मज़दूरी नहीं करता।''[7] भारत की यथास्थितिवादी सवर्ण चेतना परिश्रम के कार्यों को हेय समझ कर केवल गैर सवर्ण जातियों के व्यक्तियों को ही उस के योग्य समझती रही है। मोहन दास कहानी में भारतीय सवर्ण चेतना के ऐसे चित्र सामने आए हैं। ''उस दिन मोहन दास अपमान की कड़वी घूँट पी कर रह गया, जिस दिन पंडित छत्रधारी तिवारी के बेटे विजय तिवारी, ने जो उसी के साथ कॉलेज में पढ़ता था लेकिन अपने ससुर की तिकड़म और सिफ़ारिश पर पुलिस में सब इंस्पेक्टर हो गया था, उसको आवाज़ देकर बुलाया और कहा–मोहना, परसों ही हमने सरकारी योजना में दस भैंसें खरीदी हैं। डेयरी खोल रहे हैं। अगर

ठीक समझो तो भैंसों के सानी-भूसा और, रख-रखाव का काम कस्तूरी भौजी के साथ मिल कर संभाल लो।''[8] यहाँ व्यंग्यात्मक रूप से भारतीय समाज की ब्राह्मणवादी सवर्ण चेतना को कहानी स्पष्ट करती है। जाति-व्यवस्था भारत की प्राचीन सामाजिक प्रणाली थी। आधुनिक समाज में अक्सर यह कहा जाता है कि जाति के बंधन शिथिल हो गए हैं। किन्तु यथार्थ कुछ और ही है।

मोहन दास भूमंडलीकरण के बाद के सामाजिक यथार्थ पर रची गयी कहानी है जिस को लेखक ने कहानी के बीच-बीच में ब्यौरों के माध्यम से स्पष्ट भी किया है। ''यहीं ठहरिए एक मिनट। आप को लग रहा होगा मैं हिन्दी के कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की सवा सौंवी जयंती के अवसर पर समकालीन कहानी के बहाने आप को कोई सवा साल पुराना किस्सा सुना रहा हूँ। लेकिन सच सच तो यह यह है कि ऐसी पुरानी और पिछड़ी हुई शैली, शिल्प और भाषा में जो ब्यौरा आप के सामने प्रस्तुत है वह उसी समय का है जब 9-11 सितंबर हो चुका है और न्यूयार्क की दो गगनचुम्बी व्यापारिक इमारतों के गिरने की प्रतिक्रिया में एशिया के दो सार्वभौमिक, संप्रभुता-संपन्न राष्ट्रों को धूल और मलबे में बदला जा चुका है।''[9] अमेरिका पर हमला 2001 में हुआ था। लेखक बताना चाहता है कि मोहन दास कहानी पुरानी नहीं अपितु इक्कीसवीं सदी की कहानी है। यह वह समय था जब भारत में भूमंडलीकरण का एक दशक बीत चुका होता है।

मोहन दास जब न्याय के लिए ओरिएंटल कोल माइंस के जनरल मैनेजर एस.के. सिंह से मिलता है तो वे मामले की जाँच का आदेश देते हैं। इंक्वायरी ऑफिसर ए. के. श्रीवास्तव को बनाया जाता है जो कोलियरी के वेलफ़ेयर ऑफिसर भी होते हैं। लेकिन मोहन दास के नाम पर नकली मोहन दास बनकर नौकरी कर रहा विश्वनाथ तिवारी इंक्वायरी ऑफिसर को खिला-पिला कर अपने पक्ष में कर लेता है। जैसा कि कहानीकार लिखता है, ''बिसनाथ ने गज़ब की व्यवस्था कर रखी थी। अपने फ्लैट में उस ने श्रीवास्तव जी का जम कर सत्कार किया। अपनी पत्नी अमिता को उस ने लो कट ब्लाउज और नीची साड़ी में, शर्बत का ट्रे ले कर ड्राइंगरूम में आने का निर्देश दे रखा था। लेनिन नगर मार्केट में हाल में ही खुले शिल्पा ब्यूटी पार्लर में जा कर अमिता ने अपना फेशियल कराया था। उसने शर्बत की ट्रे मेज पर मुस्कराकर जब श्रीवास्तव जी से नमस्ते की और कहा—सरिता दीदी को साथ में नहीं लाये ? तो अचानक वहाँ का वातावरण ऐंद्रिक हो गया। इंक्वायरी ऑफिसर की नज़र बार-बार अमिता की खुली नाभि पर अटक जाती थी।''[10] बिसनाथ तिवारी अपने समृद्ध रहन-सहन और चापलूसी से इंक्वायरी ऑफिसर ए. के. श्रीवास्तव को अपने पक्ष में कर लेता है। इस के लिए वह अपनी पत्नी को लोलुप श्रीवास्तव के समक्ष जान-बूझकर सत्कार के लिए प्रस्तुत करता है। कहानीकार लिखता है, ''बिसनाथ और अमिता उर्फ मोहन दास और कस्तूरी के आग्रह पर श्रीवास्तव जी ने दोपहर वहीं विश्राम किया, शाम को शुरू में बियर और बाद में व्हिस्की भी वहीं पी, सामिष आहार में देशी मुर्गे का लुत्फ़ लिया और जब वे रात ग्यारह बजे अपनी नयी मारुति जेन में वहाँ से विदा हो रहे थे, तब बार-बार अमिता को कस्तूरी जी संबोधित करते हुए अपने घर आने और अपनी वाइफ सरिता को समाज सेवा में इन्वाल्व करने का लगातार आग्रह कर रहे थे।''[11] इस भ्रष्ट यथार्थ में एक तरह से भारतीय समाज की मध्यवर्गीय समानता भी देखी जा सकती है। सवर्ण जातियों में वार्णिक साम्य है, साथ ही मध्यवर्गीय समाज में उन के रहन-सहन, प्रकृति और उन की चेतना में भी साम्य है। संभवतः तभी इंक्वायरी ऑफिसर मोहन दास से न मिल कर जाँच के लिए सीधे बिसनाथ तिवारी के घर पहुँचता है। अतः इंक्वायरी ऑफिसर श्रीवास्तव जी अपनी जाँच में फ़र्ज़ी मोहन दास बनकर नौकरी कर रहे विश्वनाथ तिवारी को क्लीन चिट दे देते हैं। मोहन दास की नौकरी हड़पने वाला विश्वनाथ तिवारी जिस कॉलोनी में रहता है उस का नाम लेनिन नगर कॉलोनी है। यह संभवतः मार्क्सवादी रचनाकार का एक व्यंग्य भारतीय वामपंथ पर है। लेखक कहना चाहता कि इस दौर में सिद्धान्त मृत हैं और लेनिन नगर में बिसनाथ तिवारी जैसे फ्रॉड व्यक्ति रहने लगे हैं। लेनिन रूसी समाजवाद के प्रतीक-पुरुष हैं।

लेखक ने कहानी के बीच-बीच में भूमंडलीकरण के बाद की परिस्थितियों को ब्यौरों के माध्यम से स्पष्ट किया है। भूमंडलीकृत विश्व का एकरूपता की ओर बढ़ना और राष्ट्र-राज्य की शक्ति के क्षय को ले कर एक ब्यौरा इस प्रकार है—''यह किस्सा उसी समय का है जब संसार के हर देश की हर सरकार की अर्थनीति और राजनीति एक जैसी थी, जब अमीरों और गरीबों के बीच की खाई इतनी गहरी और चौड़ी हो चुकी थी कि उसे कोई भी प्रायोजित विज्ञापन छिपा नहीं पाता था...वही समय, जब बीसवीं सदी की शुरुआत में उत्पीड़ित और शोषित मनुष्यता के पक्ष में क्रांति करने वाली शक्तियाँ, साझा सरकार बनाने, पेट्रोल की कीमत कम करने और गरीबों पर राज करने का शतरंज खेल रही थीं...''[12] उपरोक्त ब्यौरे में राजनीति का सिद्धांतविहीन हो जाना और राष्ट्र-राज्य की शक्ति का क्षीण

हो जाना भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के फल के रूप में स्पष्ट होता है। राष्ट्र-राज्य की इस क्षीणता को रजनी कोठारी ने भी भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का फल माना है। वे लिखते हैं, ''राष्ट्र-राज्य का यह मॉडल आज तितर-बितर पड़ा हुआ है। एक तरफ तो हालत यह है कि राज्य को राष्ट्र के केंद्रीय तंत्र की हैसियत से वंचित कर दिया गया है और दूसरी तरफ अभी तक बने राष्ट्र ने बिखराव, एकाधिक ध्रुवीकरणों और संभावित विखंडन की तरफ जाने की शुरुआत कर दी है। राज्य की हैसियत में कटौती और राष्ट्र के प्रभामंडल में क्षय एक साथ घटित हुआ है। राज्य के अधिकार भूमंडलीय व्यवस्था और बाजार द्वारा हड़प लिए गए हैं, जबकि राष्ट्र को हाशिए पर पड़ी हुई बहुत-सी अस्मिताओं के साथ-साथ विभिन्न क्षेत्रों और राष्ट्रीयताओं की तरफ से चुनौती मिल रही है।''[13]

भूमंडलीकरण से उपजी एकरूपता का भी लेखक ने ब्यौरों में ज़िक्र किया है–''ऐसा समय, जिस में अगर हम गौर से देखें तो जो भी सत्ता में है, उस में से हर कोई एक-दूसरे का क्लोन है। हर कोई एक जैसी ब्रांड का उपभोक्ता है। वह एक जैसी चीज़ें पी रहा है, एक जैसी चीज़ें खा रहा है। एक जैसी कंपनियों की कारों में घूम रहा है। हर किसी के एकाउंट एक जैसे बैंकों में हैं। सभी की जेबों में एक जैसे एटीएम या क्रेडिट कार्ड और हाथों में एक जैसे मोबाइल हैं। एक जैसी ब्रांड की शराब के नशे में अखबारों के पेज एक से ले कर पेज थ्री तक या टीवी के एक से लेकर सत्तर चैनल तक वे एक जैसे धुत्त, बेशर्म और नंगे हैं। गौर से देखिए उन की त्वचा का रंग और उन की भाषा एक जैसी है।''[14] भूमंडलीकरण अपनी आर्थिक शक्तियों और प्रभावों के साथ विविधताओं के लिए ख़तरा है। यह तीव्रता से विविध संस्कृतियों और क्षेत्रीय अस्मिताओं के लिए संकट है। वास्तव में यह मुनाफ़ा, उपभोग, उत्पादन का ही एकमात्र पूँजीवादी अभियान है।

कहानी में अंत तक मोहन दास को न्याय नहीं मिल पाता बल्कि उस को पीटा, डराया और धमकाया जाता है। यद्यपि न्यायिक दंडाधिकारी गजानन माधव मुक्तिबोध ने मोहन दास की पूरी सहायता करने की कोशिश की। न्यायिक दंडाधिकारी गजानन माधव मुक्तिबोध मोहन दास के केस को देख कर समझ जाते हैं कि यह न केवल किसी का अधिकार छीनने की आपराधिक कोशिश है वरन उस की अस्मिता पर भी हमला है। वे कहते हैं–''...और वह दूसरा आदमी फ्रॉड है। वह सरासर 'इम्पर्सोनेट कर रहा है। मुझे पता है, वह बिसनाथ वल्द नगेन्द्रनाथ, जूनियर डिपो ऑफिसर ही है जो ए बटा ग्यारह, लेनिन नगर में अवैध ढंग से मोहनदास की आइडेंटिटी चुरा कर रह रहा है। ही इज़ अ चीट, अ क्रिमिनल ! अ स्काउंड्रल !''[15] इतना ही न वे आगे कहते हैं, "दि हॉल सिस्टम हैज़ टोटली कोलैप्स्ड...! जस्ट लाइक ट्विन टॉवर्स इन न्यूयार्क...नाइन एलेवन !...नाउ व्हाट इज़ लेफ्ट फॉर दि सब्जेक्ट एंड पुअर इज़...अनार्की एंड कैटेस्ट्रॉफ़ी !!''[16] इस त्रासदीपूर्ण स्थिति में जिस में पूरा सिस्टम या व्यवस्था अमेरिका के ट्विन टॉवर्स की तरह ढह चुकी है, एक ऐसी व्यवस्था जो प्रत्येक कमजोर, गरीब व्यक्ति के खिलाफ है इस में कहीं न कहीं भूमंडलीकरण के बाद उपजी स्थितियाँ हैं और मोहन दास की परिस्थितियों की कारक हैं। इसीलिए कई राजनीतिक विचारकों ने भी भूमंडलीकरण को हाशिए की जनता के लिए नकारात्मक माना है। राजनीतिक विचारक रजनी कोठारी का कहना है, ''भूमंडलीकरण दलित जातियों के खिलाफ़ न केवल वर्णाश्रम के दायरे में ब्राह्मणवादी ताक़तों का समर्थन करता है वरन दरिद्रीकरण, अलगाव और अन्याय के संदर्भों में भी उन्हें कोने में धकेलता जाता है।''[17]

न्यायिक दंडाधिकारी गजानन माधव मुक्तिबोध ने आपातकालीन सुरक्षित न्यायिक अधिकार का इस्तेमाल करते हुए मोहन दास के केस की गोपनीय जाँच की जिस से नकली मोहनदास बिसनाथ तिवारी को जेल भी जाना पड़ा। कुछ समय के लिए मोहन दास प्रसन्न होता है कि उसे न्याय मिल जाएगा। कहानीकार इस पर ब्यौरे में लिखता है, ''इस पूरी कहानी के उदास, हताश धूसर रंग के बीच में चटखीले प्रसन्न रंगों का यह छींटा आप को किसी क्षेपक की तरह लग रहा होगा। है न ? आप का सोचना बिलकुल सही है। गरीबों और अन्याय के शिकार लोगों के जीवन के खुरदरे यथार्थ में ऐसे सुंदर रंग कभी-कभार बस ऐसे ही कुछ पल के लिए आते हैं, सत्ता और पूँजी से जुड़ी ताक़तें अचानक किसी बाज की तरह झपट्टा मार कर अलोपी मैना के घोंसलों को उजाड़ देती है और बाहर दिखाई देते हैं चिड़ियों के नन्हें-नन्हें छौनों के पंख और खून के कुछ धब्बे।''[18] होता भी ऐसा ही है बिसनाथ अपने पिता के राजनीतिक संबंधों धन-बल आदि से पुनः जेल से बाहर आ जाता है। निष्पक्षता और ईमानदारी से मोहन दास के मामले की जाँच करने वाले और उसे न्याय दिलाने का प्रयत्न करने वाले न्यायिक दंडाधिकारी गजानन माधव मुक्तिबोध की ब्रेन हैम्ब्रेज से मृत्यु हो जाती है। मोहन दास को बिसनाथ तिवारी पुलिस वालों से मिल कर पिटवाता है और उस के हाथ-पाँव तुड़वा कर उसे लाचार और उन्मादग्रस्त स्थिति में पहुँचा देता है। इतना ही नहीं बिसनाथ तिवारी आपराधिक कृत्य करने लगता है और आरोप असली

मोहनदास के सर पर आता है। अंततः मोहन दास कहने लगता है–''जिसे बनना हो बन जाए मोहन दास। मैं नहीं हूँ मोहन दास। मैंने कभी कहीं से बी.ए. नहीं किया। मैं कभी किसी नौकरी के लायक नहीं रहा। बस मुझे चैन से ज़िंदा रहने दिया जाय। अब हिंसा मत करो। जो भी लूटना हो लूटो। अपने अपने घर भरो। लेकिन हमें तो अपनी मेहनत पर जीने दो !''[19] यहीं कहानी का निराशाजनक अंत होता है।

कहानी का निराशाजनक अंत यह प्रमाणित करता है कि मोहन दास एक उत्तर-आधुनिक संश्लिष्ट यथार्थ की रचना है जो हमारे समक्ष किसी तरह की आशा या आदर्श उत्पन्न नहीं करती केवल एक निराशा पैदा करती है। कहीं न कहीं यह उत्तर-आधुनिक यथार्थ को प्रकट करने वाली रचना है। निराशा पैदा करने के बावजूद, यह रचना हाशिए की अस्मिता के वृत्तांत की धारक है। हाशिए की अस्मिताओं और उत्तर-आधुनिक विमर्श पर सुधीश पचौरी लिखते हैं– ''अल्पसंख्यकों, स्त्रियों और पिछड़ों, दलितों की अस्मिताएँ अब तक दबी रही हैं, पिछली दो-तीन सदियों में अधिक मजबूत हुई ब्राह्मणवादी व्यवस्था और पश्चिमी आधुनिकतावादी विमर्श की गहरी मित्रता के चलते ऐसा हुआ है। उपनिवेशवादी विमर्श और ब्राह्मणवादी विमर्श उस आधुनिकतावादी विमर्श के खाद-पानी ही बने जो योरोप में चला और अन्यों को हाशिए पर डालता रहा, दबाता रहा। सूचना, भूमंडलीकरण और पूँजी के तेज़ प्रसार ने अचानक इन अन्यों को यत्र-तत्र जाग्रत किया है। यह खुद एक उत्तर-आधुनिक स्थिति की सूचना है।''[20] मोहन दास कहानी अपने भीतर हाशिए की अस्मिताओं का विमर्श धारण किए हुए है। ब्राह्मणवाद और पूँजी की सत्ता के गठजोड़ को भी यह कहानी अभिव्यक्त करती है। कहानी में ब्राह्मणवाद का जो विरोध हुआ है वो अंबेडकरवादी विचारधारा से जुड़ा हुआ है। अंबेडकर ने ब्राह्मणवाद के संदर्भ में कहा है, ''ब्राह्मणों की मूलभूत चिंता गैर-ब्राह्मणों से निहित हितों की रक्षा करना है।''[21] कहानी की शुरुआत ही उदय प्रकाश ज्योतिबा फूले को कोट करते हुए लिखते हैं। निष्कर्षतः यह कहना उचित होगा कि मोहन दास कहानी भूमंडलीकृत भारत के यथार्थ का जीवंत चित्रण करती है तथा हाशिए के समाज के साथ हो रहे अन्याय और उस की संकटग्रस्त अस्मिता को पाठक के सम्मुख रखते हुए विचारणीय प्रश्न खड़े करती है।

संदर्भ-सूची

1. प्रकाश उदय, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, 2009 संस्करण, पृ. 11-12
2. नागराज, डी. आर., दलितों और पिछड़ों के लिए नुकसानदेह है विदेशी पूँजी, परिवेश, सत्ता-संस्कृति और भूमंडलीकरण, अंक-96, अप्रैल-दिसंबर, संपादक, मूलचंद गौतम, पृ. 34-35
3. प्रकाश उदय, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, 2009 संस्करण, पृ. 66
4. वही, पृ. 45
5. वही, पृ. 11
6. वही, पृ. 8
7. मुद्राराक्षस, सवर्ण साहित्य और दलित प्रश्न, आलोचना और रचना की उलझनें, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2011 संस्करण, पृ. 151
8. प्रकाश उदय, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, 2009 संस्करण, पृ. 22
9. वही, पृ. 29
10. वही, पृ. 49
11. वही, पृ. 51, 52
12. वही, पृ. 43
13. कोठारी, रजनी, जनता से डरते अभिजन और कमजोर होता राष्ट्र-राज्य, भारत का भूमंडलीकरण, (सं.) अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, 2003 संस्करण, पृ. 75
14. प्रकाश उदय, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, 2009 संस्करण, पृ. 29
15. वही, पृ. 76
16. वही
17. कोठारी रजनी, जाति के भूमंडलीय पहलू, आधुनिकता के आईने में दलित, (सं.) अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, 2014 संस्करण, पृ. 394
18. प्रकाश उदय, मोहन दास, वाणी प्रकाशन, 2009 संस्करण, पृ. 82
19. वही, पृ. 85-86
20. पचौरी, सुधीश, उत्तर-आधुनिक साहित्य विमर्श, वाणी प्रकाशन, 2010 संस्करण, पृ. 20
21. डॉ. अंबेडकर, जातिभेद का उच्छेद, गौतम बुक सेंटर, 2010 संस्करण, पृ. 43

डॉ. संतोष कुमार यादव
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, बुलंदशहर
उत्तर प्रदेश

नाटकीय अंतर्वस्तु एवं स्त्री स्वत्व की अवस्थिति : महिला निर्देशित नाट्य प्रस्तुतियों के संदर्भ में

—डा. अपर्णा वेणु

किसी भी नाट्य प्रस्तुति के माध्यम से रंगकर्मी (नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, तकनीकी कार्यवाहक आदि) सामूहिक रूप से दर्शकों के सम्मुख जो अभिव्यक्त करना चाहते हैं, उसी को उस नाट्य प्रस्तुति की अंतर्वस्तु या विषयवस्तु कहा जा सकता है। कोई भी नाट्य प्रस्तुति तभी सफल होती है, जब उसकी अंतर्वस्तु प्राणवान हो। अर्थात् दर्शक के मन को आंदोलित एवं प्रभावित करने वाली अंतर्वस्तु रंगमंचीय प्रस्तुति का अनिवार्य तत्व है। सत्ता की भाषा और संस्कृति चूंकि पुरुष-प्रधान रही है इसलिए सदियों से पुरुष के अनुभवों को ही रंगमंच में भी प्रधानता दी गयी थी। स्त्री-स्वत्व को उस की गहराई के साथ उद्घाटित करने वाली अंतर्वस्तु रंगमंच पर बहुत कम ही देखने को मिलती थी। जहाँ तक भारतीय रंगमंच की बात है, इस अवस्था में परिवर्तन के लक्षण सन् 1980 के पश्चात ही दृष्टिगत होने लगे थे। सन् 1980 के आसपास का समय भारतीय समाज के लिए उत्तराधुनिक स्त्रीवादी विचारों तथा आन्दोलनों के प्रभाव का समय रहा है। स्त्रीपक्षीय विचारों से प्रभावित महिला रंगकर्मियों ने अपने नाट्य प्रदर्शनों को रूपायित करते समय ऐसी अन्तर्वस्तुओं को चुनने की कोशिश की है जो स्त्री जीवन से जुड़ी हुई है। प्रमुख रंग आलोचक नंदी भाटिया ने महिला निर्देशकों की नाट्य प्रदर्शनों के संबंध में अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''इन्होंने जेंडर के जिन प्रश्नों को मंच पर लाया उन्हें आधुनिक प्रदर्शनों में अब तक संबोधित ही नहीं किया गया था। इस प्रकार के काम से दो बातें सामने आयी इस ने अपने विषय पर इस तरह से विचार किया जैसे कि इन अनुभवों का अधिकाँश हिस्सा अब तक अदृश्य रहा हो और तब इन अनुभव को ऐसे प्रस्तुत किया गया जिस ने प्रचलित प्रदर्शन आख्यान को विस्थापित कर दिया''।[1] स्त्रीपक्षीय दृष्टि को साथ ले कर चलने वाली महिला नाट्य-निर्देशकों ने रंगमंच पर परिव्याप्त पुरुष दृष्टि के वर्चस्व को चुनौती देते हुए महिलाओं के अनुभूति-स्तर को संवेदित करने वाली ऐसी अन्तर्वस्तुओं से युक्त नाट्य प्रस्तुतियों को रूपायित किया जिन में शारीरिक शोषण और वस्तुकरण, स्त्रीत्वपरक अनुभवों के विशेष स्तर, दलित एवं आदिवासी स्त्रियों की अवस्था, विधवा जीवन की त्रासदी, निम्न वर्ग की स्त्रियों के जीवन संघर्ष, मध्यवर्गीय महिलाओं के अंतर्द्वंद्व, मज़दूर महिलाओं की

समस्याएं, पारिवारिक रूढ़ियों एवं नैतिक मूल्यों के बंधन में तड़पने वाली स्त्रियों की दुर्दशा, अभिनेत्रियों तथा वेश्याओं की सामाजिक स्थिति, पितृसत्ता के प्रति विद्रोह, प्रतिरोधी चेतना इत्यादि स्त्री जीवन संबंधी अन्यान्य पहलू समाविष्ट हैं।

स्त्री के प्रति होने वाले दैहिक हिंसा, अन्याय, मानवाधिकार हनन, बलात्कार आदि मुद्दों पर विशेष रूप से बल देने वाली नाट्य प्रस्तुतियाँ हैं उषा गांगुली द्वारा निर्देशित 'हम मुक्खतारा', कीर्ति जैन द्वारा निर्देशित 'और कितने टुकड़े', रसिका अगाशो द्वारा निर्देशित 'म्यूज़ियम ऑफ़ स्पीशिस इन डेंजर'। वर्ष 2002 में पाकिस्तान के मीरवाला नामक दरिद्र गाँव में मुख्तार नाम की एक महिला का स्थानीय कबीले के आदेशों पर, उसके भाई की कथित रूप से की गई अविवेकपूर्ण हरकत की सज़ा के बदले में बलात्कार किया गया था। वहाँ के रस्मोरिवाज़ के अनुसार बलात्कार होने और 'कलंक' लगने के बाद उसे आत्महत्या कर लेनी चाहिए थी। लेकिन मुख्तार ने इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई, जिस को मीडिया ने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तवज्जो दी। मुख्तार के जीवन की वास्तविक कहानी पर आधारित यह नाटक एक ओर महिला उत्पीड़न की भयावह स्थिति का खुला चित्रण है तो दूसरी ओर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ स्त्रियों के प्रतिरोध का सशक्त प्रतिनिधान। स्त्रियों पर होने वाले दैहिक अत्याचार के एक और आयाम को प्रस्तुत करने वाला नाटक है कीर्ति जैन द्वारा निर्देशित 'और कितने टुकड़े'। इस नाट्य प्रस्तुति में चार महिला पात्रों के आत्मकथात्मक आख्यानों के माध्यम से विभाजन के हिंसात्मक स्वरूप को दर्शाया गया है। इस नाट्य प्रस्तुति की अंतर्वस्तु उर्वशी भूटालिया की पुस्तक 'द अदर साइड ऑफ साइलेंस' से प्रभावित है। विभाजन की भयावहता को प्रस्तुत करने के साथ साथ यह नाटक उस दौरान महिलाओं के शरीर पर हुए लैंगिक हिंसा के मुद्दों को भी अभिव्यक्त करता है। नाटक उन चार महिलाओं (ज़ैदिया, विमला, शहीदा और हरनाम कौर) के अनुभव पर ध्यान केंद्रित करता है, जो 'सम्मान' की पितृसत्तात्मक अवधारणा के तहत सामूहिक बलात्कार, विकृति और जबरन निर्वासन से बची हुई हैं। महिलाओं के खिलाफ बढ़ती यौन-हिंसा को ऐतिहासिक और वैचारिक धरातल पर विश्लेषित करने वाली नाट्य प्रस्तुति है 'म्यूज़ियम ऑफ़ स्पीशिस इन डेंजर'। कुछ पौराणिक कथाओं, समसामयिक दुनिया और साहित्यिक रचनाओं में से संकलित नारी एकल संवादों के माध्यम से इस नाटक की प्रस्तुति हुई है। इस नाटक में सीता, द्रौपदी, शूर्पनखा, चित्रांगदा जैसे पौराणिक चरित्रों के माध्यम से महिलाओं की हालत की ओर ध्यान खींचने की कोशिश की गयी है। सीता को देवी होने के बाद भी अग्नि परीक्षा देनी पडी थी और इसे सही भी माना जाता है लेकिन 'अग्नि-परीक्षा' जैसी चीज़ें ही रेप को बढ़ावा देती हैं। इस प्रकार के एक विचार को आत्मसात करने वाली यह नाट्य-प्रस्तुति सीता के अलावा द्रौपदी, शूर्पणखा, चित्रांगदा जैसी पात्रों के साथ हुए अन्यायों को भी वर्तमान स्थिति के साथ जोड़कर देखती है। मिथकीय कथा-संदर्भ तथा उनमें उपस्थित स्त्री चरित्रों के माध्यम से वर्तमान स्त्रियों की समस्याओं एवं उनकी हालत की ओर ध्यान खींचने वाली एक और नाट्य प्रस्तुति है 'अग्निपथ'। इसका निर्देशन कन्नड़ की वरिष्ठ रंगकर्मी बी जयश्री ने किया है। पौराणिक काल से लेकर आज तक भारतीय समाज में कैसे स्त्रियों को हमेशा हाशिए पर खडा किया गया, कैसे उनका लगातार उत्पीड़न होता रहा, कैसे कभी पत्नी के नाम पर, कभी प्रेमिका के नाम पर, तो कभी बेटी के नाम पर उसका निरंतर शोषण किया गया इस को व्यक्त रूप से प्रस्तावित करने वाली नाट्य-प्रस्तुति है अग्निपथ। इस नाटक में महाभारत के स्त्री पात्र अंबा, गांधारी, कुंती, माद्री और द्रौपदी अपनी दुरावस्था को प्रश्नांकित करती हैं तथा और पितृसत्तात्मक व्यवस्था से सवाल भी करती हैं। पुनर्व्याख्यायित अंतर्वस्तु से सम्पन्न और एक नाट्य प्रस्तुति है माया कृष्ण राऊ द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत अंग्रेजी एकल प्रदर्शन 'लेडी मैकबेथ रीविसीटेड'। यहाँ माया कृष्ण राऊ विलियम शेक्सपियर के विख्यात नाटक मैकबेथ के नाट्य पाठ से लेडी मैकबेथ वाली पात्र को निकालकर उसके स्वतंत्र व वैयक्तिक अस्तित्व की खोज करती हैं। मैकबेथ से शादी करने के पहले लेडी मैकबेथ कौन थी, उसका व्यक्तित्व कैसा था तथा मैकबेथ के रहस्यमय राजसी कुचक्र में प्रवेश करने के बाद क्या उस ने अपना सहज स्वत्व खो दिया और क्या इसीलिए वह हत्या व आत्मविनाश के पथ पर चल पड़ी। इस प्रकार के अन्वेषणों से गुजरने वाला इस नाटक में शेक्सपियर के मूल नाटक मैकबेथ को एक अलग दृष्टि से देखने का प्रयास भी किया गया है।

उषा गांगुली की सब से बहुचर्चित प्रस्तुति है रुदाली जो महाश्वेतादेवी के उपन्यास का स्वतंत्र नाट्य रूपांतरण है।

इसमें उत्तर औपनिवेशिक भारत में दलित स्त्रियों की अवस्था तथा उन के द्वारा झेले जाने वाले जीवन-संघर्षों एवं अनुभवों का स्त्रीवादी दृष्टि से अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इसलिए उषा जी की रुदाली महाश्वेता देवी के उपन्यास रुदाली से थोड़ा अलग है। अमरीका की प्रमुख नाट्य

आलोचक एवं रंगकर्मी एरिन बी मी का मत यहाँ उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ड्रामा कंटेम्पोररी इंडिया' में महाश्वेता देवी के उपन्यास की तुलना में उषा गांगुली के नाटक का विश्लेषण करते हुए कहा है कि 'गांगुली का नाटक वर्ग से लिंग पर ज्यादा जोर देता है'।[2] नाटक की केन्द्रीय पात्र सनीचरी एक दलित स्त्री है। जातीय शोषण के अलावा सनीचरी को अपने स्त्रीत्व के ऊपर निरंतर अपमान भी सहना पड़ता है। सनीचरी की कथा के माध्यम से उषा जी ने एक दलित स्त्री के अतिजीवन के संघर्षों तथा असंख्य अन्य स्त्रियों के अनुभवों का भी चित्रण किया है, जो उच्च वर्ग के शोषण की निरंतर शिकार बनी रहती है। इस नाटक में उषा जी ने दलित स्त्रियों के दो रूपों का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत किया है। पहला संघर्ष करने वाली दलित स्त्री और दूसरा विनम्र एवं असंतुष्ट दलित स्त्री। नाटक की मुख्य पात्र सनीचरी और बिखनी दोनों अपने अतिजीवन के लिए संघर्ष करने वाली हैं। अन्य पात्र प्रतिभा और उसकी सहेलियाँ अपने विनम्र स्वभाव के कारण पुरुष वर्चस्व का निरंतर शोषण सहते हुए पूरा जीवन बर्बाद कर देने वाली हैं। केंद्र पात्र सनीचरी स्वयं की जिम्मेदारी दूसरों के कंधे पर रखे बिना खुद संभालने वाली आत्मनिर्भर स्त्री है। अपने पति और बेटे की मृत्यु के बाद वह अपनी आजीविका चलाने के लिए रुदाली का काम अपनाती है। बिखनी भी उसका साथ देती है, जो सनीचरी की आत्म मित्र है। पूरे नाटक के ज़रिए उषा जी दो बातों को दर्शकों के सम्मुख स्पष्ट करती है। पहली, स्त्री की सुरक्षा पुरुष के हाथों में नहीं है और दूसरी, स्त्री चाहे इस सामाजिक व्यवस्था में गरीब हो या अमीर हमेशा यौन संबंध के लिए उपयुक्त केवल वस्तु होती है। दलित स्त्रियाँ तिहरे शोषण का शिकार होती है। जातीय, लिंगपरक एवं आर्थिक शोषण के तिहरे स्वरूप को झेलने वाली दलित स्त्रियों के जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने वाले इस नाटक में सनीचरी का सशक्त चरित्र स्त्रियों को आत्मनिर्भर बन जाने का सन्देश देता है। दलित स्त्री जीवन पर केंद्रित और एक नाट्य प्रस्तुति है सुषमा देशपांडे द्वारा निर्देशित मराठी एकल नाटक 'व्याह मि सावित्री बाई'। बालिका शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी कार्य करने वाली कवि, शिक्षक और समाज सुधारक श्रीमती सावित्री बाई फुले के जीवन और कर्म को उजागर करने वाली यह नाट्य प्रस्तुति काफी लोकप्रिय एवं बहुचर्चित रही है। देश में सदियों से शिक्षा से वंचित किए गए दलितों और महिलाओं को सावित्री बाई ने अपने अथक प्रयासों से शिक्षा पाने का अधिकार दिलवाया। उन्होंने एक शिक्षिका के रूप में बालिकाओं को पाठशाला में लाकर समतामूलक शिक्षा की शुरुआत की। इसके लिए उन्हें पितृसत्तात्मक व्यवस्था से संघर्ष करना पड़ा था। उस समय में महिला शिक्षा के विरोधियों ने सावित्री पर पत्थर और कीचड़ तक फेंका था। सावित्री बाई के संघर्ष और योगदान को आम व्यक्तियों से परिचित कराना ही इस एकल नाट्य प्रस्तुति का उद्देश्य है। सावित्री बाई के विचारों को प्रस्तुत करने वाले इस नाटक की अंतर्वस्तु को आत्मकथात्मक एकालाप शैली में प्रस्तुत किया गया है। छोटी उम्र से लेकर मृत्यु तक के सावित्री बाई के जीवन के विभिन्न प्रसंगों को स्त्रीपक्षीय दृष्टि के साथ मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करने वाला यह नाटक एकल रंगमंच के माध्यम से महिला सशक्तीकरण के विचारों को जनता तक पहुँचाने में सक्षम रहा है।

दलित स्त्रियों के समान आदिवासी स्त्री के जीवन की दुर्दशा को मिथक के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाली एकल नाट्य प्रस्तुति है केरल की युवा रंगकर्मी सुरभी द्वारा निर्देशित एवं अभिनीत 'घोररक्षसम'। श्रीमद् भागवत् पुराण से चुनी हुई विषयवस्तु के अनुसार 'पूतना' राजा कंस द्वारा बालक श्रीकृष्ण की हत्या के लिए नियुक्त राक्षसी थी। लेकिन 'घोररक्षसम' नाटक में सुरभी जी ने पूतना को एक साधारण आदिवासी स्त्री के रूप में चित्रित किया है, जो जंगल में बसने वाली है तथा प्रकृति के साथ अटूट रूप में संबंधित है। अपने छोटे बच्चे की देख-रेख करती हुई पूतना को कंस के सैनिक पकड़ लेते हैं तथा बालक कृष्ण के वध के लिए उसे नियुक्त करते हैं। किन्तु पूतना इस से इनकार करती है क्योंकि वह एक छोटे बच्चे की हत्या करने के लिए तैयार नहीं थी। तब कंस ने यह शर्त निकाला कि अगर अपने बच्चे को वापस मिलना है तो पूतना को कृष्ण का वध करना पड़ेगा। अपने बच्चे को वापस पाने के लिए मजबूरन उसे कृष्ण-वध के लिए तैयार होना पड़ता है और अंत में कृष्ण द्वारा उस का वध भी हो जाता है। यहाँ सत्ता के लिए आदिवासी स्त्री मात्र एक खिलौने की तरह है। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कंस ने पूतना के जीवन को कुर्बान किया। इस नाटक में सुरभि जी ने पूतना को एक ऐसे रूप में प्रस्तुत किया है, जिस में मातृत्व का सहज भाव समाविष्ट है, तथा वह प्रकृति से मिल-जुलकर जीने वाली एक आदिवासी महिला है। एक आदिवासी स्त्री किस प्रकार सत्ता या पुरुष-वर्चस्व की वस्तु मात्र रह जाती है, इस का चित्रण इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

महाभारत की महान पात्र अम्बा के चरित्र की पुनर्व्याख्या पर केंद्रित नाट्य प्रस्तुति है 'फ्रोज़न फायर'। इसका निर्देशन तमिल की प्रमुख रंगकर्मी वी पद्मा मंगई द्वारा हुआ है।

नाटक दर्शकों और पाठकों को अम्बा के शिखंडी में परिवर्तन की कहानी की ओर ले जाता है। शिखंडी स्त्री की तथाकथित कोमलता को पीछे छोड़ने और पुरुष शरीर की ताकत हासिल करने के लिए कठोर अनुशासन से गुजरती है। यहाँ शिखंडी का स्त्री शरीर से पुरुष शरीर में परिवर्तित होने की प्रक्रिया से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी व्यक्ति का लिंग-स्वत्व कोई स्थिर प्राकृतिक सार नहीं है बल्कि क्रियाओं की एक श्रृंखला द्वारा गठित सांस्कृतिक निर्मिति है। वी पद्मा मंगई द्वारा निर्देशित नाट्य प्रस्तुति श्पच्चा मण्णुश काफी लोकप्रिय व बहुचर्चित रही है। इस नाट्य प्रस्तुति की अंतर्वस्तु कन्या शिशु/भ्रूण हत्या पर केंद्रित है। कन्या शिशु/भ्रूण हत्या जैसी घोर सामाजिक विपत्ति के प्रति जनता को जागरूक करने के विशेष उद्देश्य से रूपायित यह नाटक तमिल नाडु के ऐसे इलाकों में खेला गया जहाँ धार्मिक संस्कार के रूप में कन्या शिशु हत्या होती है। इस नाटक का स्वरूप जन्म से लेकर जन्म देने तक के महिलाओं के जीवन चक्र, विभिन्न सांस्कृतिक रूढ़ियों एवं मूल्यों को स्त्रीपक्षीय दृष्टि से व्याख्यायित करने वाला है। केरल की रंगकर्मी के वी श्रीजा द्वारा निर्देशित 'लेबर रूम' एक ऐसा नाटक है जो पूरी तरह से स्त्रीत्वपरक अनुभवों से संबंधित है। यह नाटक इस बात को मर्मस्पर्शी ढंग से अभिव्यक्त करता है कि महिलाओं के लिए प्रसव का अनुभव किस तरह होता है। लेबर रूम के अंदर चलने वाली समस्याओं पर चर्चा करने वाला यह नाटक उस सामाजिक आयाम को भी प्रस्तुत करता है जिस तरह से विभिन्न संस्कृतियों की दो महिलाएं गर्भावस्था, प्रसव और बच्चे को देखती हैं।

भारतीय विधवा जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने वाले दो मशहूर नाटक हैं अनुराधा कपूर द्वारा निर्देशित 'जीवित या मृत' तथा त्रिपुरारी शर्मा द्वारा निर्देशित 'बहू'।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना को स्त्रीपक्षीय दृष्टि से दृश्यांकित करने वाली जीवित या मृत नाट्य-प्रस्तुति उन विधवाओं की कहानी है जो अपने अस्तित्व को लेकर भ्रम में रहती हैं। ऐसी स्त्रियों को पता ही नहीं होता कि वे जीवित हैं या मृत। भारत में विधवाएँ अपने पारिवारिक व सामाजिक जीवन में बिलकुल उपेक्षित एवं दमित हैं तथा मानवाधिकारों से वंचित भी है। सामंती व्यवस्था के पुरुष-केन्द्रित विचारों ने ही विधवाओं के जीवन को इतना कठिन बनाया है। सामंती व्यवस्था के ह्रास के बाद भी भारते में सामंती मानसिकता और संस्कृति मौजूद रही है। इस कारण से ही आज भी विधवा स्त्रियों को असम्मान, वेदना और तिरस्कार को किसी न किसी रूप में झेलना पड़ता है। इस एकल प्रस्तुति को मंच पर अभिनीत करने वाली मशहूर कलाकार सीमा विश्वास ने 'जीवित या मृत' की विषयवस्तु की प्रासंगिकता को सूचित करते हुए कहा है कि–''किसी भी हिन्दू त्यौहार जैसे कि दुर्गा पूजा या सरस्वती पूजा के समय हम देवी की मूर्ति बनाते हैं, उसे सजाते हैं और उसकी पूजा धूम-धाम से करते हैं, लेकिन त्यौहार ख़त्म होने ही हम उन्हीं मूर्तियों को सड़क के किनारे पड़ी हुई या पानी में डूबी हुई पाते हैं जैसे कि वह कोई कचरा हो। भारत में विधवाओं की स्थिति भी इसी के जैसी है। इसी स्थिति को हम अपने नाटक के ज़रिए जीवंत करना चाहते थे''।[3] त्रिपुरारी शर्मा द्वारा निर्देशित 'बहू' भी सामंती संस्कृति के रूढ़िवादी मूल्यों से जर्जर पारंपरिक परिवारों में विधवा जीवन की त्रासदी का मर्मस्पर्शी दस्तावेज है। इस नाटक की अंतर्वस्तु एक पारंपरिक निम्न वर्ग की महिला की कहानी को चित्रित करता है जो अपने पति की मृत्यु के बाद विभिन्न कठिनाइयों का सामना करती है। जब नाटक शुरू होता है तो बहू के पास एक परिवार की बहू होने के अलावा कोई और पहचान नहीं थी लेकिन जब उसका परिवार उसे घर से निकाल देता है तो वह विद्रोह करने लगती है। बहू के चरित्र की इस विद्रोही चेतना ही पूरे नाटक की सर्वाधिक प्रेरक पहलू है। महिला उत्पीड़न पर केंद्रित यह नाटक मुक्ति और पहचान के प्रति एक साधारण स्त्री के निजी विद्रोह का मार्मिक आयाम प्रस्तुत करता है। यहाँ नाटक के माध्यम से निर्देशक उस महिला समूह को आवाज़ देने का प्रयास करती हैं जो अपने सम्पूर्ण जीवन में वर्गगत व लिंगगत दमन को झेलती आ रही है।

निम्न वर्ग की एक साधारण मजदूर महिला के जीवन के विविध आयामों को स्त्रीपक्षीय दृष्टि से दर्शाने वाली नाट्य प्रस्तुति है नादिरा ज़हीर बब्बर द्वारा रचित एवं निर्देशित 'सकुबाई'। इस नाटक में केन्द्र पात्र सकुबाई की जीवन कथा के माध्यम से बाल मज़दूरी, यौन शोषण, घरेलू हिंसा इत्यादि अन्यान्य सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। सकुबाई एक मेहनती महिला हैं और अपनी गरीबी और कठिन परिस्थितियों पर दूसरों की तरह रोने और शिकायत करने के बजाय, वह कड़ी मेहनत के माध्यम से स्थिति को बदलने का विकल्प चुनती हैं। अपने जीवन में बहुत अधिक संघर्षों को झेलने के बाद भी सकुबाई कभी असफल नहीं होती है। वह अपनी समस्याओं के साथ-साथ दूसरों की भी समस्याओं का हल भी ढूंढ़ लेती है तथा अन्य लोगों के लिए एक आदर्श बन जाती है। केरल की मशहूर रंगकर्मी सजिता मठत्तिल द्वारा रचित, निर्देशित एवं अभिनीत एकल नाटक है 'मत्स्यगंधी', जो केरल के तटीय क्षेत्रों में रहने वाले मछुआरे समुदाय की महिलाओं की दुरावस्था

तथा अपने अस्तित्व के संघर्ष के दौरान उनके द्वारा सामना किये जाने वाले विभिन्न समस्याओं पर केंद्रित है। वैश्वीकरण तथा औद्योगिकीकरण के बढ़ाव ने मछुआरे समुदाय के लोगों के विशेषकर महिलाओं के जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। उनका जीवन व पेशा ट्रॉलर और विदेशी जहाजों के हाथों कुचल दिए जाते हैं। इस नाटक की कथावाचिका मछुआरे समुदाय की एक स्त्री है, जो परम्पर या मछली बिक्री का काम करती है। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् वह बहुत सारी कठिनाइयां झेलती हैं। यौन शोषण के भयावह अनुभवों से निरंतर गुजरने वाली उस स्त्री की स्थिति अत्यंत दुस्सह हो जाती है। श्रम करने वाले एक विशेष स्त्री समूह के जीवन तथा उनकी पेशेवर समस्याओं और उससे घुटने वाले उनके सामाजिक सम्मान, मानवाधिकार का हनन आदि ज्वलंत मुद्दों को यह नाटक सटीक ढ़ंग से पेश करता है। साथ ही निम्न वर्ग की महिलाओं के ऊपर सार्वजनिक स्थलों में हो रहे शारीरिक अत्याचार एवं अन्यायों को जनता के सम्मुख पेश करने वाला यह नाटक मात्र शरीर के रूप में स्त्री को देखने की वस्तुवादी दृष्टि पर घोर प्रहार भी करता है। इसके समान मध्यवर्गीय महिलाओं के जीवन संघर्ष, मानसिक व्यापार, तनाव, अंतर्द्वंद्व आदि को चित्रित करने वाली नाट्य प्रस्तुति है रमणजीत कौर द्वारा निर्देशित 'बावरे मन के सपने'। इस नाटक में मध्यवर्गीय महिलाओं के बाहर से शांत दिखने वाले जीवन में चल रहे उथल-पुथल को वाणी देने की कोशिश की गयी है। निर्देशक रमणजीत कौर के शब्दों में–'निजी तौर पर मुझे महसूस होता है कि मध्यम एवं उच्च मध्यम वर्गीय महिलाएँ सबसे ज़ूयादा उपेक्षित है, इस मायने में कि उनकी कोई आवाज़ नहीं है। कितनी दफा हम स्वयं से संबंधित मुद्दों पर बात करते हैं ? हम सिर्फ एक मौन के साथ मुस्कुरा भर देते हैं। मौन, झूठे मान-मर्यादा, दर (दर-नकारे जाने का, सामाजिक बहिष्कार का, नुक्ता चीनी का), रंगमंच वो माध्यम है, जहां हम अपनी बात कह पाते हैं'।[4] इस नाटक का केन्द्रीय पात्र अम्मा है जो अपनी बेटी से मिलने के लिए लंडन जाने की तैयारी कर रही हैं। अपने घर में वह कई स्त्रियों को आमंत्रित करती है और वे एक दूसरे से बातचीत करती है तथा अपने जीवन के कटु यथार्थ को एक दूसरे से साझा करती है। मध्यवर्गीय स्त्रियों में अपनी इच्छाओं के साथ जीने का आग्रह सशक्त रूप में विद्यमान है। किन्तु वे अपने अपने छोटे-छोटे सपनों को अक्सर दबाती आती हैं। पारिवारिक संरचना में निहित पितृसत्ता के स्वरूप को चित्रित करने वाले इस नाटक में यह बात भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है कि मध्यवर्गीय स्त्री अपने घर की चहारदीवारी के भीतर कितना अस्वतंत्र पीड़ित और कुंठित है।

पंजाब की मशहूर रंगकर्मी पद्मश्री नीलम मानसिंह चौधरी द्वारा निर्देशित नाट्य-प्रस्तुति है 'द लाइसेंस'। इस नाटक की अंतर्वस्तु अपने पति की मृत्यु के बाद आजीविका चलाने के लिए पति की नौकरी को मजबूरन स्वीकारने वाली नियति नामक एक विधवा की करुण कथा है। यह नाटक मंटो की कथा 'लाइसेंस' पर आधारित है। साथ में बर्तोल्ड ब्रेख्त की कथा 'द जॉब' के कुछ नुक्तों को भी आधाररूप में लिया गया है। इस नाटक में हम देखते हैं कि पति का आकस्मिक निधन नियति के परिवार को भुखमरी के कगार पर ला खड़ा करता है। नियति के लिए एक ही रास्ता बचता है कि वह किसी भी तरह नौकरी कर के अपने परिवार को बचाए। नाटक की नायिका नियति इस असामान्य परिस्थिति में असामान्य तरीके को अपनाती है। वह अपने पति की तरह रोजी रोटी के लिए तांगा चलाना शुरू करती है। पति का ही दोस्त उस की लाचारी का फ़ायदा उठाता है। इस के बाद नियति पूरी तरह से टूट जाती है और अंत में एक बार फिर तांगा चलाना शुरू करती है, लेकिन यहाँ भी उसे फिर से वहीं सब झेलना पड़ता है। ट्रैफिक पुलिस वाला उस से लाइसेंस माँगता है। लाइसेंस के न होने पर उस की मजबूरी का ट्रैफिक पुलिस अधिकारी फ़ायदा उठाता है। अंत में दिखाया गया है कि वह दुराचार-शिकार महिला थक कर खामोश हो जाती है और खुद को दर कर एक बक्से में बंद कर लेती है। मंटो और ब्रेख्त इन दोनों लेखकों की कथाओं से प्रभावित अपनी नाट्य-प्रस्तुति की विषय-वस्तु के संबंध में निर्देशक नीलम मानसिंह जी व्यक्त करती हैं कि 'वास्तव में इन दोनों कथाओं की नायिकाएँ अपनी बदली हुई पहचान के साथ बराबरी की माँग ज़ोरदार तरीके से रखती हुई ज़िंदगी को एक नयी दिशा देनी नज़र आती हैं। यहीं इन दोनों कथाओं का मूल है। जिस तरह हज़ारों वर्षों से आदमी बना हुआ है, वहीं इन दोनों कथाओं की नायिकाएं अपने काम के द्वारा औरत से आदमी बन जाती हैं। दोनों कथाएँ स्त्रीवादी कथा के रूप में ली जा सकती हैं। इन दोनों कथाओं के अंतस् में स्त्री एवं पुरुष दोनों के गुण आपस में मिले-जुले हैं। गरीबी से जूझती रूढ़ीवादी समाज में जहाँ से औरतें जिन्दगी की लड़ाई अपने बूते पर लड़ती हैं, वहीं उन का दुःखदाई अंत होता है। सामाजिक बंधन उन की हिम्मत, उन के इरादों को तोड़ तहस-नहस कर देते हैं'।[5] नौकरी कर के अपनी आजीविका को चलाने के लिए तैयार होने वाली एक स्त्री को पुरुष-वर्चस्व का शोषण किस तरह झेलना पड़ता है इस

को मार्मिक ढ़ंग से अभिव्यक्त करने वाली यह नाट्य-प्रस्तुति अपने में अनूठी है।

मिर्जा हादी रुसवा के बहुचर्चित उपन्यास 'उमराव जान अदा' की नाट्य रूपांतरित प्रस्तुति है अनुराधा कपूर द्वारा निर्देशित 'उमराव'। इस नाट्य प्रस्तुति की अंतर्वस्तु मूल कृति की पुरुष केंद्रित दृष्टि से रूपायित आख्यान को विखंडित करने वाली है। एक तवायफ के जीवन को दर्शाने वाला यह नाटक तवायफ की रूढ़िबद्ध छवि पर सवाल उठाता है और महिलाओं को यौन वस्तु के रूप में देखने की नैतिक मान्यताओं पर घोर प्रहार भी करता है। रुसवा के उपन्यास के अंत में बूढ़ी और परित्यक्त उमराव अन्य महिलाओं को उन के पतित मार्ग का अनुसरण न करने की चेतावनी देती है तथा नैतिक मूल्यों को नष्ट किए बिना जीने की सलाह भी देती है। किन्तु अनुराधा कपूर के नाटक की पात्र उमराव खुद को एक गिरी हुई महिला के रूप में नहीं देखती है। वह जीवन की सकारात्मक और नकारात्मक दोनों स्थितियों के बारे में बात करती है तथा खुद को एक बुद्धिमती महिला के रूप में परिभाषित करती है न कि एक वेश्या के रूप में और दावा करती है कि उस ने जीवन की अनिश्चितता को बौद्धिक और रचनात्मक रूप से संभाला है। उमराव के अन्तर्मन की संवेदनाओं और भावनाओं को स्त्रीपक्षीय दृष्टि से उजागर करने में नाटक सक्षम रहा है।

मशहूर रंगकर्मी सी वी सुधी द्वारा निर्देशित मलयालम नाटक है 'आनुङल इल्लात्ता पेन्नुङल'। यह प्रमुख ईरानी लेखिका शेहरनुश परसीपुर का विख्यात उपन्यास 'विमन विथौट मेन' का नाट्यरूपांतर है। पितृसत्तात्मक उत्पीड़न के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत करने वाला यह नाटक विभिन्न परिस्थितियों में जीने वाली पाँच स्त्रियों के अनुभवों के आख्यानों से गुजरता है। इन पाँच महिला पात्रों में मध्यवर्गीय परिवार की एक गृहिणी फारोख, जो रजोनिवृत्ति के करीब है, एक स्वाभिमानी युवती मॉकडोत, जो अपने वर्जिनिटी को बनाए रखने के लिए खुद को एक पेड़ घोषित करती है, एक सेक्स वर्कर ज़रीन, जो अपने ग्राहकों को बिना सिर वाले राक्षसों के रूप में देखती है, मुनीस और फ़ैज़ा जो पारंपरिक परिवार की दो कन्याएं हैं जिन्हें बलात्कार झेलना पड़ता है। पितृसत्तात्मक रूढ़ियों से ग्रस्त दमनकारी समाज में जीवन बिताने के लिए अभिशप्त ये महिलाएँ अपनी प्रतिबंधात्मक परिस्थितियों को पार करने का प्रयास करती हैं। इन पाँचों महिलाओं का आपस में मुलाकाल होती है। वे एक दूसरे से अपना अनुभव साझा करती हैं और बाकी जीवन एक साथ पुरुषों के सहारे के बिना बिताने का फैसला लेती हैं। इस नाटक में महिलाओं की सेक्शुअलिटी, वर्जिनिटी इत्यादि मुद्दों को प्रोब्लमटाइस किया गया है।

मशहूर रंगकर्मी अमाल अल्लाना द्वारा निर्देशित नाट्य प्रस्तुति है 'नटी विनोदिनी'। इस नाटक की अंतर्वस्तु बंगाल की प्रसिद्ध अभिनेत्री बिनोदिनी दासी की आत्मकथा पर आधारित है। यह नाट्य-प्रस्तुति एक महिला के सार्वजनिक जीवन में उतरने और स्वतन्त्रता और पहचान को प्राप्त करने के साहसिक प्रयास को मार्मिक ढ़ंग से चित्रित करने का सृजनात्मक उद्यम है। बिनोदिनी दासी कोलकत्ता के रंगमंच पर अभिनय करने वाली पहली महिला थी, जिन्होंने सफलता की ऊंचाइयां चढ़ीं। उन के जीवन के अनुभव कैसे उन के अभिनय में सहायक बनें, समाज के उच्च वर्गों द्वारा कैसा उन का शोषण हुआ, यह नाट्य प्रस्तुति इसी की कहानी कहती है। यहाँ नटी बिनोदिनी की अलग-अलग अवस्थाओं को, उन के अंतर्द्वंद्व को उभारने की कोशिश की गयी है। बिनोदिनी दासी के संघर्षपूर्ण जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करने वाला यह नाटक इस बात को अभिव्यक्त करता है कि कला के क्षेत्र में अपने निजी स्वत्व को स्थापित करने के लिए स्त्रियों को कई संघर्षों से गुज़रना पड़ता है। आरंभिक बंगला रंगमंच को लोकप्रिय, कलात्मक और गंभीर अभिव्यक्ति-माध्यम बनाने में बिनोदिनी ने अपनी निर्णायक भूमिका अदा की थी। इस प्रस्तुति में बिनोदिनी के जीवन के अंतर्द्वंद्व, प्रेम, लोभ और त्याग, प्रतिष्ठा और अपमान, प्रसिद्धि और अकेलेपन तथा त्रासदी के चित्र मौजूद है।

त्रिपुरारी शर्मा द्वारा रचित एवं निर्देशित एक और मशहूर नाटक है 'रूप-अरूप'। यह नाटक उस पुरुष कलाकार जो नौटंकी में स्त्री-पात्र की भूमिका निभाता है, तथा पारंपरिक रूप से नृत्त को अपनाई हुई एक बेडिं जाति की स्त्री, जो रंगमंच में अभिनेत्री के रूप में प्रवेश करती है, के बीच के संवाद और संघर्ष पर केन्द्रित है। सालों पहले नौटंकी के मंच पर पुरुष का ही एकाधिकार रहा था। स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष कलाकार ही निभाया करते थे। स्त्री रूप की मंच पर संकल्पना पुरुष मानसिकता के अनुसार होती थी। जब स्त्रियाँ अभिनेत्री के रूप में रंगमंच के क्षेत्र में प्रवेश करने लगीं तब स्त्री पात्रों की भूमिका निभानेवाले पुरुष कलाकार मंच से तिरस्कृत होने लगे। लेकिन पुरुषों के द्वारा बनाए गए स्त्री की रूढ़ प्रारूपित छवि, जो यथार्थ स्त्री की चेतना और संवेदनाओं से बिलकुल दूर है, वह मंच पर कायम रही। यह एक ओर इस कल्पित स्त्री छवि को, उसके चाल-चलन को, वाचिक शैली को मंच

पर कायम रखने के लिए असली स्त्री कलाकार भी मजबूर हो जाती हैं तो दूसरी ओर स्त्रियों की भूमिका निभाने वाले पुरुष कलाकारों को अपना अस्तित्व नष्ट हो जाता है। इस कारण से दोनों कलाकारों के अंतर्मन संघर्षरत हो जाता है। नाटक में स्त्रियों की भूमिका निभानेवाला पात्र चन्द्ररूप (जो रूपमती नाम से जाना जाता है) तथा रम्भा नामक असली स्त्री अभिनेत्री के बीच के संघर्षों तथा संवादों को बड़ी गहनता एवं तन्मयता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भारत के विभिन्न भाषाई रंगमंच से जुड़ने वाली महिला निर्देशकों ने अपनी नाट्य प्रस्तुतियों में ऐसी अन्तर्वस्तुओं को प्रयुक्त करने का प्रयास किया है जो भारतीय महिलाओं के वैयक्तिक, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के किसी न किसी पहलू का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है। उन्होंने समाज में सदैव हाशिए पर रखी जाने वाली स्त्री की अवस्था तथा उसके द्वारा झेले जाने वाले शोषण को केंद्र में रखकर, स्त्री अस्मिता के विविध पक्षों को उजागर करने वाले विषयों को नाट्य प्रस्तुति की अंतर्वस्तु बनायी एवं विद्रोही चेतना को रंगमंच के माध्यम से उठाने का सक्रिय प्रयास किया। इन नाट्य प्रस्तुतियों पर विचार करने से एक ओर इस यथार्थ का चित्र प्रस्तुत होता दिखाई देता है कि सामाजिक व्यवस्था के भीतर पितृसत्ता के दमनकारी हस्तक्षेप प्रत्येक वर्ग व क्षेत्र की स्त्रियों के सम्पूर्ण जीवन में किन किन रूपों में उपस्थित हैं तो दूसरी ओर उत्पीड़ित महिलाओं की अतिजीविता के संघर्षों की रंगमंचीय अभिव्यक्ति से सहज प्रतिरोध के सृजनात्मक स्वरूप का नवीन आयाम उभरकर सामने आता है।

संदर्भ

1. Nandi Bhatia Modern Indian Theatre Oxford University Press, 2009, P. 49
2. Erin B Mee Drama Contemporary: India, Johns Hopkins University Press 2001, P. 9-10
3. जागरण, 6 मार्च 2018, https:@@www.jagran-com
4. रमनजीत कौर, निर्देशकीय (बावरे मन के सपने), विवरणिका, भारत रंग महोत्सव, 2014
5. नीलम मानसिंह चौधरी, निर्देशकीय (द लाइसेंस), विवरणिका, भारत रंग महोत्सव, 2014

डा. अपर्णा वेणु
असिस्टेंट प्रोफेसर इनकॉन्ट्रैक्ट
एन.एस.एस. कॉलेज, ओट्टापालम,
केरल

हिंदी कथा साहित्य : मुस्लिम परिवेश

–डा. पठान रहीम खान

प्रस्तावना

स्वतंत्रता के बाद भारतीय मुस्लिम परिवेश में काफी बदलाव आया है। स्वतंत्रता से पूर्व आज मुसलमानों की स्थिति काफी बेहतर है। फिर भी मुसलमानों की समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या उनकी बेरोजगारी है। वर्तमान में अधिकतर मुसलमान छोटे-मोटे उद्योग धंधे ही कर रहे हैं। सब्जी बेचना, टेलरिंग, मोटर मैकेनिक इत्यादि छोटे-छोटे कार्य करने के पीछे एक मुख्य कारण उनकी अशिक्षा भी है। मुस्लिम समाज में अधिकांश युवा पढ़े-लिखे होने के पश्चात् भी नौकरी नहीं पा रहे हैं। वर्तमान समय में थोड़ा बदलाव जरूर आया है। उनकी स्थिति पहले से बेहतर अवश्य हुई है, परंतु साथ ही नई-नई समस्याओं का सामना भी करना पड़ रहा है। वर्तमान समय में सांप्रदायिकता बड़ी समस्या बन गई है। पहले लोग आपस में मिल जुल कर रहते थे। परंतु अब ऐसा लगता है कि समाज में एक नहीं अनेक रेखाएँ खींची जा चुकी है और वह दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। हिंदी साहित्य में मुस्लिम लेखक मुसलमानों की सभी समस्याओं को लेखनी के माध्यम से उजागर करने की कोशिश किया है।

मूल शब्द

मुस्लिम परिवेश, सांप्रदायिकता, मनोवृत्ति, समकालीन, रीति-रिवाज, रहन-सहन, स्त्री शिक्षा, सृजनात्मकता, मध्यवर्गीय, मुस्लिम समाज

शोधालेख सारांश

कहा जाता है कि–''लेखक का समकालीन परिवेश मात्र बाहरी यथार्थ से होकर, रचयिता की मनोवृत्ति को प्रभावित करने वाला वह तत्व है, जो उसके भीतरी चेतना में घुल मिलकर रचना कार्य को प्रेरित करता है। परिवेश के समग्र यथार्थ की जागरुक चेतना लेखक के सृजनात्मक दबाव का कारण बनकर, रचना के माध्यम से समय की नियति के विरुद्ध

संघर्ष करने के लिए पाठक की चेतना को गहरे में झकझोरती है। इस संबंध में वरिष्ठ कथाकार कृष्णा सोबती का कहना है कि–''लेखक एक ऐसा रूपांतरण है, जो एक साथ शक्ति खींचता है और शक्ति देता है।''[1]

परिवेश के संबंध में ''परिवेश के अंतर्गत केवल स्थान और समय ही नहीं, बल्कि रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग, पात्रों की वेशभूषा उनके शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, विचार, चिंतन, वार्तालाप की भाषा-शैली कथा को स्वाभाविक वातावरण प्रदान करती है। इसलिए वातावरण चित्रण अधिक सजीव होगा, कथानक-काल्पनिक होते हुए भी, उतना ही अधिक सत्य एवं विश्वसनीय होगा।''[2]

भारत देश में स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परिवेश में बदलाव आया। इस सम्बन्ध में राम कुमार वर्मा कहते हैं कि–''साहित्य और समाज का गहरा सम्बन्ध है। समाज की विचारधारा जिस दिशा में अग्रसर होगी, उस दिशा की क्रियात्मक या प्रतिक्रियात्मक विचारधारा साहित्य में अवश्य ही देखी जा सकती हैं।''[3] खासकर विभाजन के बाद हिन्दू-मुसलमान दोनों समुदाय के लोगों के लिए दुखद घटना है। उत्तर भारत का पंजाब-सिंध प्राप्त तथा पूर्वी बंगाल का समाज पूरी तरह से बिखर गया है। कई लोग मारे गये, घर उजाड़े गये, दुकानें लुटी और जलाई गई हैं। कई अमीर लोग शरणार्थी बन गये। मध्य एवं निम्न वर्ग के लोग और भी दब गये। हिन्दुओं और सिखों के मन में मुस्लिमों के प्रति नफरत की भावना पैदा हुई। एक दूसरे को शक की नजर से देखने लगे हैं। आज भी स्थिति यह है कि स्वतंत्रता के पचहत्तर वर्ष के बाद भी भारतीय मुस्लिम असुरक्षा की भावना से ही जी रहे हैं। समाज के हर क्षेत्र में वह पीछे ही रहे हैं। आज भी मुस्लिम समाज मुल्ला, मौलवी, मुस्लिम राजनेताओं के बहकावे में आकर अपने आप धंसते जा रहे हैं। समाज में जागरूकता कम है। खास तौर पर मुस्लिम समाज में इस्लाम के विषय में भी कम जानकारी है। इस करण धर्म के ठेकेदार इनको आसानी से बहला- फुसलाकर भ्रमित कर देते हैं। मुस्लिम समाज का अधिकांश हिस्सा वर्तमान में गरीबी से त्रस्त हैं। महानगरों की गंदी बस्तियों में रहने को विवश हैं। अँधेरे से घिरी कोठरियों, सीलन भरी दीवारें दरिद्रता, बदहाली वर्तमान में मुस्लिम समाज की यही स्थिति हैं। मुस्लिम समाज अनेक संघर्षों से जुड़ा हुआ है। उनका जीवन असंतोष, विवशता, और घुटन, द्वंद का जीवन जीना पड़ रहा है।

इस सत्यता को कई कहानीकार तथा उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में दर्शाया है। जैसे प्रसिद्ध कथाकार रमेश उपाध्याय, भीष्म साहनी के उपन्यासों के बारे में लिखते हुए कहते हैं कि ''....'नीलू-नीलिमा नीलोफर' में हिंदू-मुस्लिम समुदायों के बीच बनते प्रेम और घृणा के नये संबंधों का इतिहास। और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'तमस' तो आजादी और बँटवारे के ठीक पहले हुए सांप्रदायिक दंगों का इतिहास है ही।''

भारत स्वतंत्र होने के बाद खासकर मुसलमानों की आर्थिक दशा अत्यंत दयनीय हो गई है। खासकर मुस्लिम लोगों के परिवार बड़े होने के कारण यह स्थिति और भी बदतर हो गई है। इक्कीसवीं सदी की मुस्लिम समाज में अर्थव्यवस्था बहुत महत्व रखता है। अर्थ के आधार पर ही समाज बना हुआ है। स्वतंत्रता के बाद भी यही स्थिति बनी रही है। समाज में आर्थिक स्थिति पर तीन वर्ग बने हुए है, वे उच्च, मध्य एवं निम्न वर्ग हैं। समाज में संयुक्त परिवार, शिक्षा का प्रभाव, आर्थिक तनाव आदि अधिक है। छोटे-मोटे उद्योग-धंधों के अलावा उनके पास कोई काम ही नहीं है। सरकारी योजनाओं के फायदे भी उनको कम ही मिलते हैं। तात्पर्य यह है कि मुसलमान बदतर जिन्दगी जीने को मजबूर हैं। इसका सही चित्रण रजिया फसीह अहमद का उपन्यास 'बेगम गुल' में चित्रण हुआ है। जैसे–''मर्द फक्ट्रियों में मजदूरी करके अधिक पैसा कमाना पसंद करते थे। नये डेम और ब्रिज बन रहे थे। उन पर देशी कम्पनियाँ ठेके पर काम कर रही थी। वह इतना आराम देती थी कि हर व्यक्ति वहीं खप जाना चाहता था''।[4] खासकर स्वतंत्रता के बाद के मुस्लिम परिवारों में परंपरागत व्यवसाय करने लगे हैं। ''निम्न वर्ग के मुस्लिम परिवारों में खेती व्यापार, टेलरिंग, मोटर मैकेनिक, सब्जी बेचना, छोटे-मोटे व्यापार करना, या रोज - मजदूरी का काम करना आदि।''[5]

आजकल के इक्कीसवीं सदी में शिक्षा का प्रचार, प्रसार, तकनीकी, औद्योगीकरण आदि अनेक क्षेत्रों में मुस्लिम समाज के लोग आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं।

भारतीय समाज अनेक धर्मों, जाति एवं संप्रदायों में बंटा हुआ है। भारत अनेकता में एकता का संदेश देता है। सन 1947 में धर्म के नाम पर भारत का बंटवारा हुआ है। तब से आज तक लोग एक दूसरे को शक भरी नजरों से देखने लगे हैं। लोगों के मन में इस कदर नफरत भर चुकी है। इसका सही चित्रण अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास 'अपवित्र आख्यान' के पात्र के कथन से समझ सकते हैं कि–

''हर्ज है जमील साहब, हर्ज है
सिद्दीकी साहब ने जोर देकर कहा,

इस्लाम इसकी इजाजत नहीं देता,
हमें काफिरों जैसा बाना नहीं अखित्यार करना'' ।[6]

भारत अनेक संस्कृतियों का संगम है। यहाँ पर समय-समय पर अनेक धर्मों जातियों और संस्कृतियों के लोग आकर बसते और समाहित होते गये हैं। खासकर यहाँ आर्य, द्रविड़, कोल, यवन, शक, हुण, मुगल, मंगोल, तुर्क आदि। कहा गया है कि–''इस्लाम धर्म, मुस्लिम जाति और इस्लामी संस्कृति का आगमन अपेक्षाकृत भिन्न परिस्थितियों में हुआ। यह जाति और संस्कृति सर्वाधिक दीर्घकालीन संघर्ष में जुटी रही।''[7] देश में वर्षों से हिन्दू-मुसलमानों में वैषम्य रहा है। इस संबंध में कहा गया है कि–''मुझे लगता है कि–कम से कम आज के माहौल में देश में आर्थिक लड़ाई भी संस्कृति के क्षेत्र में ही लड़ी जा रही है। संस्कृति अब स्वीटनेस और लाइट यानि माधुर्य और प्रकाश की दुनिया नहीं रह गयी हैं, बल्कि यह युद्ध का क्षेत्र हैं। युद्ध का यह क्षेत्र कभी-कभी लगता है कि धर्म क्षेत्र-कुरुक्षेत्र है, जिसमें इसी देश के कौरव और पांडव लड़ गए हैं। एक तरह से वह पानीपत भी हैं। यहाँ शायद यह चौथी लड़ाई लड़ी जा रही हैं, जहाँ तथाकथित नवउपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी, विदेशी आक्रमणकारियों और सांस्कृतिक आक्रांताओं के हमलों के विरुद्ध आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्तर पर यहाँ देश संघर्ष कर रहा है।''[8] भारतीय मुस्लिम समाज में संस्कृति का विशेष महत्व है। यह समाज वर्तमान समय में एक अलग ही स्थिति में नजर आता है, जिसका चित्रण हिंदी साहित्यकारों ने बखूबी ढंग से चित्रण किया है।

भारतीय राजनीति की यह विशेषता रही है कि धर्म से जुड़ी हुई आजादी के बाद शुरुआती दौर में तो मुसलमानों की राजनीति में हस्तक्षेप रहा, परंतु धीरे-धीरे यह भी कम होता गया है। वर्तमान दौर में आज हालात यह है कि-मुसलमानों के लिए आवाज उठाने वाला कोई राजनीतिक नेता नहीं है। राजनीति में मुसलमानों का हिस्सा न के बराबर है। उनकी समस्याओं को उजागर करने वाला कोई नहीं है। राजनेता है जो मुसलमानों को कार्ड की तरह इस्तेमाल करते हैं। चुनाव के वक्त ही समाचार इत्यादि में नेताओं के भाषण में मुसलमानों की समस्याएं बाहर आती है और फिर चुनाव खत्म होने के बाद ठंडे बस्ते में चली जाती है। इस प्रकार से राजनीति का समाज में गहरा प्रभाव पड़ा है। राजनीति एवं शिक्षा के संबंध में अब्दुल बिस्मिल्लाह का उपन्यास 'अपवित्र आख्यान' में कहा गया है कि–''देखिए आप तो जानते हैं कि आज हमारे लिए राष्ट्रीयता की कितनी जरूरत है। आपको यह भी पता है कि हमारी सरकार राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए कितनी योजनाएं बनाई है। कितना काम हो रहा है। राजनीति की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी है। हर क्षेत्र में फैली हुई है। आजकल शिक्षा के क्षेत्र में भी राजनीति का दबाव अधिक हो रहा है। हिंदी पढ़े-लिखे मुसलमानों का होना बहुत जरूरी हो गया है इससे। अतः अब देखिए ना अपने शहर में ले देकर मुसलमानों का एक स्कूल हैं शमशाद हायर सेकेंडरी स्कूल और उसने भी हिंदी के उस्ताद हैं कोई मिश्रा जी। वर्तमान में विदेश की राजनीति की जड़ें इतनी गहरी हो गई है कि शायद इनको काटने में भी बरसो लग जाए'' ।[9]

स्वतंत्रता के बाद विभाजन की ऐसी रेखाएं खींची गई है, जिससे जमीन ही नहीं लोग भी बंट गए हैं। धर्म के नाम पर दोनों देशों का बंटवारा हुआ, जिसने लोगों के अंदर सांप्रदायिकता के साथ सांप्रदायिक सद्भावना भी पैदा किया है। कलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास में इसका सही चित्रण किया गया है। जैसे–''पाकिस्तान से पाकिस्तान में पैदा होता है उसका एक रोग है, जब तक धर्म नस्ल जाती है और दुनिया की पहली शक्ति बनने का नशा नहीं टूटता जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती जब तक इस धरती पर पाकिस्तान में बनाए जाने की अनुशंसा परंपरा जारी रहेगा'' ।[10] आजादी के बाद मुसलमानों को लेकर मानसिकता बदल गई है। अब उन्हें शक की निगाह से देखा जाने लगा। कहीं भी कोई दंगा-फसाद हो उस पर पहले नाम मुसलमानों का ही आता है। वर्तमान समय में तो इस समस्या ने और भी गहरा रूप ले लिया है। इस संबंध में नांदा साहब कहते हैं कि–''किस तरह से जमाना बदल गया है। पहले लोग खाने-पीने में परहेज करते थे। मगर दिल के साफ होते थे और अब साथ बैठकर खाते-पीते नहीं दिलों में स्याही भरी हुई है'' ।[11] इस तरह की अनेक समस्याएं देखने को मिल जाती हैं।

मुस्लिम समाज में स्त्री की स्थिति भी दयनीय ही रही है। आज भी मुसलमान स्त्री मध्यकालीन युग स्त्री ही बनकर रह गई है। समाज में भूपति तृत्व है। आज भी मुस्लिम स्त्री सिर्फ घर की चहारदीवारी में बंद है। वह सीमित दायरे में ही जी रही है। हिंदू समाज हो या मुस्लिम समाज स्त्री का कोई ऐसा कोई अलग समाज नहीं होता है। वह हर समाज में दबी हुई है। उसकी न कोई जाति है ना कोई समाज। स्त्री की स्थिति अत्यंत दयनीयपूर्ण है, जिसका विकास केवल शिक्षा से ही संभव है।

वर्तमान समय में मुस्लिम समाज रोजगार के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है। वह समाज गंदी बस्तियों में रहने के लिए मजबूर हैं। स्त्री शिक्षा को लेकर स्थिति और भी दयनीय ही रही है। उन्हें विभिन्न तरह की समस्याएं हैं। जैसे–बहुपत्नी विवाह और तीन तलाक। परंतु धीरे-धीरे ही सही, बदलाव हो रहा है।

निष्कर्ष

मुस्लिम समाज भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है। हिंदी साहित्य में मुस्लिम समाज के अनेक मुद्दों पर लिखा गया है। वर्तमान समय में मुस्लिम समाज को लेकर लोगों के विचारों में बदलाव आया है, किन्तु आज भी इस समाज में कुछ समस्याएं मौजूद हैं। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि–हिंदी लेखकों ने अपने साहित्य में मुस्लिम परिवेश का चित्रण किया है। समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्याओं पर खुलकर अपने विचारों को व्यक्त किया है। सांप्रदायिकता से मुसलमानों की मनःस्थिति जैसे सूक्ष्म विषयों को लेकर भी साहित्यकारों ने बखूबी चित्रित किया है।

सन्दर्भ सूची

1. मधुमती–अप्रैल-1997, संपादक–प्रसंगवश,
2. मेहरुन्निसा परवेज की कहानियाँ : एक अध्ययन–डॉ. अनीता जाधव, पृ. 45
3. परिवेश की चुनौतियां और साहित्य–डॉ. हेतु भारद्वाज, पृ.28
4. बेगम गुल–रजिया फसीह अहमद, पृ. 95
5. बेगम गुल–रजिया फसीह अहमद, पृ. 17
6. अपवित्र आख्यान–अब्दुल बिसिम्लाह, पृ. 16
7. माईनोरीटिज, भाग-2–गोपाल सिंह पैनल रिपोर्ट
8. दो-दो हाथ जमाने से–नामवर सिंह, पृ. 61
9. अपवित्र आख्यान–अब्दुल बिसिम्लाह, पृ. 105
10. कितने पाकिस्तान–कमलेश्वर, पृ. 46-47
11. अपवित्र आख्यान–अब्दुल बिसिम्लाह, पृ. 95

डा. पठान रहीम खान, डी. लिट्.,
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी,
गच्चीबौली, हैदराबाद-500032

द डार्केस्ट डेस्टिनी : एक शिल्पगत प्रयोग

—डा. रजनी दिसोदिया

मुझे याद पड़ता है *बहुरि नहिं आवना* का वह अंक जो शायद 2011-12 का रहा होगा जिसमें दलित महिलाओं पर यह आरोप (लगभग लांछन के रूप में) लगाया गया था कि विविध विधाओं में जितना लेखन सवर्ण स्त्री द्वारा किया जा रहा है उसके मुकाबले दलित स्त्रियाँ कहीं नहीं टिक पा रही हैं, और उपन्यास नामक विधा में तो वे लगभग निपूती ही हैं। निश्चित तौर पर यहाँ उनके 'निपूती होने' के प्रयोग लाक्षणिक रूप में ही था जिसमें दलित लेखिकाओं की सृजन क्षमता की ही बात की गई थी। विविध विधाओं के बीच 'उपन्यास' नामक विधा को ऐसे ही देखा जा रहा था जैसे बहुत सारी बेटियों के बीच जब तक बेटा न हो तो महिला पर निपूती होने का लांछन लगाया जाता है। वैसे ही कहानी, कविताओं और आत्मकथा से क्या होगा जब तक दलित महिलाओं द्वारा उपन्यास न लिखा जाए। आज राजकुमारी जी का यह उपन्यास हाथ में लेकर यह लग रहा है कि डॉ धर्मवीर अगर होते तो सचमुच कितना खुश होते कि दलित महिलाएँ उपन्यास के क्षेत्र में बखूबी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। ऐसा नहीं है कि यह दलित महिलाओं द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास है कम से कम सुशीला टाकभौरे जी का नाम तो यहाँ लिया ही जा सकता है।

किसी भी उपन्यास पर बात करते हुए सबसे ज्यादा चर्चा उसके वस्तु पक्ष पर की जाती है। यह उपन्यास समाज का तीसरा लिंग या आम बोल चाल की भाषा में 'हिजड़ा' कहे जाने वाले व्यक्ति की आत्मकथा है। इस उपन्यास को पढ़ने के बाद कोई भी पाठक इस विषय पर ज्यादा शिद्दत से सोचने को मजबूर होगा। इससे पहले प्रसिद्ध दलित साहित्यकार सूरज बड़त्या की कहानी 'कबीरन' जो ठीक इसी विषय पर है देखी जा सकती है। वहाँ भी परिवार अपनी बेटी को इसी कारण छोड़ देने को मजबूर था क्योंकि वह हिजड़ा थी और उसके लिए हिजड़ों के समूह में ही रहना मजबूरी था। साथ ही मानोबी बंधोपाध्याय की आत्मकथा 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' भी इस संदर्भ में पढ़ी जा सकती है। असल में ट्रांसजेंडर कहे जाने वाले इस वर्ग में भी आगे और छोटे उप विभाजन हैं। मानोबी बंधोपाध्याय के शरीर में पुरुष होने के नाते किसी तरह की कोई कमी या बाधा नहीं है। वे पुरुष का शरीर होते हुए स्वयं को स्त्री मानती हैं। और अंततः अपने आपको एक स्त्री के रूप में पहचान दिलाने में कामयाब भी होती हैं। ठीक इसी तरह 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' जो लक्ष्मीशंकर वाजपेयी की आत्मकथा है, में भी यह देखने को मिलता है कि वहाँ भी पुरुष शरीर में स्त्री मन का ही संघर्ष है। पर राजकुमारी जी का

उपन्यास इस मायने में अलग है कि यहाँ उनकी नायिका अमृता देखने में शरीर से पूरी तरह से स्त्री है। और मन से भी स्वयं को पूर्णतरू स्त्री ही मानती है और मानना चाहती है। पर स्त्री होने बावजूद उसके शरीर में स्त्री होने का अंग विशेष नहीं है। और वह भी पैदाइश के साथ। ऐसा लगता है भारतीय समाज ऐसे ही बच्चों को जो स्त्री या पुरुष के रूप में प्राकृतिक रूप से निश्चित अंग विशेष के बिना पैदा होते हैं उन्हें ही ट्रांसजेंडर कहे जाने की परपंरा है। खैर यह उपन्यास एक ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा है जिसे यह समझने और मानने में बहुत समय लग जाता है कि वह एक हिजड़ा है और एक हिजड़े के रूप में जीने और समाज द्वारा उपहास, अपमान और न अपनाये जाने का पीड़ा झेलने में, अपने वजूद के लिए संघर्ष में उसका सारा जीवन बीतता है।

इस उपन्यास में सबसे ज्यादा आकर्षित और प्रभावित करने वाला है पक्ष है उपन्यास के लिखे जाने के ढंग। आत्मकथात्मक उपन्यास होने के बावजूद उपन्यास के शुरूआती तीस पेज आत्मकथा शैली में नहीं हैं। हम सब जानते हैं कि आत्मकथात्मक उपन्यासों में व्यक्ति (कथा का नायक) सीधे-सीधे अपनी बात कहना प्रारंभ करता है। जैसे बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रथम उच्छ्वास से बाणभट्ट सीधे मैं शैली में अपनी कथा सुनाना आरंभ करता है। "यद्यपि बाणभट्ट नाम से ही मेरी प्रसिद्धि है; पर यह मेरा वास्तविक नाम नहीं है।.....मेरा जन्म जिस प्रख्यात वात्स्यायन-वंश में हुआ है...."शेखर एक जीवनी में भी शेखर पहले अध्याय प्रवेश में यह कहता है मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ। मैं अपने अतीत को दुबारा जी रहा हूँ। मैं जो सदा आगे ही देखता रहा, अपनी जीवन यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच कर पीछे देख रहा हूँ।" पर इस उपन्यास के ये शुरूआती तीस पेज पूरे नाटकीय अंदाज में अन्य शैली में लिखे गए हैं। जिसमें एक दृश्य उभरता है कि काली अंधेरी रात का। बीहड़ डरावने जंगल के बीचों बीच एक व्यक्ति जिसका चेहरा और पूरा शरीर काले कपड़ों में ढका है, एक सुनसान घर में अकेला है। घनघोर आँधी तूफ़ान के बीच उस अकेले डरावने माहौल में, बाहर चमकती बिजली सनसनाती हवाएँ और उसके बीच वह संघर्ष करती एक चिड़िया और हिचकौले खाती एक नाव को देख रहा है। चिड़िया बराबर उड़ने के लिए संघर्ष कर रही है, नाव अपने और अपने किनारों के बीच पसरी दूरियों को पाटने के लिए संघर्ष कर रही है। वह व्यक्ति जो एक काले साये की तरह है जिसके नैन-नक्श, आकार-प्रकार, रूप-रंग इत्यादि कुछ भी पता नहीं चल पा रहा है भीतर से चाहता है कि यह नाव अपना किनारा पा ले। वह चिड़िया अपना आसमान छू ले। इसी बीच उस घने जंगल के बीच ही उसके सामने एक के बाद एक ऐसे दृश्य उभरते हैं जिनके बारे में वह स्वयं बहुत उलझन में है कि बार बार दिखाई देने वाले ये लोग कौन हैं, उसे क्यों बार बार दिखाई देने वाले दृश्यों से उसका क्या संबंध है।

तो इस तरह लेखिका एक ओर पाठक के मन में जबरदस्त उत्सुकता, जिज्ञासा और बेचैनी पैदा कर देती है कि आखिर वह व्यक्ति कौन है?और इस भयानक अँधेरी रात में घनघोर जंगल के बीच सुनसान घर में क्या कर रहा है? एक के बाद एक उभरते दृश्यों में जो किरदार हैं, उनसे उसका क्या रिश्ता या लेना देना है? दूसरी ओर वह भयानक रात, उसमें फैला आतंक, उस काले लबादे में लिपटे साये की बेचौनी, छटपटाहट, बिना कोई पहचान लिये उसका वजूद पाठक को बाँध कर तो रखता ही है साथ ही वह गहरी व्यंजना लिये हुए है। एक ऐसा व्यक्ति जो कुरदत की नाइंसाफ़ी से न स्त्री है न पुरुष वह अपने आप को दे तो क्या पहचान दे। उसकी कोई पहचान समाज ने गढ़ी ही नहीं। वह समाज से बहिष्कृत है। समाज में तो क्या उसकी परिवार को भी कोई जरूरत नहीं। ऐसे में ऐसे व्यक्ति का जीवन वैसा ही है जैसा एक भयानक जंगल में घनघोर आँधी और तूफ़ान के बीच अंधेरे काले घर में बिना किसी साथी के बिना किसी पहचान के अकेले रहना। लेखिका बताना चाहती है कि ऐसे व्यक्ति के जीवन में अंधेरा ही अँधेरा है, उसमें उजाले की कोई किरण कभी नहीं आएगी। उसे अपने जीवन में उजाला लाने के लिए वैसे ही संघर्ष करना होगा जैसे वह व्यक्ति उस भयानक रात में अपने घर में बार-बार दिया जलाता है। उसे बराबर बुझने से बचाता है। उसका उस चिटिया की उड़ने के लिए मदद करना भी प्रतीकात्मक है। लेखिका बराबर संकेत देती चलती है कि इस काले साये की जिंदगी में इससे कम भयंकर तूफ़ान नहीं हैं बल्कि वह तो इनका आदि हो चुका है। ''उससे कहीं बड़ा तूफ़ान तो वो अपने भीतर समेटे बैठा था जिसके आगे ये तूफ़ान महज़ एक हवा के झोंके से बढ़कर और कुछ भी नहीं था।"

तो इस तरह एक ऐसा व्यक्ति जिसकी लैंगिक पहचान पूरी नहीं है वह अपने जीवन में कैसे रहता होगा ? कैसे उससे जूझता होगा? अपने जीवन संघर्षों में वह कितना अकेला होता होगा? और उसके जीवन संघर्ष उस काली भयंकर अंधेरी रात में आँधी तूफ़ान से अकेले संघर्ष करती उस चिड़िया के समान हो सकता है, इसका कुछ अनुमान कराने के लिए लेखिका ने यह प्रयोग किया है। जो बहुत

सार्थक बन पड़ा है। उस व्यक्ति का अपने ही वजूद को जानने समझने और उसे पूरी तरह से स्वीकार करने के संघर्ष में किन किन पड़ावों से गुजरना पड़ा इन सबकी झलकियाँ हमें इन तीस पेजों में ही मिल जाती हैं और अपनी इस पहचान को पाने की यात्रा का वर्णन जब कथा नायिका अमृता स्वयं करती है तो ये झलकियाँ जब एक के बाद एक उसके जीवन की निर्णायक घटनाओं और मोड़ों के रूप में उभरती हैं तो पाठक न केवल चमत्कृत होता है बल्कि कुछ सुलझा लेने की सी अनुभूति उसे होती है। जो कुछ पहेलियाँ सी कहानी में इन तीस पेजों में उभरती हैं वे जैसे बाद के पृष्ठों में सुलझा ली जाती हैं।

दूसरी बात जो इस उपन्यास में विशेष रूप से ध्यान आकर्षण का केन्द्र बनती है वह है लेखिका की दृश्य निर्माण की कला। बहुत से दृश्य हमारे सामने ऐसे उभरते हैं जैसे हम कोई फ़िल्म देख रहे हों विशेष रूप से इन तीस पेजों में जो-जो भी दृश्य उभरते हैं वे रूप, रंग, गंध और ध्वनि सबका असर पैदा करते हैं। भीतरी और बाह्य दृश्यों के निर्माण में जिस प्रकार की बारीकी चाहिये होती है वह हमें उपन्यास में नज़र आती है। वह चाहे प्रेम में एक दूसरे में समा जाने को बेताब प्रेमी युगल हों, या भयंकर आँधी और तूफ़ान का वह असर हो जो पाठकों के भीतर तक उतर जाता है। ''तेज़ हवा की टक्कर से रौशन दान का शीशा चटक गया और कमरे में हवा ने प्रवेश कर दिया जिससे कमरे में रखी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त हो गईं और अपनी जगह से दूर जा गिरी। ऐसा लगा जैसे शीशे की दुकान में कोई आवारा साँड घुस गया हो और मनमाने तरीके से तोड़फ़ोड़ मचा रहा हो।... तूफ़ान धरती को निर्वस्त्र करने पर तुला था और वो बार-बार अपने आँचल को समेटने के प्रयास में चीत्कार कर रही थी। बादलों की गर्जना जो भयानक और कर्कश थी, धरती पर विद्यमान प्रत्येक चीज को धमका रही थी। कुछ क्षण पूर्व की ख़ामोशी अब चीत्कारों में बदल चुकी थी।"

पहले तीस पेजों को पढ़ने का आस्वाद बाद में धीरे धीरे कम होने लगता है। ऐसा लगता है कि पहले तीस पृष्ठों में एक के बाद एक उभरते दृश्यों को सिलसिलेवार दिखाने और समझाने के लिए लेखिका ने बाद की कहानी को लिखा। अपने घर में घर वालों और दोस्तों रिश्तेदारों के द्वारा लगातार प्रताड़ित और अपमानित होने के बाद अंततः नायिका अमृता अपना घर छोड़ देती है। पर वहाँ भी उसकी पहचान उसका रास्ता रोके रखती है। असल में लम्बे समय तक वह स्वयं को एक हिजड़े के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती और इसी कारण वह बार बार मानसिक रूप से टूटती और बिखरती है। किंतु अमृता के संघर्ष की यह कहानी पाठकों के भावों का उद्वेलन तो करती है पर उनके दिमाग में वाजिब सवाल भी पैदा करती है। शुरुआती तीस पेजों की कहानी जितनी जीवंत मालूम पड़ती है बाद में कहानी के देशकाल और वातावरण को लेकर उतनी ही लापरवाह हो जाती है। शुरुआती तीस पेजों की कहानी नायिका के अंतर्मन की कहानी है जिसे दिखाने के लिए लेखिका ने छायावादी कवियों की तरह प्रकृति का सहारा लिया। यह प्रकृति भी कल्पनाजन्य है पर कथानायिका अमृता के भीतर के झंझावातों को साकार करने में कामयाब है। बाद की कहानी जो आत्मकथात्मक रूप में कही गई है उसमें बाह्य संसार और परिवेश भी होना चाहिए था जिससे कहानी अपने देशकाल और परिवेश के बीच प्रमाणिकता अर्जित कर पाती।

असल में लेखिका ने इतना भावुक हृदय होकर यह उपन्यास लिखा है कि भावनाओं का तीव्र आघात और प्रवाह तो पैदा होता है पर अपने समय के समाज, राजनीति, परिवेश और जीवन के अन्य जरूरी प्रसंग से कहानी का संबंध टूट जाता है। यह पता ही नहीं चलता कि कहानी किस प्रांत, अंचल विशेष की है। यहाँ तक कि कहानी में गुजरात का जिक्र एक बार आता जरूर है पर गुजराती जिंदगी का कुछ भी असर महसूस नहीं होता। इस कहानी का समय कौन सा है, अगर उसे 2021 का समय माने तो कहीं भी वह अपने समय से जुड़ता नहीं है। यहाँ तक कि वह किसी भी समय से प्रमाणिक रूप से नहीं जुड़ता है। वह हिन्दी के टी वी धारावाहिकों की तरह है जो अपने समय से पूरी तरह कटे होते हैं। उपन्यास के कथानक में सबसे ज्यादा अखरने वाली बात जो दिखाई देती है वह यह कि कथा नायिका अमृता को कब यह पता चला कि वह औरों से भिन्न है। उसके जन्म के साथ ही लोग उससे नफ़रत करने लगे, पर क्यूँ ? इस प्रश्न का उत्तर पैदा होने के साथ ही उसने कैसे जान लिया था? उसे पहली बार किससे पता चला अपनी भिन्न पहचान के बारे में? उसकी माँ उसे जन्म देते ही चल बसी थी और पिता ने उसे उसके पिता ने अपशगुन मानकर त्याग दिया था। उसे किसने बताया कि वह हिजड़ा है। इसी तरह उपन्यास के अंत में उसे एक दम सफ़लता की सीढ़ियाँ चढ़ाकर देश का सर्वोत्तम पुरस्कार तक दिलवा दिया जाता है वह भी अखरता है। यह समस्या लेखिका के अति भावुकता प्रधान रवैये के कारण पैदा हुई है पर उपन्यास की सेहत के लिए यह स्थिति ठीक नहीं है। जैसा कि लेखिका ने उपन्यास की भूमिका में बताया है कि उसे बचपन से ही हिजड़ों की स्थिति अपनी

ओर बहुत खींचती थी। वह उनके बारे में जानना और समझना चाहती थी। जितनी भी तथ्यात्मक सूचनाएँ लेखिका ने इस उपन्यास के जरीये प्रस्तुत की हैं वे उन्होंने अपने किसी इस पहचान के साथ जीने वाली फ़ेसबुक की दोस्त के माध्यम से जुटाई हैं। विशेष रूप से तीसरे लिंग या हिजड़ा समाज की सामुहिक संगठनात्मक व्यवस्था के बारे में जो कुछ बताया है। अरावन देव और किन्नर समाज की शादी की रस्म की जानकारी। किन्नर के रूप में अपनी पहचान बना चुकी लक्ष्मीशंकर त्रिपाठी की आत्मकथा से भी यह जानकारी मिलती है। अभी हाल ही में 'द बॉन्ड ऑफ़ लव- कम्पैनियनेट मैरिज, द डिजायर फ़ोर इनटिमेसी अमंग द हिजड़ास ऑफ़ हैदराबाद' गायत्री रेड्डी का कोई रिसर्च पेपर पढ़ रही थी जिसमें उन्होंने हैदराबादी समाज में हिजड़े लोगों की शादियाँ के बारे में बताया है। वहाँ पति जीवन साथी के रूप में होता है। यहाँ रिश्ता शारीरिक न होकर सामाजिक और भावात्मक होता है। जो आपके सुख दुख में जीवन में संकट के समय थामने के लिए होता है। वहाँ पत्नी के रूप में हिजड़ा पति के लिए उसकी अन्य सारी जरूरतें पूरी करता है। उसके लिए खाना बनाने से लेकर कपड़े धोने तक। वहाँ पति को दूसरी शादी करने की भी आजादी होती है जहाँ वह बच्चे पैदा करके अपना परिवार बढ़ा सके।

यह तो तय है कि लेखिका का इस संदर्भ में अपना कोई देखा सुना अनुभव नहीं है। यही वजह है कि लेखिका प्रमाणिक जानकारी और अनुभव के अभाव में अति भावुकता की शिकार हुई है। इस उपन्यास को लिखते हुए लेखिका का उद्देश्य, देखकर भी अनदेखा किये जाने वाले समाज के प्रति, विशेष रूप से उनके मानसिक और भावात्मक संघर्षों की ओर पाठक की संवेदना जागृत करना रहा है। पर यह उद्देश्य इतना ज्यादा उनके सामने स्पष्ट और प्राथमिक रहा जिसके चलते उपन्यास के कथानक की बुनावट में भाव पक्ष की प्रधानता ही रही। उपन्यास को पढ़ते हुए लगता है कि जैसे छायावादी काव्यात्मक गद्य का उन्मुक्त प्रवाह हो रहा हो। पर यह असर भी शुरुआती तीस पेज में ही होता है। लेखिका ने कथा नायिका अमृता के जीवन की त्रासदी को उभारने के लिए सायास घटनाओं का (दुर्घटनाओं) का चयन किया है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि शारीरिक विकलांगता को जीने वाले लोग कभी कभी इस कदर आत्म केन्द्रित हो जाते हैं कि अपनी पीड़ा, अपने अभाव के बाहर निकल कर देख और सोच ही नहीं पाते। बाहरी दुनिया अपने परिवेश के प्रति उनकी कोई समझ या दृष्टि नहीं बन पाती। तो क्या यह कहा जा सकता है कि कथा नायिका अमृता एक के बाद एक उन्हीं घटनाओं या कहें दुर्घटनाओं का जिक्र करती है। जिससे उसकी यंत्रणा और से और सघन होकर पाठक के समक्ष उभरकर आए? समाज ने भी यौनांगों की विकलांगता को सर्वोपरि रखा है। संतान पैदा न कर सकने की अक्षमता पुरुष को नामर्द और स्त्री को बाँझ बना देती है। उस पर उस अंग विशेष का ही न होना जो संतानोत्पति के लिए जरूरी है ऐसी स्थिति में तो समाज सिरे से उनकी जरूरत को खारिज कर देता है। वजह चाहे कुछ भी हो पर उपन्यास किसी गीतात्मक कविता की तरह लगता है जिसमें विभाव की उपस्थिति भी भाव की प्रधानता को उभारने के लिए ही हुई है। विशेष रूप से अनुराग की शादी में अपशगुन के निवारण के रूप में हिजड़ा होने कारण अमृता का दुल्हन के साथ विवाह से पहले कुछ दिन तक रहने की स्थिति, साथ पढ़ने वाले छात्रों द्वारा बलात्कार की कोशिश, स्त्री शौचालय के इस्तेमाल की घटना इत्यादि सायास निर्मित की हुई प्रतीत होती हैं जो नायिका के हिजड़ा होने के दंश को पाठक के भीतर अनुभव के स्तर तक उतार देने के लिए रची गई हैं।

बाबा साहेब की प्रतिमा वाला प्रसंग और उनके सिद्धान्तों के प्रति अमृता का लगाव जल्दबाजी में और सायास गढ़ा हुआ लगता है। लेखिका क्योंकि स्वयं दलित समाज से हैं। डॉ. अंबेडकर के प्रति उनका लगाव और समर्पण समझा जा सकता है। पर उपन्यास की नायिका जिसके बचपन से लेकर युवा होने तक उसके परिवेश में कहीं डॉ. अंबेडकर का जिक्र नहीं है उसके भीतर कब कैसे बाबा साहब के प्रति अपने मुक्ति दाता होने की समझ पैदा हुई? ऐसा लगता है यह सारी गफ़लत इस वजह से पैदा हुई है कि जब तक उपन्यास अन्य शैली में चलता है तब तक प्रभावी है पर जैसे ही वह मैं शैली में आ जाता है उसका प्रभाव क्षीण होने लगता है। यह विकलांगता अगर इसे विकलांगता कहें तो वह ऐसी है जिसमें अनुमान से काम नहीं चल सकता। इस उपन्यास को शायद पूर्णतः अन्य शैली में ही लिखा जाना चाहिए था।

डा. रजनी दिसोदिया
एसोशिएट प्रोफेसर
मिरांडा हाउस,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं में प्राचीन साहित्य और आधुनिक चेतना का सामंजस्य

—डा. संजीव कुमार पाण्डे

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की ख्याति एक महान् वैयाकरण भाषाविद् और साहित्य नियामक के रूप में है, लेकिन जो कार्य उन्होंने सर्वाधिक मात्रा में किया है, उसका मूल्य निर्धारण अक्सर कंजूसी के साथ किया जाता है। आचार्य द्विवेदी के संपूर्ण लेखन कार्य में सब से बड़ा हिस्सा उन के द्वारा किये गये अनुवादों का है आधे से भी कहीं अधिक फिर द्विवेदी जी का वास्तविक मूल्यांकन उन के लेखकीय व्यक्तित्व के इस सब से बड़े हिस्से को छोड़ कर सही-सही कैसे किया जा सकता है।

द्विवेदी जी के द्वारा किये गये अनुवाद कार्य को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहला किसी पुस्तक या लेख का पूरा-पूरा अनुवाद तथा दूसरा किसी पुस्तक या लेख के मूल भावों का मतलब, अर्थात् सार-संक्षेपण। उन्होंने पच्चीस ग्रंथों का अनुवाद किया। इस के अलावा उन की कुछ एक पुस्तकों, यथा सम्पत्तिशास्त्र में कुछ परिच्छेद या अध्याय अनूदित हैं। आचार्य द्विवेदी के तीन सौ से भी अधिक अनूदित लेख सरस्वती और अन्य सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इकत्तीस लेख संग्रहों में उन के अधिकांश अनूदित लेख संकलित हैं। कई लेख अभी तक असंकलित हैं। अनुवाद को द्विवेदी जी इतनी महत्ता देते थे कि सरस्वती के विविध विषय शीर्षक से निकलने वाले अपने संपादकीय में भी वे प्रायः किसी न किसी उपयोगी बात को अनूदित कर प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार यदि योग किया जाए तो उन का संपूर्ण अनूदित वाङ्मय अत्यंत विशाल ठहरता है।

आचार्य द्विवेदी की वैचारिकता का केंद्रीय तत्त्व उन का सूक्ष्म समाज-बोध था। उन के सभी रचनात्मक कार्य और सभी निष्कर्ष अंततः उन के समाज-बोध पर आधारित थे। द्विवेदी जी की स्पष्ट मान्यता थी कि जिस साहित्य का समाज के हित में उपयोग न किया जा सके, उस का कोई मूल्य नहीं है। अर्थात, किसी कृति की सामाजिक उपयोगिता ही उसे मूल्यवान बना सकती है।

मुख्य बिन्दु

वैयाकरण, भाषाविद्, नियामक, अनुवादों, मूल्यांकन, सार-संक्षेपण, सम्पत्तिशास्त्र, परिच्छेद, अनूदित, असंकलित, सामयिक, वैचारिकता, रचनात्मक, उपयोगिता।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि उन्होंने अपने युगीन यथार्थ से संघर्ष करने की प्रेरणा और उत्साह भारत के प्राचीन गौरव से प्राप्त किया। उन्होंने भारतीय जनता को भारत के स्वर्णिम अतीत की याद असंख्य बार दिलाई। एक गुलाम बन चुकी जाति के आत्म गौरव की पुनर्स्थापना का यही एक तात्कालिक उपाय था।

भारत का स्वर्णिम अतीत द्विवेदी जी के लिए केवल प्रेरणास्पद या उत्साह प्रदत्त नहीं था, बल्कि उन्होंने इस अतीत का बहुआयामी उपयोग किया। उन्होंने भारत के अतीत से बहुत कुछ सीखा और सर्वसाधारण को सिखाया।

एक साहित्यकार और सम्पादक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य को आधुनिक सोच में ढालने के लिए आंदोलन छेड़ रखा था। इस आंदोलन का प्रभाव हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग और प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा। इस साहित्यिक आंदोलन में भी द्विवेदी जी ने भारत के स्वर्णिम अतीत का उपयोग किया।

कुछ लोगों को आधुनिकता और अतीत के बीच विरोधाभास दिखाई पड़ सकता है, किन्तु ऐसा है नहीं। उन्होंने अतीत का उपयोग आधुनिक संदर्भों में करते हुए उसे भी आधुनिक अर्थवत्ता से युक्त कर दिया। अतीत का विवेकपूर्ण उपयोग करते हुए उन्होंने अतीत को आधुनिकता का सहयोगी बनाया। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि अतीत के जिस पक्ष को उन्होंने आधुनिक भाव-बोध के विपरीत पाया, उस की आलोचना करने में भी वे पीछे नहीं हटे।

''अपनी साहित्यिक आलोचना और रचना-प्रक्रिया में द्विवेदी जी ने संस्कृत के प्राचीन गौरव ग्रंथों का सर्जनात्मक उपयोग किया। 1910 ई. में उन की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई—नाट्यशास्त्र। इस का प्रकाशन इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा किया गया। नाट्यशास्त्र में द्विवेदी जी ने भरत, भामह, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत के लगभग सभी मुख्य आलोचकों (आलंकारिकों) के सूत्रों का अर्थ प्रस्तुत करते हुए उन का विश्लेषण किया। अपने विश्लेषण में द्विवेदी जी का ज़ोर इस बात पर था कि कौन-से विचार उन के समय के लिए सारवान हैं और कौन से नहीं। अपनी व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने संस्कृत आलोचना परंपरा के इन सार्थक एवं उपयोगी विचारों का यथा योग्य प्रयोग किया।''[1]

1789 ई. में विलियम जोन्स द्वारा अभिज्ञानशाकुंतलम् का अंग्रेजी अनुवाद किया गया। इस अनुवाद के माध्यम से पूरे यूरोप में कालिदास की धूम मच गई। कालिदास के साथ भारतीय काव्य-कला भी गौरवान्वित हुई। अब तक जंगली समझे जा रहे भारत को नई दृष्टि से देखा जाने लगा।

द्विवेदी जी ने संस्कृत साहित्य में कालिदास को सर्वोच्च आसन और आदर दिया, क्योंकि आधुनिक काल में कालिदास के ही माध्यम से भारत को संसार और विशेष रूप से यूरोप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी किन्तु द्विवेदी जी के मन में कालिदास के प्रति विशेष स्थान का सिर्फ यही एक कारण नहीं था। संस्कृत साहित्य में कालिदास उन के सब से प्रिय कवि थे। कालिदास की काव्य-प्रतिभा उन के लिए जितनी आह्लादकारी थी, उतनी ही प्रेरणादायक भी।

अपने रीतिवाद विरोधी आंदोलन में उन्होंने कालिदास का जम कर उपयोग किया। सरल तथा कम शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कह देने की कालिदास की प्रतिभा से वे अभिभूत थे। रीतिवाद के विरोध में उन्होंने व्यर्थ अलंकारों से दूर, सरल शब्दों वाली प्रसाद गुण से युक्त भाषा का पक्ष लिया। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने कालिदास के प्रसिद्ध ग्रंथ मेघदूत की भाषा की विशिष्टता पर प्रकाश डाला। 1917 ई. में इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित मेघदूत के अपने अनुवाद की भूमिका में उन्होंने सर्वसाधारण की समझ में आनेवाली प्रसाद गुण युक्त भाषा की उपयोगिता का वर्णन किया।

''अतएव, जिस काव्य में करुणार्द्र सन्देश और प्रेमातिशय द्योतक बातें हों उस में प्रसाद गुण की कितनी आवश्यकता है, यह सहृदय जनों को बताना न पड़ेगा। प्यार की बात यदि कहते ही समझ में न आई कारुणिक सन्देश यदि कानों की राह से तत्काल ही हृदय में न घुस गया तो उसे एक प्रकार निष्फल ही समझिए। प्रेमालाप के समय कोई कोष लेकर नहीं बैठता। करुणाक्रन्दन करने वाले अपनी उक्तियों में ध्वनि और व्यंग्य की क्लिष्टता नहीं लाने बैठते। वे तो सीधी तरह, सरल शब्दों में, अपने जी की बात कहते हैं। यही समझकर महाकवि कालिदास ने मेघदूत को प्रसाद गुण से पूर्ण कर दिया है। यही सोचकर उन्होंने इस काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है चुन-चुनकर सरल और कोमल शब्द रखे हैं।''[2]

उपर्युक्त विवेचना में उन्होंने प्रसाद गुण का समर्थन तो किया ही है, साथ ही हम यह भी देख सकते हैं कि किस प्रकार अपनी व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने विभिन्न

संस्कृत काव्य-संप्रदायों के मतों का उपयोग किया है।

द्विवेदी जी जिस प्रकार की कविता के समर्थक थे, उस का संबंध स्वच्छंदतावाद से है। प्रकृति के उदात्त स्वरूप का चित्रण एवं उस का मानवीकरण स्वच्छंदतावाद की मुख्य प्रवृत्ति है। द्विवेदी जी का मानना था कि मनुष्य प्रकृति में ही निवास करता है, अतः प्रकृति प्रांगण के चल-अचर प्राणियों का वर्णन और उन से प्रेम की अभिव्यक्ति भी काव्य का मुख्य विषय है। मेघदूत में उन्हें अपने विचारों का प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। मेघदूत का प्रकृति-वर्णन स्वच्छंदतावाद से एकात्म स्थापित कर लेता है। यक्ष मेघ को अलका जाने का मार्ग बताता है। उज्जयिनी के आगे बढ़ने पर पड़ने वाली निर्विन्ध्या नदी के मानवीकरण के वर्णन को अनूदित करते हुए द्विवेदी जी की विकलता और रूमानियत देखने लायक है।

''मार्ग में निर्विन्ध्या नाम की नदी बड़े प्रेम से तेरा स्वागत करेगी। तीर पर बैठे हुए हंसों की पंक्ति को वह तागड़ी के समान दिखावेगी और लहरों की हिलोरें लगने पर हंस जो मधुर शब्द करेंगे उसे वह तागड़ी के घुँघरूओं की झनकार के समान सुनावेगी। तू देखेगा कि वह बल खाती हुई कैसी अनोखी चाल से जा रही है और भँवर रूपी नाभि को किस अपूर्व कौशल से दिखा रही है। बात यह है कि अपने प्रेम पात्र के सम्मुख हाव-भाव प्रकट करना ही स्त्रियों का पहला प्रणय सम्भाषण है। अतएव तुझे लुभाने के लिए किये गये इन विलास विभ्रमों का आनन्द लूटकर निर्विन्ध्या के रसग्रहण में कुछ भी संकोच न करना।''[3]

द्विवेदी जी साहित्य में मर्यादा और आदर्श के अत्यधिक पक्षधर थे। साहित्य में लोक मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए और रचना में प्रस्तुत समस्या का नैतिक एवं आदर्शपरक समाधान प्रस्तुत किया जाना चाहिए। कुमारसम्भव के आठवें सर्ग में शिव-पार्वती के प्रणय दृश्यों की भरमार है। शिव-पार्वती हिन्दू धर्म में जगत के माता-पिता माने जाते हैं। अतः साहित्य में सामान्यतः उनके शृंगार वर्णन पर प्रतिबंध है। 1902 ई. में द्विवेदी जी ने कुमारसम्भव का अनुवाद कुमारसम्भवसार नाम से किया। इस अनुवाद में उन्होंने केवल प्रथम पाँच सर्गों का ही अनुवाद किया है। 1915 ई. में उन्होंने दुबारा कुमारसंभव का अनुवाद किया। इस का प्रकाशन 1917 ई. में इंडियन प्रेस, प्रयाग से हुआ। कुमारसम्भव के अपने दूसरे अनुवाद में उन्होंने कालिदास-प्रणीत माने जानेवाले सत्रह में से सभी आठ सर्गों का अनुवाद किया। आठवें सर्ग में उन्होंने मर्यादा-बोध का प्रयोग करते हुए तमाम परिवर्तन किए। एक प्रकार से यह आठवाँ सर्ग कालिदास कृत न लग कर द्विवेदी जी कृत ही लगता है।

कालिदास का रघुवंश और तुलसीदास की रामचरितमानस द्विवेदी जी के सब से प्रिय ग्रंथ थे। द्विवेदी जी का मर्यादावाद और आदर्शपरता इन ग्रंथों के मूल तत्त्व हैं। रघुवंश के 1915 ई. में प्रकाशित अपने अनुवाद के माध्यम से द्विवेदी जी ने मनुष्य के सामाजिक कर्त्तव्यों और उसके आदर्शों का वर्णन किया है।

भारवि के उक्ति वैचित्र्य और वर्णन विस्तार से द्विवेदी जी की दूरी थी। 1916 ई. में प्रकाशित किरातार्जुनीय के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में भारवि की इन प्रवृत्तियों को उन्होंने दुर्गुण माना। किन्तु भारवि की वक्तृत्वता कला की उन्होंने सराहना की और उसे संवाद योजना की कसौटी के रूप में चिह्नित किया।

वक्ता कैसा होना चाहिए और बात कैसी कहनी चाहिए, यह कोई भारवि से पूछे। इसका निरूपण पहले तो उन्होंने किरातार्जुनीय के दूसरे सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से, फिर चौदहवें सर्ग में अर्जुन के मुख से कराया है–

''स्फुटता न पदैश्पाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता प थगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित्॥''[4]

अर्थात् बात ऐसी कहनी चाहिए कि वह स्पष्ट हो उस का आशय झट समझ में आ जाए। उस में अर्थ गौरव भी हो और पदों या शब्दों में अन्योन्य सम्बन्ध भी हो। पुनरुक्ति न आने पावे।

द्विवेदी जी को भारवि की वक्तृता कला इसलिए रुचिकर लगी, क्योंकि वह उन के प्रसाद गुण की अवधारणा का समर्थन करती है। दरअसल द्विवेदी जी अंधे की तरह हाथ पकड़ कर चलने वाले व्यक्ति नहीं थे वे विवेक रूपी नेत्रों से देखते हुए अपने समय और समाज के अनुरूप आगे बढ़ रहे थे तथा नई एवं आधुनिक संभावनाओं का मार्ग तलाश रहे थे। संस्कृत साहित्य के जिस भी तत्त्व का उन्हें आधुनिक भाव-बोध से विरोध जान पड़ा, उसे त्यागने में उन्होंने कोताही नहीं दिखाई।

प्राचीन साहित्य से हिन्दी भाषी जनता को रू-ब-रू कराने के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने समकालीन साहित्य को परिष्कृत करने का भी आंदोलन छेड़ा। द्विवेदी जी के लिए साहित्य की कसौटी समाज था। अब अगर साहित्य को पढ़ने वाला ही कोई न हो तो साहित्य बेचारे की क्या दशा होगी? इसीलिए द्विवेदी जी ने अच्छी, जनोपयोगी तथा रुचिकर पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करने पर विशेष बल दिया, ताकि हिन्दी में पाठकों के एक बड़े समूह को स्थापित किया जा सके।

''हिन्दी का साहित्यिक परिष्कार करते हुए आचार्य ने रीतिकाल के प्रत्येक चिह्न को समाप्त किया। इस संदर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण था पद्य में ब्रज भाषा की समाप्ति एवं खड़ी बोली का व्यापक उपयोग।''[5]

भारतेन्दु युग में खड़ी बोली गद्य की व्यापक स्थापना के पीछे तर्क यह था कि ब्रजभाषा नये युगीन विचारों को धारण करने में सक्षम नहीं है। द्विवेदी जी ने इस तर्क का प्रसार खड़ी बोली पद्य के समर्थन में किया। यदि गद्य बौद्धिक एवं वैचारिक तरीके से जनसामान्य का संस्कार करता है तो पद्य भी जनसामान्य के हृदय को परिष्कृत करता है। इस प्रकार पद्य को अनिवार्यतः रीतिवादी धारणाओं से मुक्त किए जाने की ज़रूरत थी। भारतेन्दु की मृत्यु के तुरन्त बाद ही श्रीधर पाठक ने अपनी अनूदित काव्य-कृतियों के माध्यम से खड़ी बोली में सुन्दर काव्य रचना प्रस्तुत की । द्विवेदी जी श्रीधर पाठक से अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने 1900 ई. में कुमारसंभव का अनुवाद कुमारसंभवसार शीर्षक से परिमार्जित खड़ी बोली पद्य में किया। यह अनुवाद सफल रहा। 1902 ई. में इस काव्य-कृति के प्रकाशन के बाद द्विवेदी जी ने खड़ी बोली में पद्य रचना को प्रोत्साहित करना अपना लक्ष्य बना लिया।

हिन्दी भाषा का विकास करने के क्रम में आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की निर्मिति में अपना अमूल्य योगदान दिया। अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र जैसे कई विषयों से संबंधित पारिभाषिक पदों का हिन्दी में अभाव था। अनुवाद कर्म के दौरान द्विवेदी जी ने इन विषयों से संबंधित नवीन पदों की निर्मिति की। हिन्दी भाषा में विविध विषयों की उच्च शिक्षा सुलभ होने की आचार्य द्विवेदी की इच्छा इस महान् उद्यम के बगैर कदापि संभव नहीं थी।

पारिभाषिक पदों का निर्माण करने में आचार्य द्विवेदी ने प्रचलित शब्दों को ही आधारभूत रूप में ग्रहण किया। कोई भी शब्द न तो उन्होंने गढ़ा और न ही कृत्रिम ढंग से बनाया। केवल शब्दों के समन्वय में नयापन है और इसी नयेपन के माध्यम से उन्होंने पारिभाषिक पदों का अर्थ निर्मित किया। यह हिन्दी भाषा में नये संदर्भों एवं अर्थवत्ता की संभवतः पहली व्यापक खोज थी।

इस प्रकार शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय ज़रूरत रही हो, जिस पर आचार्य द्विवेदी ने विचार न किया हो। अनुवाद कर्म के माध्यम से साहित्य को युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप दिशा देते हुए आचार्य ने एक युग का निर्माण किया।

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-281
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रचनावली भाग-11, पृ. 355
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रचनावली भाग-11, पृ. 366
4. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रचनावली भाग-12, पृ. 422, 423
5. अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन, रमण प्रसाद सिन्हा, पृ. 34

डा. संजीव कुमार पाण्डे
ग्राम-अमरेथू, पोस्ट-नौहरा
जिला आजमगढ़, उ.प्र.

सुमित्रानन्दन पन्त के कथा साहित्य में मानवेतर या दिव्य जीवन मूल्य और सौन्दर्य चेतना का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—अशोक कुमार यादव

शोध सार

पन्त जी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। प्रकृति का कवि प्रकृति के आँचल में पला-बढ़ा और प्रकृति का ही होकर रह गया। हिमालय के सान्द्र उपत्यका में अद्‌भुत कवि का मन प्रकृति सुन्दरी को निहारने में जो बार-बार निमग्न होता रहा उसका कारण, प्रकृति की सुरम्य गोद में जन्म लेना ही है। स्वयं पन्त जी ने स्वीकारा है कि उनके कवि बनने का श्रेय उनकी जन्म भूमि को है, अकारण नहीं है कि उनहोंने प्राकृतिक सौन्दर्य का बहुविध एवं बहुमुखी वर्णन तो किया ही है, जब मानवीय धरातल पर उतर कर मानव समस्याओं को कविता का विषय बनाया, तब भी प्राकृतिक उपादानों का सहारा लिया और बाद में अपने आध्यात्मिक एव दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भी लगभग सारे प्रतीक प्रकृति से ही चुनते रहे। निःप्रश्न पन्त जी की साहित्य सर्जना पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश की बहुत आभारी है।

पन्त जी के काव्य विकास के क्रम में हम पाते है कि कवि ने कुशल चित्रकार की भाँति मानव जीवन के को स्वीकारा है और नाना रूपों में जीवन मूल्य तथा सौन्दर्य के आर्दश मान दण्ड को स्थापित किया है।

मुख्य बिन्दु

मानवेतर, दिव्य, सौन्दर्य, उच्चतम, बाध्य, इंगित, चमकते, अभिहित।

सुमित्रा नन्दन पन्त के कथा साहित्य में मानवेतर या दिव्य जीवन मूल्य और सौन्दर्य चेतना का विश्लेषणात्मक अध्ययन

शोध प्रपत्र

मानवेतर या दिव्य जीवन मूल्य और सौन्दर्य चेतना पन्त जी की सशक्त लेखनी मानव जीवन मूल्यों और सौन्दर्य के विविध रूपों को साथ लेकर चलती हुई क्रमशः दिव्य या मानवेतर जीवन मूल्यों के उच्चतम आदर्श युक्त सौन्दर्य पर पहुँची, जहाँ क्षण भर को कवि यर्थाथ के धरातल से ऊपर उठकर कुछ सोचने को बाध्य हो जाता है फूलों में किसका रंग है, कलियों को मुस्कान कहाँ से मिली, तारे किसके इंगित पर चमकते हैं। सूर्य किस सन्ता के वशीभूत होकर यथानियत समय पर उदित होता हैं? आदि नाना जिज्ञासाएं कवि का ध्यान उस ओर आकर्षित करती हैं, कोई अज्ञात, अनाम, अद्‌भुत शक्ति है जो इस संसार से पृथक है, कवि उसी को दिव्यनाम से अभिहित करता है। एक विराट चौतन्य सन्ता के प्रति कवि नमित हो जाता है। परियाँ, अप्सराएं किन्नर आदि इसी कोटि में आते है। ऐसी अपूर्व शक्ति के बारे में कवि कहता है।

''तुम अदृश्य हो दृग अगम्य हो।''[1]

अदृश्य और अगम्य कह कर पन्त जी ने उसे मानव और प्रकृति से पृथक कर दिया किन्तु दृग अगम्य को भी पन्त जी ने अपनी कुशल लेखनी से जिना सुन्दर चित्रण किया है वह महत्वपूर्ण है। यह अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरि पन्त जी को इस तरह भा गई कि उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों अज्ञात लोग से उनका बुलावा आने लगा हो–

''न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन।''[2]

परियों को निर्जल सरसी कवि को प्रिय लगती है और उनके नेत्रों को ये छाया छवियां मनमोहित करती हैं। कल्पना जीवी होने के कारण पन्त जी को परियों का संसार स्वप्निल प्रतीत होता है। स्वर्ग की परियों का संसारिक कवि के अन्तस में उसके प्रति जिज्ञासा और सौन्दर्य जाग्रत करता है।

दिव्य सौन्दर्य का आंकलन करने में कवि ने अप्सरा, परियां किन्नर आदि का वर्णन किया है। ये अदृश्य, अस्पृश्य और अलौकिक है। वैसे भी छायावादी काव्य कवि की भावना ये का काव्य है अतः लोकोन्तर रूप विधान कर कवि संतुष्टि का अनुभव करता है। प्रकृति का रंगा-रंग आकर्षण कवि ने युवा मन से समाप्त होकर अपना स्थान स्वप्न वाटिका में विचरण करने वाली परियों, अप्सराओं को दे दिया। जो नाना रूप धर, नाना परिधान धारण कर कवि को लुभाने लगी और कल्पना जीवन, सौन्दर्य प्रेमी कवि लोलुप हो उसके पीछे भागने लगा। कवि को उसके अंग प्रत्यंग में प्रतिफल बसन्त जैसी सुकुमारता दिखाई देने लगी। वह यौवनमयी नित्य नवीन अप्सरा कवि के प्राणों को रस से सरोबोर करने लगी। पन्त जी नारी व्यक्तित्व के लिए भी एक मत नहीं हो पाते है। नारी के आकर्षण ने उनकी आँखो को चका चौध कर दिया है और वे कह उठे-

''नारी कि अप्सरा या माया
इतना ही नही, तन्मय होकर निर्निमेष निहारते रहे
क्षण भर भी अपलक रह जाते होंगे लोचन
सुरांगनाओं का सौन्दर्य विलोक अपरिमित,
देह सिखाओं से उन्नत यौवन की आभा
फूट-फूट कर विस्मय से भरती होगी मन।''[3]

विस्मय विमुग्ध कर देने वाला सुरांगनाओं का सौन्दर्य सम्मोहन शील है। साथ ही साथ अप्सरियों की लावण्य चू-डसी पीन श्रोणि देखकर कवि चकित हो जाता है। अप्सरियों के रजित पदों का मौन गुन्जन सुर-नर मोहन है। नारी का सहज लज्जालु व्यक्तित्व पन्त के लिए प्रेरणा बना जिसके स्पर्श में उन्होने प्राणदायिनी शक्ति का अनुभव किया, लेकिन बदलते परिवेश में रूज लिपिस्टिक, ब्रैस्टिक पाउडर से सुसज्जित मुख मण्डल वाली आधुनिकता ने भी कवि को अपने आलोक पाश में बांध लिया और कवि अप्सरियों के जग में ही खोकर रह गया। जहाँ उसे बन परियाँ धूप-छाँह की साड़ी पहने दिखाई देने लगी, साथ ही साथ वह आधुनिकता भी पन्त जी को कम रूचिकर नहीं लगी, तभी उन्होंने उसकी सौन्दर्याविष्ठित चंचलता का रसास्वादन करते हुए कहा है कि–

''तुम फिरती अप्सरि सी चंचल''[4]

चंचलता का अंकन ऐसा द्योतित करता है कि परियों में सामान्य से अधिक गतिशीलता तथा लावण्य होता है।

कवि का प्रेम सौन्दर्य प्रिय मानस परियों किन्नरियों में डूब- डूब गया और वे नाना रूपों में अप्सरा रश्मिमयी झांकी प्रस्तुत करने लगे। कवि की चिर प्रेयसी दिव्य सौन्दर्य से मण्डित है।

''स्वच्छ कुंद की कलियों का तन
सुरभि रहित सौरभ का शुचि मन
ज्योत्सना से गुंठित शशि आनन
अवनि अनिल आकाश में बसी।''[5]

मर्यादा पुरूषोतम भगवान श्री राम का महिमा मण्डित

उदात्त रूप कितना आकर्षक है

''देख रहा मैं बिस्मित लोचन
धीरे राम तुम्हें आभा घन,
दीपक की निष्कम्प शिखा तुम
अमित ज्योति मण्डल से मंडित।''[6]

अप्सरा परी के दिव्य सौन्दर्य चित्रण के अतिरिक्त कवि ने राम, इन्द्र, हनुमान आदि शक्तियों का भी सौन्दर्य वर्ण किया है। जिस प्रकार ओज, गुण, उदात्त, जीवन के मूल्य हैं उसी प्रकार उन दिव्य पात्रों का सौन्दर्य की महिमा कल्याणकारी वृत्ति और पौरूष में है। तभी कवि कल्याण हेतु इन्द्र का आह्वान करता है–

''प्रशु प्रवृत्तियां छिन्न करो, हे प्रबल वृतहन्।
इन्द्रदेव तुम, स्वभू सत्य, सर्वज्ञ दिव्यमान
स्वर्ग ज्योति, चित्र शक्ति मर्त्य में लाते अनुक्षण

देव का अभूतपूर्व सौन्दर्य देखकर कवि तन्मयता की स्थिति में पहुँच जाता है। नव्यता और जीवन से ओत प्रोत दिव्य सौन्दर्य सराहनीय है।

शुभ चेतना की अप्सरियां तथा शोभा की प्रतिनिधि प्रिय रंग अप्सरि के अद्वितीय सौन्दर्य ने कवि की भावनाओं को संतुष्टि प्रदान की, क्योंकि सुन्दर वस्तुओं में ही उनकी वृत्ति रमती है। कवि के स्पप्न लोक को झंकृत करने वाली स्वप्नों की अप्सारया दिव्य शोभा से आवेष्ठित हैं। पन्त जी को यह मानवेतर या दिव्य सौन्दर्य प्रियता उनके सुन्दरम के कवि होने की साक्षी है। नूपुर की ध्वनि करती हुई अप्सरा कितनी शोभा सम्पन्न प्रतीत होती है–जिन पर इन्द लोक की सम्पूर्ण संपदा न्योछावर है।

जीवन सौन्दर्य की दिव्य सत्ता में पन्त जी ने अद्भुत सुषमा के दर्शन किये, के साथ ही साथ उसमें मादकता, लज्जा और सुकामारता भी समाहित किया। स्वर्णिक अप्सरि का रूप कितना मोहक है।

आलौकिक या मानवेतर सौन्दर्य अद्भुत और अनुपम है। कहीं-कहीं प्रतीक योजना द्वारा भी पन्त जी ने अप्सराओं के नाना रूपों का उल्लेख किया है। कवि पन्त का कलाकार अप्सरा के आकर्षण, सौन्दर्य की मधुरिमा में बरबस खिंचा चला जाता है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य की जो विजयिनी पताका पन्त जी के हाथ में थी, जगती के प्रत्येक सौन्दर्यपूर्ण उपादानों पर फहराती रही, कहीं भी किंचित अभाव का अहसास नहीं हुआ, चाहे वह नारी हो या पुरुष, शिशु हो या प्रकृति। दिव्य सौन्दर्य की अनुपम योजना पन्त जैसे सफल सशक्त, सरस कलाकार की मौलिक उद्भावना हैं जो पूर्ण रूपेण आह्लादकारिणी सिद्ध हुई है। पन्त जी की सौन्दर्य दृष्टि मात्र सौन्दर्य परक ही नहीं रहीं अपितु उसी सौन्दर्य रस में जीवन का अमूल्य रस पन्त जी ने घोल दिया है।

सन्दर्भ सूची

1. पन्त, वीणा, ग्रन्थावली, पृ. 94
2. पन्त, पल्लवल, ग्रन्थावली, पृ. 195
3. पन्त, युगान्तर, पृ. 49
4. पन्त, युगान्तर, पृ. 83
5. पन्त, स्वर्ण किरण, पृ. 42
6. पन्त, स्वर्ण किरण, पृ. 161

अशोक कुमार यादव
शोध छात्र (हिन्दी विभाग)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जलबपुर (म.प्र.)

रमेशचन्द्र शाह के उपन्यास 'कथा सनातन' में राजनीति, धर्म और ऐतिहासिकता का विश्लेषणात्मक अध्ययन

—डा. कृपाशंकर

शोध सार

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के संदर्भ में धर्म का विशेष महत्व है। यह कट्टरपंथियों एवं रूढ़िवादियों को सबसे अधिक अपनी तरफ आकर्षित करता है। निरक्षर, साक्षर, गरीब, अमीर, आस्तिक आदि सभी धर्म से प्रभावित हैं। धर्म ने जहाँ देश को जोड़ा है, वहीं इसे तोड़ा भी है। इस देश को श्रेष्ठ बनाने में धर्म ने जहाँ अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। मान्यता है कि धर्म के आगे ईश्वर भी झुक जाते है और इस धर्म के स्वार्थ में कितनों ने प्राणों की बलि दे दी। धर्म के लिए प्राणों की बलि आज भी दी जाती है, परन्तु जहाँ धर्म का नाम अदर के साथ लिया जाता था वहीं अब यह घृणा का कारण भी रहा है। आज के बदलते परिवेश में इसने भी अपनी पहचान मिटा दी है। सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि ऐसे धार्मिक नेता थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं से धर्म के प्रकाश को और प्रकाशित किया।

उपन्यास में नायक को धर्म का प्रभाव, परिचय अपने पिताजी से मिलता है। नायक के स्वप्न में अचानक एक दुर्घटना का दृश्य आया, उन्होंने सोचा कि मृत्यु, मौत का ताण्डव नृत्य तो हर पल, हर छिन और हर कहीं चलता आ रहा हैं। इसलिए कहा कि, तुम्हारे हाथ में क्या है? तुम्हारे हाथ में तो तुम्हारा अपना जीवन भी नहीं है, तुम्हारा अपना मन भी नहीं है।

जीवन एक अलभ्य वरदान है, अखंड सौभाग्य है। इस सबके बावजूद आखिर यह सनातन नाम का मानव जीव ही न है जो अपने समूचे अन्यः कारण से यह विश्वास करना चाहता है कि, धर्म और सम्प्रदाय को शोषण का माध्यम बनाकर जिन महतों, मठाधीशों, पंडितों, मुल्लाओं, पादरियों, जमींदारों या पूजीपतियों ने आम लोगों को लूटा है। इस लूट से हम अपना ज्ञान से बचना है। सभी धर्म में मानवता को प्रधानता दी गई है। हमारा धर्म स्वार्थ के बल पर टिका हुआ है। आज हमारे देश में धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर एक से समस्या खड़ी होती जा रही है। सच तो यह है कि मूल स्वरूप ही

विकृत हो चुका है और व्यवहारिक रूप में जो घटित हो रहा है।

मुख्य बिन्दु

सभ्यता, संस्कृति, कट्टपंथियों, रूढ़िवादियों, आकर्षित, निरक्षर, आस्तिक, प्रकाशित, दुर्घटना, अखंड सौभाग्य, सनातन, सम्प्रदाय, मठाधीशों, पूजीपतियों, विकृत, व्यवहारिक।

शोध प्रपत्र

हिन्दी उपन्यासकार रमेशचन्द्र शाह के उपन्यासों में एक है कथा सनातन। युवन सनातन उर्फ सनत का, या अपने स्वप्न की कहानी है कथा सनातन। नायक एक ही पात्र, अपने स्वप्न के माध्यम में सनातन, सनक, सनत्कुमार, सनन्दन ऐसे चार पात्र बना लिये हैं। हर एक पात्र में भी हर एक व्यक्तित्व है। एक ही शरीर में चार इन्सान का भाव है। बीच बीच में उपन्यास पढ़ते समय यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास ऐसा लगता है। नायक स्वप्न में अपना अतीत और भविष्य के बारे में सोचता है। मनुष्य के पालन पोषण अपने माता-पिता से ही शुरू होते हैं। हर एक व्यक्ति की खोज सुख की खोज है।

जीवन बहुआयामी, बहुउद्देशीय, अनमोल और कुछ हद तक रहस्यमय भी है। इसलिए जीवन को पूर्णता से जानना व समझना बहुत ही कठिन है। यह बात उन सभी महान विभूतियों ने कही है जिन्होंने जीवन-भर तप किया (सत्य बोलना सबसे बड़ा तप है) और अपने सादा व सरल जीवन से ही मानव जाति की सेवा की व गुणात्मक सीखा या शिक्षा दी।

''बल्कि, उन दिनों इन पर आर्यसमाज का भूत इस कदर सवार था कि इनका बस चलता तो अपना सरनेम भी बदलकर आर्य कर लेते। उन दिनों कई सारे लोग अपने नाम के आगे आर्य लगाने लगे थे और आर्य समाज न केवल इस पुनीत कार्य में उनकी मदद कर रहा था, बल्कि खुद आगे बढ़कर उन्हें इसके लिए उकसावा बढ़ावा भी दे रहा था।''[1]

जो धर्म मनुष्य के आंतरिक स्वातंत्र की ही कद्र नहीं करता, उसे अमान्य करके ही खुद को मनवाता है, वह आंरभदूषित है। उसका लोप अवश्यंभावी है। खुद मनुष्य के अपने साक्षात् अनुभव से सत्यापनीय है। जिंदगी और मौत के बीच में हुए इस जीवन के बारे में वह स्पप्न में देख रहा है। जीवन की घूतक्रिड़ा में अपना हर दाँव हार जाने को अभिशप्त एक शाश्वत शिशु की भाँति लापरवाह और गैरजिम्मेदार घोर दारिद्र और अवमानना के बीचोबीच अपनी धूनी रमाए वह गृहस्थ जोगी, आशा-निराशा के बीच के फर्क को ही मटियामेट कर देने वाला वह असाध्य अकुण्ठ आशावादी, जिसकी अमानुषिक सहनशीलता ही मानो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर साल में सिर्फ एक-दो बार बीच बाजार में, अचानक विस्फोट कर देती—ऐसे जीवन की कई विस्फोट के बारे में वह चिन्तन करता हैं।

हम सब जानते हैं कि जीवन संघर्षमय प्रक्रिया है। सुख-दुःख जीवन के सिक्के दो पहलू हैं। बिना कष्ट के जीवन नीरस ही होता है। जो शिक्षा, सीख दुखों से मिलते है, वह आनंद सुख से नहीं मिल सकती। विफलता ही सफलता की सीढ़ी है, गंभीर-भाव नम्र विचारधारा, पर दृढ़ इच्छा शक्ति वाले सरदार पटेल कहते थे—काम निःसंदेह पूजा है, लेकिन हँसना ही जिंदगी हैं। उनकी सहनशीलता इतनी थी की देखने वाले दाँतों तले उँगली दबा लें। प्रश्नों का उत्तर जानने और समझने के लिए, पहले हम अपने आपको समझा, फिर संसार में झाँकों, तो कुछ हद तक सफलता मिल सकती है। वैसे बड़े-बड़े योगी भी आज तक इन प्रश्नों के उत्तर पूर्णरूप से नहीं ढूंढ पाए हैं और न समझ पाए हैं।

''महान राष्ट्रवादी, बलिदानी लाला लाजपत राय ने कहा था जीवो, दीनतारहित होकर जीवो। इन चंद शब्दों में लाला जी ने समस्त जीवन प्रणाली का निचोड़ बता दिया है। अब सब कुछ व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी जीवन शैली को कैसे बनाता है। हम सकारात्मकता अपनाओ यानी विचारधारा को विकार रहित बनाओ। फिर सदाचार, सद्भावना, प्रेम भाव कर्मशीलता यानी इंसानियत आपके चरित्र में सूर्य की भाँति चमकती हुई नजर आएगी। ऐसा विश्व के तमाम विद्वानों महर्षियों, महानपुरुषों, महात्माओं, गुरुओं, फकीरों आदि ने कहा है।''[2]

यदि मन साफ, है पवित्र है, तो जीवन सार्थक बन सकता है। जीवन की इससे महत्वपूर्ण व पारदर्शी परिभाषा और नहीं है यही जीवन-शैली जो साफ, सादा सरल है, ही सर्वश्रेष्ठ (सर्वोत्तम) कहलाती है। सीख, शिक्षा वहीं जो व्यक्ति अपनी जीवन शैली से दे। मानव परमपिता परमेश्वर की संतान है जिसे उनकी अनमोल कृति (रचना) कहा जाता है। व्यक्ति में एक अद्भुत (विचित्र) तत्व है। जिसे आत्मा कहा जाता है, जो अविनाशी है, क्योंकि यह प्रभु का अंश है। इसकी खोज एक साधारण, सामान्य व्यक्ति के लिए संभव ही नहीं है। साहित्य इसका गवाह है। महान विभूतियों ने मानव को बार-बार सावधान किया है कि कोई बात, तथ्य अंतिम नहीं होता, क्योंकि उस पर हालत व समय अनुसार सोचना जरूरी है। इसी प्रकार कोई रीति-रिवाज

भी अंतिम नहीं है। हमें इन महानात्माओं की सीख की ओर ध्यान देना चाहिए। फिर हम स्वयं एक अच्छे रास्ते पर चलकर अपने जीवन को सफल बना सकते हैं।

हमें केवल सकारात्मकता को अपनाना चाहिए, क्योंकि यही रास्ता हमारे जीवन को सही दिशा देने में सहायक है। यही प्रगति या उन्नति व विकास का रास्ता है। हमें गुमराह नहीं होना है। सकारात्मकता ही सुखमय, शांतिमय प्रकाशमय और आनंदमय जीवन का दीपक है। इसी को स्वर्ग कहा जाता है। स्वर्ग इसी धरती पर है। नकारात्मकता नरक की ओर जाता है जो हमारे लिए बहुत घातक है। यही नरक कहलाता है और हमारी नकारात्मक सोच ही हमें इस नरक में धकेलती या फँसाती है।

इसलिए सावधान रहना और सावधानी से चलना चाहिए ताकि हम बेकार के किसी झँझट में उलझने से बच जाएँ। यही रास्ता सभी महान विद्वानों ने सुझाया है। उपन्यास में भी नायक स्वप्न और अपनी असली जीवन में सफलता की खोज कर रहे हैं। नायक द्वारा उपन्यासकार हर एक व्यक्ति को भी अपने आपको दिखाते हैं।

इन्सान भगवान की सृष्टि (रचना) उसका जीवन में हर पल भगवान के हाथ में हैं, जीवन में आगे क्या होगा? हमको पता नहीं चलता। सब भगवान की कृपा से शुरू होता है। धर्मावलंबियों ने नफरत न की थी परन्तु धर्म को जिस ढंग से शोषण का माध्यम बनाकर एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण कर रहे है, उस ढंग से उन्हें नफरत थी। यहाँ किसी भी धर्म को बुरा नहीं मानती थी, मगर उनके प्रचारित होने के ढंग को बुरा समझती है। उन्हें समाज में उच्चवर्ग द्वारा खींची गई गरीब अमीर की लकीर से नफरत थी। हमारे मान्यता यह है कि सभी धर्मों का मूल तत्व जब एक ही है, तब तक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय को तथा एक वर्ग के व्यक्ति दूसरे वर्ग का शोषण क्यों करते हैं, तथा उन्हें हेय दृष्टि से क्यों देखते हैं? एक धर्म दूसरे पर हावी होता नजर नहीं आया है। सबी धर्मवाले दोस्ती को भी कुर्बान कर देते हैं। धर्म धारण एक साथ होना चाहिए। हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाए तो उसे खबर नहीं होती परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। धर्म की स्थिति, सभी के लिए बराबर होनी चाहिए। धर्म गरीब और अमीर में भेद नहीं करता। यह भेद-भाव, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर आदि इसी समाज के व्यवस्थापकों का बनाया हुआ है।

जिनके पास पैसा बुध्दि और सम्मान है, वे कभी नहीं चाहेंगे कि जो दलित हैं या जिनके पास पैसा शिक्षा या बुध्दि नहीं है, वे चार पैसा कमाएँ या शिक्षा से अपनी बुध्दि विकसित करें क्योंकि वे जानते हैं कि साधनहीन व्यक्ति ही उनके इशारों पर नाचेगा, वे गलत करें या सही, वह व्यक्ति उसे मानेगा, उन्हें सम्मान देगा और उनके समक्ष हमेशा नतमस्तक रहेगा।

''इसलिए धर्म और सम्प्रदाय हमारे समाज में परिवार में मिले-जुले हैं। उपन्यास में भी नायक के परिवार में भी ऐसे ही हैं। बचपन से ही इस तरह धर्म नीति से उनका पालन, पोषण था इसलिए, वह खुद अपना डायरी में ऐसा लिखा है कि अपनी शंकाओं को छिपाना-दबाना खुद अपनी आत्मा के साथ, अर्थात परमात्मा के साथ, विश्वासघात करना है। सम्पूर्ण श्रध्दा से बड़ी भेंट और हो ही क्या सकती है जो यह नर अपने नारायण को अर्पण कर सके? अर्पण की जाने वाली चीज तो वही हो सकती है ना, जो आग में तपाए सोने की तरह शुद्ध और पवित्र हो !''[3]

उपन्यास में नायक को धर्म का प्रभाव अपनी माँ-बाप से मिला था। इन्सान को अपने जीवन को परमात्मा से मिलाना चाहिए, तब उनको सुख मिलता है, लेकिन हर एक व्यक्ति के अन्दर भी परमात्मा है। इसलिए भगवान सब को भी दुख देता हैं, मगर छोड़ता नहीं। जैसे आग में तपे हुए सोने की तरह, कितना आग में तपा होता है उतना बाहर आते समय सोना चमकता है। वैसे भी कितना दुख और अकेलेपन का अनुभव करता है, इन्सान उतना आगे बढ़ता है अपने जीवन में यह सब भगवान की कृपा से लेकिन आजकल भगवान के नाम पर पैसा कमाते हैं। कभी-कभी परलोक का भय भी दिखाते हैं। कभी जाति के नाम पर डर दिखाते हैं तो कभी धर्म से च्यूत करते हैं। नादान और नासमझ इन बहेलियों के जाल में फंसकर सत्य से दूर रहकर अपना सर्वस्व गंवा बैठता है। शोषित आदमी यह जानने का प्रयास नहीं करते, क्योंकि वे धर्मच्यूत कर रहे हैं। वे कैसे आदमी हैं कि परलोक के लिए, धर्म सम्प्रदाय को पालन और प्रचार करते हैं। सिर्फ वे यह समझते हैं कि जो चलता है, यह सब अच्छाई और भले के लिए किया गया है।

अपितु वे नहीं समझ सकते हैं कि और नहीं मानते है कि नरक वासी होगा या ईश्वर उसे दण्ड देंगे या समाज उसे अधर्मी कहकर गाँव-समाज से दूर कर देगे, फिर वे कैसे जीवन चलता है, और बाल बच्चों की शादी कैसे होगी। अगर उसने कर्ज लिया है तो उसे क्या, उसकी औलाद तक को भरना होगा, नहीं तो उसे नरक मिलेगा और अगर कहीं वह कर्ज ब्राहमण का हो तो शायद जन्म-जन्मान्तर तक उससे मुक्ति नहीं मिलेगी, यही धारणा है। यह धारणा है

हमारा अंत है। हाँ हम इन्सान एक तरह सोचते है, अपने आखिर का फैसला भगवान ने देता है।

''गले में जनेऊ, तन पर पीताम्बर और सिर तक लेने से कोई धार्मिक नहीं हो जाता। उसे ईश्वर के बारे में समझाया जाएगा। स्वार्थ और लोभ के लिए इन्सान घंटे भर अधर्म करते हैं तो हम धर्मात्मा कैसे पालन करें, धर्मात्मा तो उन्हें कहा जायेगा जो निश्चय भगवान को मानते हैं। वे भगवान को आराधना करें या सच्चे हृदय से हितोपासना करें। तभी हम धर्म के निकट जा सकते हैं। सत्य पर विश्वास रखना प्रत्येक इन्सान का धर्म है।''[4]

दुर्भाग्य की बात है कि पुराने जमाने में हिन्दू साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में या उसके खिलाफ कोई मुसलमान कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने से हिचकिचाता था और ठीक उसी प्रकार मुस्लिम साम्प्रदायिकता के खिलाफ कोई हिन्दू कुछ भी कहने में परहेज करते थे। मगर आज के समाज में धर्म सम्प्रदाय में भी थोड़ा सा बदलाव आ गया है। वे दोनों के खिलाफ नहीं, एक ही धरती पर रहने वाले एक ही ईश्वर या खुदा यह नहीं कहता है कि जातियाँ या धर्म मनुष्यों के ही बनाए हुए हैं। अपितु भगवान सब का एक है। उपन्यास, में भी नायक सनातन को भी यह समझ आया था। इसलिए वह अपने सब दोस्तों से भेदभाव के बिना व्यवहार करता है।

नायक सनातन को देश भक्ति अपने पिताजी और शिक्षकों द्वारा मिली थी। पिताजी से भी हर दिन किसी एक नेता के जीवन के बारे में उनके त्याग और बलिदान के बारे में सरल रूप में बताते थे। इसलिए नायक का स्वभाव देश प्रेमी हो गया। उसके खून में देश भक्ति है। स्वप्न में भी वह अपने दोस्तों से राजनीति और देश के बारे में चर्चा करता है। इसलिए एक दोस्त बोला कि–

''अरे, आखिर कोई ठोस वजह होगी कि राजनीति आज हमारे जीवन के केन्द्र में है। इस वजह को क्यों नहीं समझना चाहते तुम लोग? तुम्ही बताओ इन करोड़ों गूंगों-बहरों की दबी कुचली आकांक्षाओं को पूरी करने केलिए राजनीति के सिवा और उपाय क्या है?''[5]

आज का शासन जनता का शासन पुराने राजाओं के शासन काल का नियम अलग था। मगर आज ऐसे उल्टा हो रहा है। राजनीति क्षेत्र में दिन पर दिन बदलाव आ रहा है। नेतागण खुद अपने लिए जीवन बिताते हैं। राजनीति क्षेत्र में समाज सेवा, समाज सुधार भाव, देश को आगे ले जाने का प्रयास एक दम कम हो रहा है। हर जगह आतंकवाद का प्रभाव पड़ा है।

मानव समुदाय की हालत में अधिक से अधिक बदलाव आ गया। देश का विकास पहले नेताओं के हाथ में, मतलब कानून का नियम ठीक ढंग से होना चाहिए। सजा में तेज होता तो व्यक्ति सजा से डरता है, गलत काम नहीं करता। मगर कानून में ऐसा नहीं, गलत काम करने से कोई नहीं डरता, हम बचाएँगे ऐसे सोच कर वे दूसरों को परेशान कर देते हैं। इसलिए उनके मार्गदर्शन में एक अलग कुंडों का समाज बन रहा है आज कल राजनीतिक दल समस्त देश को बन्धुत्व के सूत्र में संगठित करते हैं तथा प्रत्येक नागरिक के सम्मुख राष्ट्र का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो इनके बिना इतिहास में तथा भविष्य में सम्भव नहीं है।

सन्दर्भ सूची

1. रमेशचन्द्र शाह, कथासनातन, पृ. 54
2. वही, पृ. 86
3. वही, पृ. 86
4. वही, पृ. 58
5. वही, पृ. 112

कृपाशंकर
85/12 छोटा बघाड़ा
जिला प्रयागराज, उत्तर प्रदेश
पिनकोड-211002

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवनवृत्त का विवेचनात्मक अध्ययन

–विजय कुमार पाल

शोध सार

भारतीय सन्त-महात्माओं के जीवन से संबंधित निश्चित जानकारी प्रायः कम ही उपलब्ध होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रमुख कारणों में से एक यह है कि ये सन्त-महात्मा अपने सांसारिक जीवन का परिचय अप्रकट ही रखना चाहते थे। वे अपने बारे में बातें करना मर्यादा के प्रतिकूल मानते थे। अतएव, उनके जीवन-चरित के संबंध में बहुधा मतभेद पाये जाते हैं। सन्त कबीर, जायसी व सूरदास इत्यादि की जीवनी आज भी अनुमान पर ही आधारित मिलती है। यही स्थिति संत-कवि गोस्वामी तुलसीदासजी के साथ भी है।

मुख्य बिन्दु

महात्माओं, संबंधित, निश्चित, जानकारी, सांसारिक, अप्रकट, प्रतिकूल, सूरदास, मर्यादा, आधारित, रहस्यमय।

शोध प्रपत्र

हिन्दी के सबसे बड़े कवि गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवन-वृत्त सब से अधिक रहस्यमय तथा अंधकाराच्छन्न है। आज हम गोस्वामी तुलसीदासजी के विषय में जो कुछ जानते हैं उस में इतिहास का कम और कल्पना का योग अधिक है। उन के जन्म, जन्म के स्थान, माता-पिता, परिवार, गुरु, जाति इत्यादि के संबंध में एकाधिक मान्यताएं प्रचलित हैं जो विभिन्न ग्रंथों से प्राप्त होती हैं। अतः उन में तथ्य का अंश कितना है यह कहना कठिन है। इस तरह के ग्रंथ, जिन में तुलसीदास के जीवन-चरित के वर्णन का प्रयास किया गया है, वे या तो पूर्णतः प्रामाणिक नहीं हैं या उन में गोस्वामीजी के समग्र जीवन का उल्लेख नहीं है। मतभेदों को छोड़ कर हम यहाँ उन्हीं विवरणों का उल्लेख कर रहे हैं जिन के पक्ष में

विद्वानों का बहुमत है या जो स्वयं तुलसीदासजी के कथनों द्वारा समर्थित हैं। गोस्वामी जी के जीवन वृत्त से संबंधित विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत हैं–

जन्म तिथि-तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ प्रथम विदेशी विद्वान विल्सन ने स्केच ऑव दी रिलीजस सेक्ट्स ऑव दी हिन्दूज में तुलसीदास की जन्म तिथि के बारे में प्रत्यक्ष रुप से कुछ भी नहीं कहा है। परन्तु संकेत रूप में वे उल्लेख करते हैं कि काशी पधारकर तुलसीदास ने 1631 वि. में हिन्दी में श्रीरामचरितमानस का लेखन प्रारम्भ किया। इस समय गोस्वामीजी 31 वर्ष के थे।

उक्त कथन के आधार पर तुलसीदासजी का जन्म संवत् 1600 ठहरता है। **''गार्सा-द-तासी तथा एफ.आर आलचिन को भी यह मान्य है। परन्तु जी. ए. ग्रियर्सन इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उन के अनुसार तुलसीदासजी संवत् 1589 में उत्पन्न हुए थे, अतः श्रीरामचरितमानस का लेखन प्रारम्भ करते समय उन की आयु 42 वर्ष होनी चाहिए। इस तथ्य की पुष्टि ग्रंथ से ही हो जाती है।''**[1]

''जे. एन. कारपेंटर, एफ. ई. केव, डब्लू. सी. मेक्ड्रगल, जे. एम. मेक्फी इत्यादि विद्वान ग्रियर्सन के मत से सहमत हैं। केवल श्री एडविन ग्रिब्ज इस संबंध में निश्चित मत नहीं रखते हैं। उन के मतानुसार तुलसीदास की जन्मतिथि पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। यद्यपि, उन का देहावसान संवत् 1680 में निश्चित है।''[2] संवत् 1631 में उन्होंने श्रीरामचरितमानस लिखी। ये तिथियाँ स्वीकार की जा सकती हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार गोस्वामीजी 120 वर्षों तक जीवित रहे। इस आधार पर उन की जन्मतिथि 1503 वि. संवत् होनी चाहिए। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसीदास का जन्म संवत् 1545 तथा 1555 के बीच होना चाहिए। परन्तु ग्रीव्ज की इस व्यावहारिकता का कोई आधार नहीं है। रेवरेण्ड एटकिंस का मानना है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मतिथि 1580 वि. संवत् या 1584 वि. होनी चाहिए। परन्तु अकाट्य प्रमाणों के अभाव में यह तिथि भी स्वीकार्य नहीं हो सकती है।

मूल गोसाईंचरित के आधार पर तुलसीदास जी का जन्म संवत् 1554 में श्रावण शुक्ला सप्तमी को राजापुर में हुआ था।

''पन्द्रह से चौवन विष कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धरे शरीर॥''[3]

विदेशी विद्वानों का बहुमत गोस्वामीजी की जन्मतिथि संवत् 1589 वि. मानने के पक्ष में है, जिस का समर्थन भारतीय विद्वान डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने भी किया है। क्योंकि गणना के आधार पर यह शुद्ध साबित होती है। अतः यही तिथि गोस्वामीजी की जन्मतिथि के रूप में सर्वमान्य है।

जन्म स्थान गोस्वामीजी से संबंधित अन्य बातों की तरह ही उन के जन्म स्थान के बारे में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। ग्रियर्सन तारी को, विल्सन हाजीपुर को तथा व्यूकेनन काशी को गोस्वामीजी की जन्मस्थली मानते हैं। भारतीय विद्वान राजापुर को तुलसीदासजी का जन्म स्थान मानते हैं। इसी प्रकार ग्राउज ने हस्तिनापुर को जन्म स्थली के तौर पर स्वीकार किया है। जिन स्थानों को गोस्वामीजी की जन्म स्थली होने का दावा विद्वान करते हैं उन का संक्षिप्त उल्लेख प्रस्तुत है।

1. हाजीपुर–श्री विल्सन ने The Sketch of the Religious Sects of the Hindus में हाजीपुर को, जो चित्रकूट के पास है, तुलसीदासजी की जन्मस्थली माना है। गार्सा-द-तासी, एफ. एस. ग्राउज तथा ग्रियर्सन भी इसका समर्थन करते हैं।

2. अयोध्या–अयोध्या को गोस्वामीजी की जन्मभूमि मानने वाले एकमात्र एफ. आर. आल्विन हैं। वे हाजीपुर की अपेक्षा अयोध्या या राजापुर को गोस्वामीजी की जन्म स्थली के रूप में स्वीकार करना उचित समझते हैं।

3. काशी–फ्रांसिस व्यूकेनन ने तुलसीदास को काशी का सारस्वत ब्राह्मण कहा है। श्री रजनीकांत शास्त्री भी तुलसीदास की जन्म भूमि काशी ही मानते हैं। इसके समर्थन में वे विनयपत्रिका की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए शास्त्रीजी ने किष्किंधाकाण्ड से प्रारम्भिक श्लोक के बाद का सोरठा भी उद्धृत किया है।

4. तारी–जी. ए. ग्रियर्सन तारी को गोस्वामीजी का जन्म स्थान बताते हैं। उनका कहना है कि लोग विभिन्न स्थलों को उनका जन्म स्थान होने का दावा करते हैं, यथा दोआब स्थित तारी, हस्तिनापुर, हाजीपुर तथा राजापुर आदि। इनमें से तारी का दावा सर्वोत्तम प्रतीत होता है।

5. राजापुर–बहुत से विद्वान विभिन्न तथ्यों के आधार पर राजापुर को तुलसी की जन्म भूमि मानते हैं। अपने समर्थन में वे विविध प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं।

6. रामपुर सोरों के पक्ष में कई साक्ष्य प्राप्त होते हैं। गोस्वामी ने कवितावली में कहा है यह तुलसीदास तो आपके घर का पुश्तैनी सेवक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामपुर शब्द का प्रयोग विनयपत्रिका एवं श्रीरामचरितमानस में एक-दो स्थानों पर अयोध्या के लिए किया है।

''जद्यपि अवध सदैव सुहावनि।
राम पुरी मंगलमय पावनि॥
जयति सिंहासनासीन सीतारमण,
निरखि निर्भरहरष नृत्यकारी।
राम संभ्राज शोभा-सहित सर्वदा
तुलसिमानस रामपुर विहारी॥''[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभी तक निर्विवाद रूप से किसी भी स्थान को गोस्वामीजी की जन्म स्थली के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सका है। तथापि, राजापुर को ही अधिकांश विद्वान गोस्वामीजी की जन्मस्थली के रूप में स्वीकार करते हैं।

नाम-गोस्वामीजी के बचपन का नाम अर्थात् पहला नाम रामबोला था जो आगे चलकर तुलसी और तुलसीदास हो गया। इस संबंध में किंवदन्ती है कि जन्म के समय इनके मुख से सर्वप्रथम राम का नाम उच्चरित हुआ था। इन की रचनाओं (विनयपत्रिका एवं कवितावली) में रामबोला नाम देखने को मिलता है। जाति–यद्यपि अधिकांश विद्वान गोस्वामीजी को ब्राह्मण मानते हैं। तथापि, उन की उपजाति के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। तुलसीदास की उपजाति के संबंध में विदेशी विद्वानों में तीन तरह के मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार गोस्वामीजी सरवरिया ब्राह्मण थे। इस मत के समर्थक सर्वश्री एच. एच. विल्सन, ग्रियर्सन, डी. पी. हिल तथा जे. एन. कारपेंटर हैं। श्री कारपेंटर ने गोस्वामीजी को शुक्ल, दूबे तथा जे. एन. फरक्हार ने स्मार्त कहा है। दूसरे मत के अनुसार गोस्वामीजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इस मत के मानने वालों में व्यूकेनन सर्वप्रमुख हैं।

''ग्रियर्सन ने अपने मत के समर्थन में कहा है। कुछ विद्वान कहते हैं कि तुलसीदास कान्यकुब्ज (ब्राह्मण) थे जबकि अन्य का मत है कि वह सरयूपारीय ब्राह्मण थे। कान्यकुब्ज ब्राह्मण भिक्षा, उपहार आदि का विरोध करते हैं। परन्तु कवितावली में गोस्वामीजी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है- जायो कुल मंगना, अर्थात् मेरा जन्म भिक्षा से जीवन यापन करने वाले कुल में हुआ है। अतः गोस्वामीजी को सरयूपारीय ब्राह्मण स्वीकार करना चाहिए। परम्परा के अनुसार वे पाराशर गोत्र के दूबे थे। इस के प्रकार गोस्वामीजी की जाति का निर्धारण अभी तक सर्वमान्य स्तर तक नहीं हो पाया है।''[5]

अपनी जाति के संबंध में गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इन के कथनों में प्रायः सन्त परम्परा के अनुकूल जाति-बंधन से मुक्त और स्वतंत्र होने के विवरण मिलते हैं। गोस्वामीजी द्वारा कवितावली एवं विनयपत्रिका में अभिव्यक्त आत्मोक्ति से स्पष्ट होता है कि गोस्वीमीजी अच्छे कुल में उत्पन्न हुए थे तथा देखने में सुंदर थे।

परिवार–श्रीरामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका, बरवै रामायण तथा दोहावली में गोस्वामीजी के जीवन से संबंधित संकेत प्राप्त होते हैं। ये संकेत उन के जीवन व व्यक्तित्व दोनों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। गोस्वामीजी के आत्म परिचयात्मक विवरणों में माता-पिता, गुरु, वंश, बाल्यावस्था, युवावस्था व वृद्धावस्था इत्यादि के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। तुलसी-साहित्य के अंतर्गत पारिवारिक व्यक्तियों में माता के अतिरिक्त और किसी के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है। श्रीरामचरितमानस में उनकी माता के नाम हुलसी का संकेत मिलता है।

उक्त पंक्ति में प्रयुक्त हुलसी शब्द का तात्पर्य माता के अतिरिक्त भी लगाया जाता है। तथापि, इस का सरल अर्थ यही है कि तुलसी के लिए रामकथा माता हुलसी के हृदय के समान है। अन्य साक्ष्यों से भी तुलसी की माता का नाम हुलसी होना सिद्ध होता है।

गुरु–बचपन में बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकने, ठोकर खाने और कष्ट उठाने के बाद तुलसीदासजी को एक सद्गुरु ने अपने आश्रय में रख लिया और उचित शिक्षा दीक्षा दी। इस गुरु का नाम नरहरि दास बताया जाता है। इन्हीं से तुलसीदासजी ने सूकर क्षेत्र में राम कथा सुनी पर आरंभ में बुद्धि अविकसित रहने से कथा का मर्म भलीभाँति समझ में नहिं आया। गुरु ने उस कथा को बार-बार सुनाया तब उस में इन का प्रवेश हुआ अर्थात् रामकथा के मर्म को अपनी बुद्धि-विवेक के अनुसार थोड़ा-बहुत समझने में समर्थ हुए। श्रीरामचरितमानस में वर्णित कई पदों में गोस्वामीजी के गुरु का संकेत मिलता है।

गृहस्थ जीवन–गुरु से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के कुछ दिनों के बाद गोस्वामीजी काशी आ गए और काशी प्रवास के दौरान वे पंचगंगा घाट पर रहने लगे। यहाँ रहते हुए उन्होंने परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी से वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण विधिवत अध्ययन किया। तदन्तर वे रत्नावली नाम की युवती से विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। कहा जाता है कि वे अपनी पत्नी के प्रति आसक्त थे और उस ने इस के लिए उन्हें फटकार लगाते हुए रामभक्ति में प्रवृत्त होने की भी बात कही थी। आदि का किन्तु, जगद्गुरु रामभद्राचार्य जी उक्त मत से सहमत नहीं हैं। वे इसे मिथ मानते हैं। उन के अनुसार गोस्वामीजी बचपन से ही सन्यासी थे। उन्होंने कभी विवाह किया ही नहीं, वे अविवाहित

थे। तुलसीदास जी के शब्द ब्याह न बरेखी चाहत- जात पाँत न चहत हौं (वि. प. 76/4) को वे प्रमाण के तौर पर पेश करते हैं। हनुमान बाहुक की पंक्तियों से भी रामभद्राचार्य जी के विचारों की पुष्टि प्रतीत होती है।

निधन–विल्सन ने अपने ग्रन्थ Sketch of Religious Sects of the Hindus में उल्लेख किया है कि गोस्वामीजी का देहावसान संवत् 1680 वि. में हुआ था। श्री एफ.एस. ग्राउज भी इस मत का समर्थन करते हैं। ग्रियर्सन 20 ने तो स्पष्ट रुप से मंगलवार, 24 जुलाई 1623 (1680 वि.) को काशी में अस्सी घाट पर गोस्वामीजी के निधन को स्वीकार किया है। शुक्ल पक्ष के सप्तमी के स्थान पर कृष्णा तीज का भी उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु अधिकांश विद्वान गोस्वामीजी की निधन- तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी, संवत् 1680 अर्थात् 24 जुलाई 1623 ही मानते हैं। काशी के जमींदार और गोस्वामीजी के मित्र टोडर के उत्तराधिकारी सावनकृष्ण तीज को निधन-तिथि के रूप में मान्यता देते हैं और इसी दिन सीधा वगैरह देते हैं। यही तिथि मूल -गोसाईं चरित के निम्न दोहे में प्रकट है।

''संवत् सोलह से असी असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि तुलसी तजे सरीर॥''[6]

उक्त ग्रंथ की प्रामाणिकता के स्तर के दृष्टिगत यह तिथि गणनानुसार सही है, अतः सर्वमान्य है। उपरोक्त के अतिरिक्त, अन्य सन्तों-महात्माओं के जीवन के साथ जुड़े चमत्कारिक प्रकरणों की भाँति ही गोस्वामीजी के भी जीवन से संबंधित कई चमत्कारिक आख्यान यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं; भले ही ये सत्य से परे हों तथा सिद्ध न किए जा सकें।

सार रूप में कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के व्यक्तित्व-कृतित्व पर गहन शोध करने वाले शोधार्थी–विद्वान डॉ. माता प्रसाद गुप्त के विचार प्रस्तुत संदर्भ में उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार तुलसीदास के व्यक्तित्व के विषय में- बहुत-कुछ केवल अनुमान किया जा सकता है।

गोस्वामी जी के जीवन-वृत्त से संबंधित उल्लिखित तथ्य पूर्णरुपेण सत्य, असंदिग्ध तथा अकाट्य हैं, यह बात शत-प्रतिशत निश्चितता के साथ नहीं कही जा सकती है। तथापि, इस दिशा में किए गए अभी तक के प्रयासों, नित नए हो रहे अनुसंधानों तथा अन्य स्रोतों के माध्यम से उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर जो तथ्य सामने आये हैं उन्हें सही मानकर ही चलना होगा। इन सब चीजों से परे, गोस्वामी तुलसीदासजी के बारे में जो निर्विवाद रुप से सत्य है वह यह कि भारत की पावन भूमि पर जन्में गोस्वामीजी अनन्य रामभक्त होने के साथ ही एक महान कवि- दार्शनिक भी हैं जिन्होंने जीवमात्र के कल्याण के लिए अपनी लेखनी चलायी जिसमें जीवन-दर्शन के प्रत्येक पहलू पर अभूतपूर्व प्रकाश मिलता है।

सन्दर्भ सूची

1. शर्मा देवेन्द्र नाथ, हिन्दी कवियों का मूल्यांकन (प्रथम भाग), पृ. 129
2. शर्मा देवेन्द्र नाथ, हिन्दी कवियों का मूल्यांकन (प्रथम भाग), पृ. 130
3. तुलसीदास, गुप्त, डॉ. माता प्रसाद, पृ. 199
4. वही, पृ. 200
5. शर्मा देवेन्द्र नाथ, हिन्दी कवियों का मूल्यांकन (प्रथम भाग), पृ. 132
6. तुलसीदास, गुप्त डॉ. माता प्रसाद, पृ. 150

विजय कुमार पाल
शोध छात्र (हिन्दी विभाग)
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

नई कहानी का बदलता स्वरूप

–डा. राम किशोर यादव

सार : कहानी 'स्टोरी' का हिन्दी प्रतिशब्द है। कहानी में लघु जीवन खंडों का चित्रण मिलता है। कहानी में जीवन से किसी एक घटना, एक स्थिति का चित्रण मिलता है। कहानी का आकार लघु होता है। अपने आकार में लघु है पर इसका संदेश दूरगामी है। यह समाज में, व्यक्ति में, परिवेश में हलचल पैदा करती है। कहानी का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्वरूप होता है। बदलते समय और बदलते परिवेश में कहानी को बहुत कुछ बदला है। घटना, दृश्य, चरित्र, संवाद एवं उद्देश्य निरन्तर बदलते रहे हैं। कहानी में जीवन का सत्य उजागर किया जाता है। कहानी की मूल संवेदना समाज के भीतर व्याप्त समस्या पर ही केन्द्रित होती हैं। कहानी के रील के भीतर आंतरिक और बाह्य जीवन परिलक्षित होता है। सेन्ट्रीपीटल और सेन्ट्रीफ्यूगल फोर्स निरन्तर अपने पथ पर क्रियाशील होते हैं। कैसे कहें कि कहानी तो कहानी है, पर कहानी बहुत कुछ पेश करती है। संवेदना के विविध रूप कहानी के भीतर मौजूद होते हैं। कहानी में नाटकीयता, मार्मिकता, संवेदनशीलता, संवेदनीयता एवं आत्मीयता मिलती है।

नई कहानी की शुरुआत 1954 से मानी जाती है। भारत की स्वतंत्रता के बाद का परिवेश नई कहानी का परिवेश है। समय और समाज का लेखा-जोखा नई कहानी में मौजूद है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों का प्रतिबिम्बता नई कहानी के भीतर मिलता है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व भी मिलता है। बदलती परिस्थितियाँ, बदलते मूल्यबोध, बदलते सामाजिक सरोकार के बीच नई कहानी की उपस्थिति है। इसमें नकारात्मकता और सकारात्मकता का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

1947 में भारत को स्वतंत्रता मिली। भारत खंडित रूप में स्वतंत्र हुआ। देश का विभाजन एक कटु यथार्थ है। विभाजन के समय में देश की स्थिति और सामाजिक जीवन की तस्वीर कई कहानियों में मौजूद है। कृष्णा सोबती द्वारा रचित 'सिक्का बदल गया' इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। विभाजन के कारण कई समस्यायें पैदा हुईं, रक्तपात, अत्याचार, शरणार्थी की समस्या, बढ़ती महंगाई, बदलती मध्यवर्गीय मानसिकता इसके केन्द्र में है। देश की नाजुक हालात, अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत जनता, बेरोजगारी, संबंधों में विघटन की पूरी तस्वीर नई कहानी के समय मौजूद है।

नई कहानी में तात्कालिक समय और समाज की मुखर अभिव्यक्ति मिलती है। समाज में बदलती दृष्टिकोण को नये

रूप में पेश किया गया है। इसमें नवीनता और मौलिकता विद्यमान है। पाठक की शोधपरक दृष्टि को विकसित करने में इन रचनाकारों की महत्ती भूमिका है। एक खुले मैदान के बीच दौड़ लगाई जा रही है जिसको जितना दौड़ना है दौड़े पर नियम का न तोड़े। भावना के अनुरूप भाषा का स्वरूप बदल रहा है। यह नवीनता ही नई कहानी की पूंजी है। यह अनमोल रत्न है जो बाकी सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। एक प्रकार से इसे नवीन सृजन है, नवीन चेतना है, नवीन भाषा है, नवीन भावबोध है, नये प्रभाव को सृजित करने की कला है। यह एक प्रकार का जीवन का ट्रीटमेंट है। यह अपने औजार के साथ, शास्त्र के साथ अपनी सम्पूर्णता में उपस्थित है। यह पुराने लीक पर चलने वाले को ललकारती भी है, समझाती भी है और अपनी तरफ खींचती भी है। एक गजब तरह का चुम्बकीय आकर्षण है—नवीनता का, नाटकीयता का तथा प्रतीकात्मकता का। अपने नवीन दृष्टि से नवीन शब्दावली से युक्त नये तौर-तरीके से उपस्थित है। यह बदला हुआ लेबल ही नहीं है बल्कि नई खोज का प्रमाण है। साहित्यकारों से लेकर पाठकों को अपने में समाहित करने की क्षमता से युक्त है। यह सशक्त है। प्रतिपल बदलते हुए जीवन को मुखरित करती है। कहानी अपने अंदाज में अपनी भाषा के साथ आती है। जीवन के विविध रूपों को चित्रित करती है। कहानी बहुत कुछ कहती है। अपने नये क्लेवर और नये फ्लेवर के साथ कहानी सम्पूर्णता में उपस्थित होती है।

नई कहानी अपने बदलते परिवेश से जुड़े मानव की तस्वीर को सामने लाती है। महानगरीय जीवन, अकेलापन, संबंधों में विघटन, मशीनीकरण जिन्दगी को नई कहानी में दिखाया गया है। औद्योगिकरण ने किस प्रकार मानवता के समक्ष नई चुनौती पेश की है। अपरिचय और विसंगतियों का दबाव मनुष्य की चेतना पर पड़ता है। 'परिंदे' निर्मल वर्मा की कहानी है। इसमें प्रेम संवेदना को चित्रित किया गया है। इसमें संवेदना का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है। मर्म की नीचे के सतह को उजागर करती है। रचनाकार की परिवेश से लगाव और अर्जित ऊर्जा ही कहानी के संवेदना के केन्द्र में है। इसमें सरलता एवं सहजता है। इसमें त्वरा है, उष्मा है, जीवन है, जीवन का दर्द है, पीड़ा है, अकेलापन है, महानगरीय जीवन की पीड़ा का बहुआयामी स्वरूप विद्यमान है। कथ्य और शिल्प दोनों एक हो गये हैं। नई कहानी में भाषा शिल्प और कथ्य गुंथे हुए हैं। इन कहानियों में यथार्थ जीवन प्रतिबिम्बित हो रहा है। अतिशय भावुकता और अतिशत बौद्धिकता कहानियों में मिलता है। अपने नये स्वरूप में कलात्मक नवीनता के साथ नई कहानी उपस्थित होती है। इसमें समाज का यथार्थ चित्रित है। तत्कालीन परिवेश की समस्त विद्रपूता और विसंगतियों का चित्रण मिलता है। अपने युग की भाषा में अभिव्यक्ति के समस्त रूप विद्यमान हैं। भाषा में स्पष्टता, सहजता एवं प्रभावात्मकता है। कहीं-कहीं लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता विद्यमान है। सड़ी-गली मान्यताओं, जर्जर रुढ़ियों, भ्रष्ट व्यवस्था एवं सामाजिक रुढ़ियों पर तीव्र प्रहार भी किया गया है।

कहानी 'स्टोरी' का हिन्दी प्रतिशब्द है। कहानी में लघु जीवन खंडों का चित्रण मिलता है। कहानी में जीवन से किसी एक घटना, एक स्थिति का चित्रण मिलता है। कहानी का आकार लघु होता है। अपने आकार में लघु है पर इसका संदेश दूरगामी है। यह समाज में, व्यक्ति में, परिवेश में हलचल पैदा करती है। कहानी का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्वरूप होता है। बदलते समय और बदलते परिवेश में कहानी को बहुत कुछ बदला है। घटना, दृश्य, चरित्र, संवाद एवं उद्देश्य निरन्तर बदलते रहे हैं। कहानी में जीवन का सत्य उजागर किया जाता है। कहानी की मूल संवेदना समाज के भीतर व्याप्त समस्या पर ही केन्द्रित होती हैं। कहानी के रील के भीतर आंतरिक और बाह्य जीवन परिलक्षित होता है। सेन्ट्रीपीटल और सेन्ट्रीफ्यूगल फोर्स निरन्तर अपने पथ पर क्रियाशील होते हैं। कैसे कहें कि कहानी तो कहानी है, पर कहानी बहुत कुछ पेश करती है। संवेदना के विविध रूप कहानी के भीतर मौजूद होते हैं। कहानी में नाटकीयता, मार्मिकता, संवेदनशीलता, संवेदनीयता एवं आत्मीयता मिलती है।

कहानी की मूल संवेदना परिवेश से जुड़ी होती है। परिवेश को समयबोध, कालबोध, स्थानबोध कुछ भी कहिए बात संपूर्ण परिप्रेक्ष्य की है जो रचना को जोड़े रखती है। कहानीकार का हृदय जिस बिन्दु पर धड़कता है उसी का कलात्मक रूप कहानी में मिलता है। कहानी के संदर्भ में डॉ. ब्रजमोहन शर्मा ने लिखा है, ''कहानी स्वयं में न तो कोई क्रांति है और न मार्गदर्शक लैम्प पोस्ट बल्कि यथार्थ का कलात्मक निरूपण है। उसकी कलात्मकता ही पाठक को झंझोड़ती है। उसी गुप्त चेतना को सही तथ्यों से अवगत कराती है।''[1]

कहानी के माध्यम से यथार्थ का रेखांकन किया जाता है। परिवेश की घटनाक्रम को बिन्दुवार तरीके से विश्लेषित कर जीवन के साथ उसका जुड़ाव दिखाया जाता है। यथार्थ का अंकन कहानी में होता है। उसमें कहीं-कहीं कल्पना का समावेश भी किया जाता है। इसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक स्थितियों का विवेचन

मिलता है। कहानी के विकास के कई चरण हैं-प्रेमचन्द पूर्व, प्रेमचन्द युगीन और प्रेमचन्दोत्तर कहानी।

भारत में हो रहा राजनैतिक आन्दोलन एवं स्वतंत्रता संघर्ष की तस्वीर कहानियों में मिलती है। कहानी बहुत कुछ कहती है। लोग जीवन में बहुत कुछ सहते हैं। उसकी अभिव्यक्ति कहानी के रूप में करते हैं। समाज में जो घटित होता है उसकी तस्वीर कहानियों में मौजूद है।

नई कहानी की शुरुआत 1954 से मानी जाती है। भारत की स्वतंत्रता के बाद का परिवेश नई कहानी का परिवेश है। समय और समाज का लेखा-जोखा नई कहानी में मौजूद है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों का प्रतिबिम्बता नई कहानी के भीतर मिलता है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व भी मिलता है। बदलती परिस्थितियाँ, बदलते मूल्यबोध, बदलते सामाजिक सरोकार के बीच नई कहानी की उपस्थिति है। इसमें नकारात्मकता और सकारात्मकता का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है।

1947 में भारत को स्वतंत्रता मिली। भारत खंडित रूप में स्वतंत्र हुआ। देश का विभाजन एक कटु यथार्थ है। विभाजन के समय में देश की स्थिति और सामाजिक जीवन की तस्वीर कई कहानियों में मौजूद है। कृष्णा सोबती द्वारा रचित 'सिक्का बदल गया' इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। विभाजन के कारण कई समस्यायें पैदा हुईं, रक्तपात, अत्याचार, शरणार्थी की समस्या, बढ़ती महंगाई, बदलती मध्यवर्गीय मानसिकता इसके केन्द्र में है। देश की नाजुक हालात, अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत जनता, बेरोजगारी, संबंधों में विघटन की पूरी तस्वीर नई कहानी के समय मौजूद है।

नई कहानी ने परम्परागत मूल्यबोध को, आदर्शों को नये चश्मे से देखने का काम किया है। नई कहानी क रचनाकारों ने पुराने फार्मूले को त्यागकर जीवंत चरित्रों को पेश किया है। शिवप्रसाद सिंह की दादी मां, मार्कन्डेय के 'पानफूल' कहानी इसके प्रमाण हैं।

स्वतंत्रता के बाद भारत का सम्पूर्ण परिवेश बदल गया। बदलती परिवेश और बदलते मूल्यबोध को नई कहानीकारों ने पेश किया है। प्राचीन आदर्श, टूटते मूल्य और जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं पर प्रहार किया गया है। नई कहानी जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करती है। जीवन, समाज, राष्ट्र, युगबोध और बदलता मानवीय मूल्य पर दृष्टिपात किया गया है। नई कहानी के संदर्भ में सुरेश सिन्हा ने लिखा है, ''स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी ने संपूर्ण परिवेश को बदला हुआ महसूस किया। छठे दशक में प्राचीन आदर्शों, टूटते मूल्यों और जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं का मजाक उड़ाया जाने लगा। वास्तव में नई कहानी जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है। वह जीवन, समाज, युगबोध और भावबोध के परस्पर संबंधों के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया चित्रण है।''[2]

नई कहानी में अनुभूति की प्रामाणिकता है। नई कहानी के रचनाकारों ने अपने अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए पहले से चली आ रही मानदंडों को सशक्त बनाया है। उसमें सांकेतिकता विद्यमान है। डा. नामवर सिंह के शब्दों में, ''नई कहानी संकेत नहीं करती बल्कि संकेत है।''[3]

उस समय की कहानियों पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि इसमें शिल्पगत बदलाव आया है। मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', अमरकान्त की 'डिप्टी कलेक्टरी' एवं कृष्णा सोबती 'सिक्का बदल गया' में शिल्पगत बदलाव है। अपने आप में विशिष्टताओं को समेटे एवं नये शिल्प के साथ इन कहानियों में दिबलता हुआ स्वरूप दृष्टिगत है। इसका फलक बड़ा है। इसमें विविधता, मार्मिकता, प्रभावात्मकता एवं नवीनता के दर्शन होते हैं। नई कहानी अपने नयेपन के कारण विशिष्ट है। श्री कमलेश्वर ने नई कहानी की भूमिका लिखी है। उनके शब्दों में, ''युद्धोत्तर काल में पहली बार कहानी ने आदमी को आदमी के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। शाश्वत मूल्यों की दुहाई देकर नहीं बल्कि उस आदमी को उसी के परिवेश में सही आदमी या मात्र आदमी के रूप में अभिव्यक्ति देकर।''[4]

नई कहानी ने कथावस्तु के स्वरूप को भी बदला है। इसमें नयापन के साथ समाज के भीतर मौजूद समस्याओं के भीतर जाकर संवेदना को पकड़ा है। मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिकता के कारण कथावस्तु का स्वरूप बदल गया है। डा. नामवर सिंह के शब्दों में, ''कथानक की धारण ही बदल गई। किसी समय नाटकीय और कौतुहल पूर्ण घटना संगठन को कथानक समझा जाता था। आज घटना संगठन इतना विघटित हो गया है कि लोगों की अधिकांश कहानियों में कथानक नाम की कोई चीज ही नहीं मिलती। इसी को कुछ लोग कथानक का ह्रास कह सकते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि ह्रास कथानक का नहीं कथा का हुआ है और जीवन का लघु प्रसंग, खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति चरित्र ही कथानक बन गया है अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गई है।''[5]

कथानक में बदलाव तत्कालीन समय की देन है। घटना का स्वाभाविक विकास कथानक में मिलता है। युग

का लेखा-जोखा इन सभी कथानकों में मिलता है। युगीन परिवेश अपनी उपस्थिति जाहिर करती है। व्यक्ति, समाज, अनुभूति, अभिव्यक्ति सभी के स्वर मिलते हैं। नए कहानीकारों ने संवेदना के अनुरूप भाषा के तेवर बदले हैं। नये जीवन मूल्यों को, नवीन चुनौतियों को, नये जरूरतों के हिसाब से गढ़ा गया है। देश के समीप जो समस्याएं थीं उसका सम्पूर्ण विवरण मिलता है। देश के बदलते मूल्यबोध, बदलती स्थितियां एवं नई चेतना ने संपूर्ण स्थिति से अवगत कराया है। संपूर्ण वातावरण में बदलाव आ गया, जीवन में, आचरण में, मानसिकता में बदला आ गया। डा. इन्द्रनाथ मदान का वक्तव्य है, ''नई कहानी के नामकरण, उद्‌भव विकास एवं संघर्ष का साक्ष्य है कि चयन सम्पादक का, मूल्यांकन नामवर सिंह का, रचनाएं मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी आदि अनेक काहनीकारों की, ध्यान श्रीपत राय का सबने मिलजुलकर नई कहानी को जन्म दिया, इसका पालन पोषण किया और अन्त में इसे आलोचकों से भिड़ने के लिए अकेला छोड़ दिया।''[6]

नई कहानी पर आलोचकों ने अपनी प्रतिक्रिया दी है। डा. नित्यानन्द तिवारी के अनुसार, ''नवीनता आज की दृष्टि और संदर्भ की है। कमलेश्वर की दृष्टि में नयापन दृष्टि सापेक्षता है। इस दृष्टि से अगर नई कहानी के भीतर मौजूद कथ्य का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि नवीनता सापेक्षिक है। भाव और भाषा दोनों में नवीनता के दर्शन होते हैं। एक प्रकार का कलात्मक परिष्कार मिलता है। जीवन को देखने का नया नजरिया मिलता है। पीड़ा, वेदना, करुणा, अभावग्रस्तता का यथार्थ रूप इसमें मौजूद है।

नई कहानी में तात्कालिक समय और समाज की मुखर अभिव्यक्ति मिलती है। समाज में बदलती दृष्टिकोण को नये रूप में पेश किया गया है। इसमें नवीनता और मौलिकता विद्यमान है। पाठक की शोधपरक दृष्टि को विकसित करने में इन रचनाकारों की महत्ती भूमिका है। एक खुले मैदान के बीच दौड़ लगाई जा रही है जिसको जितना दौड़ना है दौड़े पर नियम का न तोड़े। भावना के अनुरूप भाषा का स्वरूप बदल रहा है। यह नवीनता ही नई कहानी की पूंजी है। यह अनमोल रत्न है जो बाकी सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। एक प्रकार से इसे नवीन सृजन है, नवीन चेतना है, नवीन भाषा है, नवीन भावबोध है, नये प्रभाव को सृजित करने की कला है। यह एक प्रकार का जीवन का ट्रीटमेंट है। यह अपने औजार के साथ, शास्त्र के साथ अपनी सम्पूर्णता में उपस्थित है। यह पुराने लीक पर चलने वाले को ललकारती भी है, समझाती भी है और अपनी तरफ खींचती भी है। एक गजब तरह का चुम्बकीय आकर्षण है–नवीनता का, नाटकीयता का तथा प्रतीकात्मकता का। अपने नवीन दृष्टि से नवीन शब्दावली से युक्त नये तौर-तरीके से उपस्थित है। यह बदला हुआ लेबल ही नहीं है बल्कि नई खोज का प्रमाण है। साहित्यकारों से लेकर पाठकों को अपने में समाहित करने की क्षमता से युक्त है। यह सशक्त है। प्रतिपल बदलते हुए जीवन को मुखरित करती है। कहानी अपने अंदाज में अपनी भाषा के साथ आती है। जीवन के विविध रूपों को चित्रित करती है। कहानी बहुत कुछ कहती है। अपने नये क्लेवर और नये फ्लेवर के साथ कहानी सम्पूर्णता में उपस्थित होती है।

नई कहानी ने नये प्रयोग किये हैं। नवीनता कई स्तरों पर देखने को मिलती है। विषयवस्तु मूल्य चरित्र एवं भाषा सभी क्षेत्रों में प्रायोगिकता दृष्टव्य है। बहुविध प्रकृति के अनुरूप प्रयोगशीलता के दर्शन होते हैं। नई कहानी के समस्त रचनाओं में कथ्य की विविधता है, नवीनता है, सृजनशीलता है एवं आक्रामता के दर्शन होते हैं। कहीं टूटते संबंधों को लेकर तो कहीं नारी स्वतंत्रता को लेकर बहुविध प्रयोग किये गये हैं। मोहन राकेश कृत 'एक और जिन्दगी', उषा प्रियंवदा की 'वापसी' तथा भीष्म साहनी द्वारा रचित 'चीफ की दावत' में संबंधों के विघटन की तस्वीर है। मोहन राकेश ने 'मिसपाल' में नारी स्वतंत्रता को रेखांकित किया है। मन्नू भंडारी द्वारा रचित 'यही सच है' वर्तमान समय के सुख और चाहत को उजागर करता है। अमरकान्त द्वारा रचित 'जिन्दगी और जोंक' में जीवन का यथार्थबोध परिलक्षित है। इसमें कथ्य की विविधता एवं व्यापकता है।

नई कहानी सत्य का उद्‌घाटन करती है। इसमें भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता है। जीवन की संगतियों, विसंगतियों एवं जटिलताओं का चित्रण मिलता है। 'नई कहानी की भूमिका' में कमलेश्वर ने लिखा है, ''इस कहानी ने जीवन की सारी संगतियों-विसंगतियों और जटिलताओं और दबावों को महसूस किया है...यानी नई कहानी पहले और मूल रूप में जीवनानुभव है। इसके बाद कहानी है।''[7]

नई कहानी को समीक्षकों ने कई प्रकार की समीक्षाएं की हैं। जैनेन्द्र कुमार 'भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता की बात करते हैं।' डा. नामवर सिंह कहते हैं कि कहानी छोटे मुंह बड़ी बात करते हैं। इसमें आत्मसजगता है। जीवन को गहराई देखने और चित्रित करने का मौका मिलता है। अधर्म, अत्याचार, गरीबी, बेबसी का चित्रण कहानीकारों ने किया है। अमरकान्त की कहानी 'जिन्दगी और जोंक', 'दोपहर का भोजन' यथार्थ की सच्ची तस्वीर पेश करती है। धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो' में अनुभूति की

प्रामाणिकता एवं भोगे हुए यथार्थ का सटीक रूप वर्णित है।

समाज में विद्यमान सभी समस्याओं पर कहानीकारों ने लेखनी चलाई है। इन समस्याओं का समाधान भी देने की कोशिश की है। सामाजिक मूल्यों, सामाजिक मानदंडों को केन्द्र में रखा गया है। इस प्रकार से आर्थिक विपन्नता ने लोगों को जकड़ लिया है। कई बार मनुष्य को स्वयं को बेचना पड़ा है। दूसरे के यहां मजदूरी करनी पड़ी है। अकेलेपन की पीड़ा को भोगना पड़ा है। आर्थिक तंगी और बेरोजगारी की समस्या को केन्द्र में रखकर अनेक कहानियां रची गई हैं। बेरोजगारी की वजह से रिक्तता बोध के अहसास से आक्रंत है निर्मल वर्मा की कहानी 'लंदन की एक रात'।

नई कहानी अपने बदलते परिवेश से जुड़े मानव की तस्वीर को सामने लाती है। महानगरीय जीवन, अकेलापन, संबंधों में विघटन, मशीनीकरण जिन्दगी को नई कहानी में दिखाया गया है। औद्योगिकरण ने किस प्रकार मानवता के समक्ष नई चुनौती पेश की है। अपरिचय और विसंगतियों का दबाव मनुष्य की चेतना पर पड़ता है। 'परिंदे' निर्मल वर्मा की कहानी है। इसमें प्रेम संवेदना को चित्रित किया गया है। इसमें संवेदना का उत्कृष्ट रूप विद्यमान है। मर्म की नीचे के सतह को उजागर करती है। रचनाकार की परिवेश से लगाव और अर्जित ऊर्जा ही कहानी के संवेदना के केन्द्र में है। इसमें सरलता एवं सहजता है। इसमें त्वरा है, उष्मा है, जीवन है, जीवन का दर्द है, पीड़ा है, अकेलापन है, महानगरीय जीवन की पीड़ा का बहुआयामी स्वरूप विद्यमान है। कथ्य और शिल्प दोनों एक हो गये हैं। नई कहानी में भाषा शिल्प और कथ्य गुंथे हुए हैं। इन कहानियों में यथार्थ जीवन प्रतिबिम्बित हो रहा है। अतिशय भावुकता और अतिशत बौद्धिकता कहानियों में मिलता है। अपने नये स्वरूप में कलात्मक नवीनता के साथ नई कहानी उपस्थित होती है। इसमें समाज का यथार्थ चित्रित है। तत्कालीन परिवेश की समस्त विद्रपूता और विसंगतियों का चित्रण मिलता है। अपने युग की भाषा में अभिव्यक्ति के समस्त रूप विद्यमान हैं। भाषा में स्पष्टता, सहजता एवं प्रभावात्मकता है। कहीं-कहीं लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता विद्यमान है। सड़ी-गली मान्यताओं, जर्जर रुढ़ियों, भ्रष्ट व्यवस्था एवं सामाजिक रुढ़ियों पर तीव्र प्रहार भी किया गया है।

नई कहानी में मूल्य संकट और मूल्य विघटन को अत्यन्त गंभीरता से चित्रित किया है। संयुक्त परिवार के विघटन, दाम्पत्य संबंधों के मूल्यों, पुराने मूल्यों के नकार एवं मोहभंग की प्रक्रिया ने रचनाकारों को सृजनात्मक विद्रोह के लिए प्रेरित किया है।

नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समानांतर कहानी एवं सक्रिय कहानी ने बदलते परिवेश को चित्रित किया है। आम आदमी की दशा का चित्रण किया है। कहीं-कहीं आधुनिकताबोध के दर्शन होते हैं। डा. नगेन्द्र मोहन के अनुसार, ''ये कहानियां साहित्य की तरफ से साथ देने का औपचारिक प्रस्ताव नहीं बल्कि बड़े पैमाने पर चल रही यथार्थ की लड़ाई में शामिल कहानियां हैं..... ये मुजरिसम आदमी की बदलती हुई धारणाओं उसके प्रश्नों और चिंताओं की लिखित तहरीर ही नहीं बल्कि समय ने लिये गये उसके फैसलों की यथार्थ प्रतिलिपियां भी हैं।''8

नई कहानी बदलते परिवेश को नये कथ्य, नये क्लेवर, नये फ्लेवर में पेश करती है। जीवन के यथार्थ को सरल एवं स्पष्ट भाषा में सामने रखती है। आज के तकनीक के बढ़ते प्रभाव ने सामान्य जन की तस्वीर को पेश करने में नई कहानी सक्षम है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, डा. ब्रजमोहन, कथा लेखिका मन्नू भंडारी, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991, पृ. 1,
2. सिन्हा, सुरेश, नई कहानी की मूल संवेदना, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1972, पृ. 27
3. सिंह, डा. नामवर, कहानी : नई कहानी, लोकभारती प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1973, पृ. 42
4. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, अक्षर प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, पृ. 71
5. सिंह, डा. नामवर, कहानी : नई कहानी, लोकभारती प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1973, पृ. 19
6. मदान, डा. इन्द्रनाथ, हिन्दी कहानी : पहचान और परख, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1975, पृ. 155-156
7. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, अक्षर प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, पृ. 32
8. मोहन, डा. नरेन्द्र, आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1966, पृ. 92

डा. राम किशोर यादव
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारतीय योग-दर्शन और कबीर का सहजयोग

–डा. पोर्शिया सरकार

योग का प्रारम्भ मानव सभ्यता के आरम्भ से मानना चाहिए। इसके विज्ञान का प्रारम्भ हजारों साल पहले हुई थी। योग विद्या का पहला योगी स्वयं शिव है। इसलिए इनको ही आदि योगी कहा जाता है। योग शरीर, मन और आत्मा की सामंजस्य की ओर एक पंथ है। योग संस्कृत शब्द 'युज्' से बना है। जिसका अर्थ है मिलना, जुड़ना अथवा संयुक्त होना। आत्म-चेतना का परमात्म-चेतना से मिलन का दूसरा नाम योग है। यह मात्र एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम या अभ्यास नहीं है। यह एक प्रचीन ज्ञान है जो स्वस्थता और अमत्व प्रदान करता है। हर मनुष्य आनंद चाहता है। योग एक ऐसा कला है जो शरीर, मन और आत्मा को स्वस्थ बनाकर आत्म तुष्ट करती है।

'दर्शन' शब्द संस्कृत की दृश् धातु से बना है। इस विषय में कहा गया है–**''दृश्यते हि अनेन इति दर्शनम्''**[1] जिसका अर्थ है जिसके द्वारा किसी वस्तु या तत्व के प्रकृत रूप को देखा व समझा जा सकता है। एवं उस तत्व के तात्विक स्वरूप की उपलब्धि की जा सकें। अर्थात शाब्दिक अर्थ को ले तो 'वह शास्त्र जिसके द्वारा यथार्थ तत्व का वर्णन होता है।'[2]

वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत एवं श्रीमदभागवतगीता जैसे महान ग्रंथों में योग सम्बंधी अनेक तथ्यों को देखा जा सकता है। परंतु योग का सम्यक ज्ञान के लिए महर्षि पतंजलि के 'योग दर्शन' को देखा जाता है। जिसको उन्होंने 2200 वर्ष पूर्व विभिन्न प्राचीन ग्रंथों में से योग सम्बंधी ज्ञान और चिंतन को एकत्रित कर अपने छोटे-छोटे सूत्रों में उड़ेल कर 'पातञ्जल योगदर्शन' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया था। संस्कृत भाषा में रचित यह योग ग्रंथ आगे चलकर विश्वभर की सर्वश्रेष्ठ प्रमाणिक योग ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जाता है। जो कि चार अध्यायों में विभाजित है और 195 सूत्रों में विभाजित है। महर्षि पतंजलि द्वारा सूत्रों में वर्णित योग सम्बंध में सम्यक ज्ञान और गूढ़ तत्वों का मानव जीवन में पथ निर्देशिका के रूप में इसकी सुव्यवस्था करने के कारण ही यह सूत्रावलि योग-दर्शन के नाम से परिचित है। पतंजलि और योग का सम्बंध अटूट हैं जिसे निम्नलिखित पक्तियों में देखा जा सकता है-

''योगेन चितस्य पदेन वाचां , मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां , पतजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।''[3]

अर्थात् जिन्होंने मन की शांति और पवित्रता के लिए योग, भाषण की स्पष्टता शुद्धता के लिए व्याकरण, पूर्ण स्वास्थ्य के लिए औषधी का पथ निर्दश दिया ऐसे महान ऋषि और योगी पतंजलि को नमन। (योग दर्शन रचयिता 'पतंजलि' संस्कृत व्याकरण प्रणेता 'पाणिनी' एवं आयुर्वेद चिकित्सा के ग्रंथकार 'चरक' को एक ही व्यक्ति समझा जाता था।) इनके नाम के विषय में कहा जाता है कि इनका ऊपर का आधा शरीर मनष्य का है और नीचे का आधा सर्प का। एवं स्वर्गलोक से पाणिनी मुनि की अंजलि में सर्पाकार में ये गिरे थे इसलिए इन्हें पतंजलि कहा जाता है।

अपने ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में वर्णित सूत्रों में उन्होंने योग और जीवन पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का बड़ा ही वैज्ञानिक वर्णन किया है। जिसमें उन्होंने योग के चार अंग बताए है **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्यानसमाध्योअष्टावङानि''**[4] अर्थात् यम, नियम , आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये योग के चार अंग है।

योगदर्शन के प्रवक्ता महर्षि पतंजलि ही योग के जनक माने जाते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित योग को राजयोग की संज्ञा दी गई है। हिंदी साहित्य के इतिहास में सबसे पहले गोरखनाथ ने हठयोग का प्रवर्तन किया था। तत्पश्चात संत कबीर का नाम आता है। इनका योग मनुष्य की अनंत शक्तियों को जगाने की बात करता है। मनुष्य की आन्तरिक शक्ति जगाने में योग महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आन्तरिक रूप से समर्थ मानव से ही शक्तिशाली समाज और राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

हालांकि योग हिंदू धर्म का अभिन्न अंग है। परंतु यह एक ऐसा ज्ञान है जो सभी धर्म और संस्कृति से परे है। सदियों से भारतीय संस्कृति, सभ्यता, समाज और साहित्य इस ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता रहा है। योग का क्या महत्व है? इसे आज हरेक मनुष्य महसूस कर रहा है। योग की शिक्षा मात्र योगियों के लिए नहीं है। योग का इतिहास और महत्व को प्रस्तुत करने से पूर्व इन तीन योग मंत्रों को जानना परमावश्यक है-**1. ''योगश्चिशव शिनिरोधः', 2.'स्थिरसुखमासनम्' एवं 3.'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायम :''**[5]

सूत्र में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रूक जाना 'योग' है। कबीर ने इसे 'सूरति' कहा है। इसके स्थिर होने पर साधक केवल साक्षी या दृष्टा मात्र रह जाता है, वासनाएँ छूट जाती है। महर्षि पतंजलि ने समस्त योग का सार इस एक सूत्र में बाँध दिया है। यही सारभूत सत्य है। 2. योग और जीवन दोनों में स्थिरता ही आनंद का पर्याय है। 3. श्वास की गति को नियंत्रण कर जीवन को भी नियंत्रण किया जा सकता है।

आज हम केवल शारीरिक अस्वस्थता को ही अस्वस्थता मानते हैं। परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि शरीर से स्वस्थ दिखाई देनेवाला मनुष्य गहरी मानसिक पीड़ा और कष्टों को भोगता हुआ जीवन यापन करता है। इसलिए शारीरिक व मानसिक दोनों रूप से स्वस्थता ही काम्य है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। निर्मल चित्त ही मनुष्य का धर्म है। जीवन में दुःख के मूलतः चार कारण होते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग एवं द्वेष। योग से ही इन सबसे मुक्ति सम्भव है। योग के द्वारा ही संवेदन का विकास सम्भव है और संवेदन ही मोक्ष है। विवेकानद जी ने योग के सम्बंध में कहा है कि सामान्य अभ्यास के द्वारा योग को जीवन में समाहित करने पर महत फल लाभ किया जा सकता है। इससे किसी का अनिष्ठ नहीं होता है बल्कि लाभ ही होता है। इससे जीवन में स्नायविक उत्तेजना शांत होता है, मन में स्थिरता का समावेश होता है। सभी विषय और स्पष्ट होने लगते है मन और शरीर दोनों स्वस्थ होने लगते हैं। 'योगी' शब्द का अत्यंत व्यापक अर्थ लिया जाए तो जो संसार में सदाचार से रहकर जीवन को जो सफल करना चाहता है, वही योगी है। आधुनिक सभ्यता की सब बुराई की जड़ आहार-विहार में अमर्यादित होना है।

भारतीय साहित्य में नाना कवियों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। जिनमें से महान कवि एवं संत कबीरदास ने अपनी वाणी में इसे सहज योग के रूप में स्वीकारा है। सन् 1398 में काशी में जन्मे मध्यकालीन भक्त साधकों में कबीर एक सरल हृदय संत महात्मा थे। आडम्बर रहित भक्त और एक सच्चे योगी थे। महात्मा कबीर का वचन ''साधो सहज समाधि भली!'' में मनुष्य को सहजता से योग और संयम को जीवन में धारण करने पर उन्होंने जोर दिया।

राम चंद्र तिवारी अपनी पुस्तक 'काव्य-मीमांसा' उनके सम्बंध में कहते है–''वे भारतीय संस्कृति-सागर के गहन मंथन से प्राप्त दिव्य नवनीत है। कबीर अकेले संत कवि हैं जिन्होंने समस्त धार्मिक आडम्बरों एवं बाह्याचारों को नकार कर सहज जीवन-पद्धति को सवोच्च मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।''[6] कबीर के सहज योग के सम्बंध में कुछ कहने से पूर्व उनके सम्बंध में कुछ तथ्यों को जानना अत्यावश्यक है। कबीर का जन्म और निधन के सम्बंध में अनेक मतैक्य है। भारतीय इतिहास में यह समय घोर

राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल और संक्रान्ति का युग माना जाता है। कबीर की वाणी को लोक-कल्याण से जोड़ने के पीछे यही योग-साधना है। कबीर का योग मानव मन का परिष्कार करने में विश्वास रखता है। मानव का परिष्कृत मन ही सभी उपलब्धियों को प्राप्त करने में सहायक है। चूंकि वे एक जुलाहे थे इसलिए वे स्वयं अत्यंत साधारण जीवन यापन में विश्वास करते थे। इसलिए उनके चिंतन के केंद्र में भी साधारण मनुष्य ही थे। इसलिए उनकी भक्ति, चिंतन और ज्ञान अत्यंत सहज सरल और साधारण थे। वे स्वयं एक सरल सहज भक्त और योगी थे। इसलिए वे जीवन भर धार्मिक कर्मकांड रहित समाज गठन की चेष्टा करते रहे।

करूणाशंकर उपाध्याय अपने आलेख में कबीर के योग सम्बंध में लिखते हैं कि–''इस तरह कबीर का योग साधना केवल ईश्वर प्राप्ति का माध्यम ही नहीं है अपितु मानवीय समता और सम दृष्टि स्थापना का मूल सूत्र भी है'' इसे कबीर की इन पंक्तियों में देखा जा सकता हैं–'ज्यों तिलमांही तेल है, ज्यों चमक में आगि। तेरा साईं तुझ में है जागि सके तो जागि'। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के काव्य में भक्ति पर विचार करते हुए लिखा था कि ''कबीर का भक्ति योग के क्षेत्र में प्रेम का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।''[7] वास्तव में कबीर के लिए ज्ञान, योग और भक्ति में कोई अंतर नहीं था। जिसे माया से मुक्त होकर अभेद दृष्टि प्राप्त कर ही इसे प्राप्त किया जा सकता है–

''जब थै आतम तत्व विचारा।
तब निबैर भया सबहिन थे काम क्रोध इगहि डारा॥
व्यापक ब्रह्म सबनि में एकै को पंडित को जोगी।
राणा रंक कवन सूं कहिये, कबन बैद को रोगी॥''[8]

इसमें कबीर कहते हैं कि अभेद दृष्टि प्राप्त करना ही सत्य को उपलब्ध करना है। जब सारे संसार में एक ही तत्व व्याप्त है, तो सारी भेदभाव व्यर्थ है। चाहे पंडित और योगी, राजा और रंक, बैद्य और रोगी ही क्यों न हो। भेद तो अज्ञानता का प्रतीक है। काम, क्रोध आदि मनोविकारों को त्यागकर सबके प्रति निवैर भावना अपना लेना ही आत्म-तत्व को सही रूप में पहचानना है।

''कबीर'' पंजरि प्रेम प्रकासिया, जागा जोग अनंत।
रंसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत॥''[9]

कबीर के योग के सम्बंध में रामचंद्र तिवारी कहते हैं–''कहना न होगा कि योग-साधना का लक्ष्य भी समचित्तता प्राप्त करना ही है। शिवत्व या समतत्व को धारण करने के लिए मन का परिष्कार और समत्वबुद्धि प्राप्त करना पहली शर्त है। इसलिए कबीर बार-बार मन का योग साधने की बात कहते हैं। इनके लिए योग का जागना, प्रेम का प्रकाशित होना (भक्ति भाव में लीन होना) संशय का छूटना (ज्ञान दशा प्राप्त करना) और प्रियतम का सामीप्य प्राप्त करना एक ही मनोभूमि की विभिन्न उपलब्धियाँ है।''[10]

कबीर के लिए ज्ञान-साधना, योग-साधना और भक्ति-साधना में कोई अंतर नहीं। योग दर्शन में 'योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः' कहकर योग को परिभाषित किया गया है। अर्थात मन की वृत्तियों को शांत करना ही योग है। कबीर यही योग के महत्व को स्वीकारते हुए उसे अपने काव्य में नए रूप में प्रतिष्ठित भी करते है। वे योग जैसे सूक्ष्म विषय के ज्ञानी भी थे। उनकी भक्ति का मूलाधार एक प्रकार से योग ही है। उनके अनुसार इस योग साधना में गुरू का विशेष महत्त्व है। जिसकी सहायता से मानव अपने अहंबोध का परित्याग कर सांसारिक विषय वासनाओं से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। कबीर का यही सहज योग मानव को सच्चा भक्त, सच्चा साधक और सच्चा योगी बनाता है। सहजयोग द्वारा ही चित्त का शुद्धिकरण सम्भव है। यह सहज योग आखिर है क्या? इस विषय में कबीर कहते हैं–

''तन को जोगी सब करै मन को मन को बिरला कोई,
सब सिद्धि सहजे पाइए जे मन जोगी होइ॥''[11]

हर कोई तन से योगी होने की बात करते हैं। परन्तु कबीर मन से योगी होने की बात स्वीकारते हैं। कबीर ने सभी सफलताओं एवं सिद्धियों को प्राप्त करने की सीढ़ी योग को ही बताया है। मन से, वचन से और कर्म से दूसरों के हित को देखना ही सहज योग है। उनके लिए सच्चा योगी एवं सच्चा साधक वही हो सकता है जिसने विषय-लालसा का परित्याग कर दिया है। उसी को सहज साधक कहा जा सकता है–

''सहज सहज सबकौ कहै, सहज न चीन्हैं कोई।
जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोई॥''[12]

डॉ. रामकुमार वर्मा ने कबीर-वाणी की शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–''हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक सीमा को तोड़कर उन्हें एक ही भाव-धारा में बहा ले जाने का एक अपूर्व बल कबीर-काव्य में था। उनकी सृष्टि ने ही उन्हें सार्वजनिक व सार्वभौमिक बना दिया।''[13]

भारतीय योग परम्परा में कबीर का योगदान इसलिए

भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने उसे लोकानुभव से परिपुष्ट किया है, उसे लोकोपकारी बनाया है। योग के सहारे उन्होंने साधारण मनुष्य के मन को स्थिर, संयमित एवं नियंत्रित करने पर जोर दिया। मन को नियंत्रण एवं संयमित करना आज तो और भी आवश्यक हो गया है। इसके अभाव में ही सारी गलत चीजों में हमारा मन लिप्त हो रहा है। हालांकि आज हर कोई सुख की तलाश में भटक रहा है। यही भटकाव धीरे-धीरे जीवन में क्रोध, विरक्ति, क्षोभ हताशा, असंतुष्टि और व्यर्थता को जन्म देने लगी है। इसलिए भी योग हमारे जीवन में और महत्त्वर्पूण बन गया है। इसी से हम अपने मन को संयमित कर सकते हैं। समय गतिशील है। मनुष्य अपना नाम, पैसा और सुख के लिए आज हर उस रास्ते से गुज़र जाता है। जो रास्ते उसे पैसे तो जरूर देती हैं। लेकिन आत्मा की शान्ति छीन लेती है। आधुनिक दौर ने मनुष्य को नाना समस्याओं के बीच अकेला और लक्ष्यहीन बना दिया है। योग के द्वारा ही वह आत्म-संतुष्टी और आत्म सुधार कर सकता है। ये प्रयास ही योग है।

संदर्भ

1. http://randhirbharat.blogspot.com दृश्यतेह्यनेनेति दर्शनम्, रणधीर भारत
2. आदर्श हिंदी शब्दकोश, सम्पादक पण्डित रामचंद्र पाठक, प्रकाशक भार्गव बुक डिपो, वाराणसी, पृ. 348
3. http://m.bharatdiscovery.org पतंजलि (योग सूत्रकार) -भारतकोश, ज्ञान का हिन्दी महासागर
4. http://hi.wikipedia.org पतंजलि योगसूत्र-विकिपीडिया
5. पातंजल योग सूत्र, व्याख्याकार नंदलाल दशोरा, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, सूत्र-2, पृ. 12
6. कबीर मिमांसा, राम चंद्र तिवारी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2003 'आमुख'
7. http://www.sahchar.com भारतीय योग परम्परा और कबीर, डॉ. करूणाशंकर उपाध्याय
8. कबीर मिमांसा राम चंद्र तिवारी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृ. 87
9. वही, पृ. 88
10. वही, पृ. 88
11. http://www.amarujala.com कबीर वाणी : तन को जोगी
12. कबीर ग्रंथावली सटीक, गोविंद त्रिगुणायत, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली 6, पृ. संख्या-191
13. कबीर ग्रंथावलि सटीक, डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, अशोक प्रकाशन, दिल्ली पृ. 59

डॉ. पोर्शिया सरकार
सहायक प्राध्यापिका
हिंदी विभाग,
निस्तारिणी कॉलेज पुरुलिया,

सांस्कृतिक भारत : श्री अरविन्दो के दृष्टिकोण में

–प्रभाकर पाण्डेय
–डा. अंजू बाली पाण्डेय

शोध सार

वर्तमान के विकास के लिये, उसके अतीत का ज्ञान आवाश्यक है, इसके अलावा बहुआयामी और सर्वांगीण विकास के लिये आवाश्यक है कि, व्यक्ति और समाज अपने मूल से जुड़ा रहे। भारत के प्राचीन इतिहास के साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य, भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा की कहानी को बयाँ करते हैं। विभिन्न कालखण्डों में भारतीय संस्कृति ने मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, यूरोप आदि से संपर्क स्थापित करके अपनी समृद्ध संस्कृति का स्थानांतरण और अपने को विकसित करती चली गयी। लेकिन पूर्वमध्यकाल (700 ई. - 1200 ई.), मध्यकाल (1200ई. -1700 ई.) और आधुनिक काल (1700 ई. - 1947 ई.) में भारतीय संस्कृति पर अक्रांताओं ने प्रहार कर इसके मूल तत्वों को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया। आधुनिक भारत में यूरोपीय विज्ञान एवं आर्थिक जागरण ने जबरदस्त उन्नति की, वहीं इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा, प्रतिफल प्राचीन शिक्षा पद्धति, दर्शन, सोच, पहनावे आदि भी परिवर्तित हुये। 19 वीं सदी में हिन्दु आध्यात्म द्धारा, भारत के सर्वांगीण पुनर्जागरण का कार्य का श्रेय स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद एवं महर्षि अरविन्द घोष को जाता है। महर्षि अरविन्द ने भारतीय योग परंपरा द्वारा पृथ्वी का दिव्यकरण करके दिव्य मानव समाज स्थापित करने का आदर्श प्रस्तुत किया। श्री अरविन्द घोष के चमत्कारिक व्यक्तित्व में पश्चिम का समृद्ध विज्ञान, दर्शन, सहित्य तथा भारत के प्राचीन आध्यात्म, योग, दर्शन आदि का समन्वय था, 'आर्य' मासिक पत्रिका में 1914 ई. से 1920 ई. तक लिखे संपूर्ण लेखों के लिये, संपूर्ण मानव समाज उनका कृतज्ञ है, महर्षि घोष अरविन्द के सांस्कृतिक विचारों का ज्ञान मन्दिर पाँडिचेरी में उनका आश्रम है, जो स्थापना से वर्तमान समय तक, उनके ज्ञान, दर्शन, आदर्श का प्रचार-प्रसार संपूर्ण संसार में मानवता के कल्याण के लिये अनवरत रूप से गतिशील किये हुये है।

बीज शब्द : महर्षि अरविन्द, सांस्कृतिक, अतिमानस, भारत, आध्यात्म

प्रस्तावना

''यह सच है कि विश्व में भारत ही एकमात्र देश है जिसे इस बात का अभी भी मान है कि 'जड़ पदार्थ' के अतिरिक्त और कुछ भी है। अन्य देश–यूरोप, अमेरिका तथा अन्यत्र–इसे बिल्कुल भूल चुके हैं, इसलिए उनके पास अभी भी एक संदेश है जिसे सुरक्षित रखना और दुनिया तक पहुँचाना है। किंतु अभी तो वह अव्यवस्था में बिखर और झटपटा रहा है।"

'वैदिक काल' भारतीय बौद्धिक शक्तियों की परकाष्ठा का काल है, जो वेदों से प्रारम्भ होकर, ब्राह्मण ग्रंथ, आराण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग तक सहज रूप से विकास करती है। महाभारत और रामायण लोक का हिस्सा हैं एवं लोक को राजनीति, जीवन मूल्य, नीति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के द्वारा आन्तरिक, बौद्धिक शक्ति प्रदान करतें हैं। वेदों, ब्राह्मण, अराण्यक, उपनिषद्, गीता आदि का ज्ञान ग्रहण करने के लिये एक उच्च गुरू की आवश्यकता होती है। वर्तमान युग के संबंध मे ंतो यह और भी कठिन है, क्योंकि वैदिक संस्कृत भाषा की जानकारी का अभाव है, इसके अलावा इन विषयों का अध्ययन मुख्य धारा में न होने के कारण तत्वदर्शी, अन्तर्दृष्टि, दूर दृष्टि प्राप्त प्राचीन ऋषि परंपरा का अनुसरण करते समृद्ध गुरूओं का विलोपन। 1872 ई. में कलकत्ता में जन्मं महर्षि अरविन्द ने पश्चिमी भौतिकवाद, विज्ञान और बुद्धिवाद के भरोसे समाज के कल्याण के रास्ते को नकारा और इससे अलग मानव के चेतना के विकास (आन्तरिक विकास) का मार्ग दिखाकर दिव्य समाज में आदर्श मानव की अवधारणा प्रस्तुत करते हुये अतिमानस (Supermind) एवं अतिमानव (Superman) की कल्पना की।

महर्षि अरविन्द घोष का जीवन तीन चरणों में समझा जा सकता है, प्रथम चरण में गरमपंथी विचारधारा के क्रान्तिकारी नेता जिन्होंने इन्दु प्रकाश, बंदे मातरम तथा कर्मयोगिन पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार पर कड़ा प्रहार किया, दूसरा चरण पाँडिचेरी काल, जिसके अंतर्गत राजनीति से अपने को अलग करने के बाद आध्यात्मिक साधना एवं योग की जीवन-शैली जीते हुये 1914 ई. से जनवरी 1921 ई. तक आर्य मासिक पत्रिका में धारावाहिक आलेख, जो बाद में पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये गये। ये पुस्तकें हैं दिव्य जीवन, योग समन्वय, मानव चक्र, मानव एकता का आदर्श, वेद रहस्य, उपनिषद्, गीता प्रबन्ध, भावी काव्य, भारतीय संस्कृति के आधार तथा तीसरा चरण 1920 ई. से गहन योग-साधना पूर्ण जीवन एवं 1926 ई. से एकांतावास गमन। इस प्रकार पाँडिचेरी काल में महर्षि अरविन्द घोष, महान संत के रूप में उभर कर आते हैं, एक ऐसा संत जो जीवन से संन्यास पर नहीं अपितु जो संसार, समाज में रहते हुये मानव कल्याण का कार्य करे। महर्षि अरविन्द घोष का मानव एकता का सूत्र, विश्व बंधुत्व का सूत्र, वर्तमान काल में अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया जाता है। अभी पिछलें दिनों 15 अगस्त स्वतन्त्रता दिवस के दिन माननीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी ने प्रत्येक भारतीय को पाँच प्रण दिलाये इन **प्रणों/संकल्पों** को सिद्ध करने का आधार महर्षि अरविन्द द्वारा सुझाये गये हैं।

भारतीय समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा

'भारतीय सभ्यता का मूल्यांकन मुख्यतः उसकी सहस्त्रों वर्षों की संस्कृति और महानता के द्वारा होना चाहिये, न कि अज्ञानता एवं दुर्बलता की कुछ सदियों द्वारा, एक संस्कृति का मूल्यांकन, सर्वप्रथम उसके मूलभूत भाव द्वारा, फिर उसकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों द्वारा और अततः अपने जीवित बने रहने की, पुनरूद्धार की तथा जाति की चिरंतन आवश्यकताओं के नए चरणों के अनुरूप ढलने की शक्ति द्वारा किया जाना चाहिये।' **–महर्षि अरविन्द**

प्राचीन भारत की संस्कृति का मुख्य आधार हैं- आध्यात्म, विलक्षण प्राण शक्ति, सुदृढ बौद्धिकता, समन्वयात्मक भावना। वास्तव में यह आध्यात्म, कर्मकाण्ड, पूजा-अर्चना के साथ-साथ विश्व-बंधुत्व, मानव एकता पर ध्यान केंन्द्रित करता है।

अयं बन्धुयंनेति गणना लघुचेतसाम।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम॥
(*महोपनिषद*, अध्याय 6, मंत्र 71)

अर्थात–यह मेरा बन्धु है, यह मेरा बन्धु नहीं है, इस प्रकार का मूल्यांकन छोटे चित् वाले मनुष्य करते, उदार हृदय वाले लोगों की तो संपूर्ण धरती ही परिवार है।

उपनिषद् के इस दर्शन का सारत्व मानव एकता है। ऋग्वेद काल के ऋषियों के पास एक अद्भूत अतर्दृष्टि थी, यह अर्तदृष्टि प्रकाशवान थी, जिसमें तमस् के लिये कोयी स्थान नहीं है। प्राचीन ऋषियों ने इस दिव्य अन्तः दृष्टि को माया कहा है और ऋग्वेद में इसको प्रज्ञान कहा जाता है।

अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में रामधारी सिंह 'दिनकर', भारतीय संस्कृति के संबंध में विचार प्रकट करते हुये कहते हैं कि, भारतीय संस्कृति में चार महान क्रान्तियाँ हुयी हैं, इन क्रान्तियों का क्रम है, आर्यो का भारत आगमन, बुद्धकालीन धार्मिक आन्दोलन, इस्लामिक

आक्रांताओं का संपर्क और अन्त में यूरोपीय उपनिवेश के समय। आधुनिक भारत में 19 वीं सदी में राजा राममोहन, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद एवं महर्षि अरविन्द ने भारतीय सांस्कृतिक जागरण का नेतृत्व किया। इनमें से सभी के पुनर्जागरण का सूत्र का आधार भारतीय आध्यात्म था। राममोहन राय ने सती प्रथा के दमन के लिये प्राचीन धर्म ग्रंथों के सूत्रों को समाज के बुद्धिजीवी वर्ग (समर्थन करने वाले) के सामने प्रस्तुत किये। दयानंद ने वेदों के महत्व को समझाया और 'वेदों की ओर लोटो' का नारा दिया, स्वामी जी तथा योगीराज अरविन्द ने उपनिषद्, वेद, गीता का सार प्रस्तुत किया अपने नव वेदांत के दर्शन में। योगिराज अरविन्द इसी प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधुनिक ऋषि है।

महर्षि अरविन्द की सांस्कृतिक विचारधारा

महर्षि अरविन्द के सांस्कृतिक विचारों का आधार भारतीय आध्यात्म, भारतीय दर्शन और भारतीय योग है। संस्कृति संबंधि उनका दृष्टिकोण उनके लिखे हुये लेखों से स्पष्ट होते हैं। बड़ौदा प्रवास (1893 ई. - 1906 ई.) के दौरान भारतीय भाषाओं का अध्ययन, सांग्स टू मर्टिला (Songs to Myrtilla), लव एण्ड डेथ तथा सावित्रि के प्रारम्भिक लेखन में सांस्कृतिक तत्वों की अभिव्यक्ति होती है। इसी समय होमर, दांते, भवभूति, कालीदास, व्यास आदि महान ग्रंथकारों का अध्ययन किया। भारतीय भाषाएँ संस्कृत, गुजराती, मराठी, बंगाली का अध्ययन किया, इन भाषाओं के अध्ययन से तत्कालीन भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वातावरण को गहनता से जाना, इसके साथ-साथ अतीत के भारत को भी उन्होंने जाना। संस्कृत, बंगाली भाषा के ज्ञान ने उनको प्राचीन भारत के समाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक ढाँचे को समझने में सहायता की। महर्षि अरविन्द ने योग-प्रणायाम के संदर्भ में कहा कि, इसके अनुसरण से मस्तिष्क 'प्रज्ञमाया' (प्रकाशवान) की अवस्था को प्राप्त करता है। 1905 ई. में अपनी पत्नी मृणालनी देवी के नाम लिखे पत्र में अपने तीन दृढ़ संकल्पों का वर्णन किया जिन्हें श्री अरविन्द के 'तीन पागलपन' कहा जाता है। अपने योग साधना के मार्ग को और सुगम बनाने के लिये महाराष्ट्र के योगी विष्णुभास्कर लेले को अपना गुरू बनाया। विभिन्न प्रकार से बड़ौदा काल के दौरान भारत माता की साधना की और भारतीय संस्कृति पर गहन अन्वेषण किया, इसी गहन शोध के आधार पर उन्होंने भारतीय संस्कृति की अद्भुत् शक्तियों से संसार को परिचित करवाया। अलिपुर षड्यंत्र केस (1909 ई.) के लिये एक साल के कारावास के दौरान हुयी आध्यात्मिक अनुभूति को अपनी बांग्ला पुस्तक 'कारा कहानी' (कारावास की कहानी) के माध्यम से 'वासुदेवः सर्वमिति' (God is everywhere) के अनुभव को प्रस्तुत किया है। महर्षि अरविन्द कहते हैं कि, अपराधी, चोर, कातिल अर्थात सभी पवित्र आत्माओं में भी एक दिव्य आत्मा का वास है, आवश्यकता है तो बस इस दिव्यता को उठाने का, और इसका मार्ग बताया भारतीय योग-आध्यात्म साधना अर्थात आन्तरिक विकास।

1910 ई. से 1950 ई. अपने मृत्यु समय तक संपूर्ण जीवन पाँडिचेरी में बिताया। यहाँ पर 15 अगस्त 1914 ई. से, श्री माँ (मीरा अल्फासा) के सहयोग से 'आर्य' मासिक पत्रिका में अपने आध्यात्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक लेखों की श्रृंखला लिखी। 1920 ई. से 1926 ई. तक गहन आध्यात्मिक साधना और फिर 24 नवंबर 1926 ई. से एकांतवास में चले गये। वस्तुतः पाँडिचेरी काल के दौरान लिखे गये आलेखों में ही उनके भारतीय सांस्कृतिक विचारों की चरमता दिखायी देती है, जिसकी चरम परिणीति सावित्रि महाकाव्य में दिखती है।

महर्षि अरविन्द के भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण को निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है–

भारतीय संस्कृति महर्षि अरविन्द के दृष्टिकोण में

पाँडिचेरी प्रवास काल में 'आर्य' मासिक पत्रिका में महर्षि अरविन्द ने 1918 ई. से 1921 ई. तक भारतीय संस्कृति पर लेखों की श्रृंखला लिखी, इसका नाम था 'इज इण्डिया सिवलाइज्ड?' (Is India Civilised) तथा दूसरे लेखों की श्रृंखला थी, 'ए डिफेन्स ऑफ इण्डियन कल्चर' (A Defence of Indian Culture) इसके अलावा एक अन्य लेख जो परिशिष्ट में प्रकाशित हुआ था, 'इण्डियन कल्चर एण्ड एकसटर्नल इंफ्लूएंस' (Indian culture and external Influence), 1950 के दशक में श्री अरविन्द पुस्तकालय, न्यूयॉर्क, ने इन तीनों श्रृंखलाबद्ध लेखों का संकलन, 'फाउंडेशन ऑफ इण्डियन कल्चर' नाम से प्रकाशित की, इसका हिन्दी अनुवाद 'भारतीय संस्कृति का आधार' के नाम से प्रकाशित हो रही हैं।

'भारतीय संस्कृति के आधार' पुस्तक का जिक्र करते समय दो लोगों का संदर्भ देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम विलियम आर्चर और दूसरा जॉन वुडरफ, विलियम आर्चर अपनी पुस्तक 'इण्डिया एण्ड द फ्यूचर' में भारत की संस्कृति पर तीखा प्रहार करता हुआ कहता है कि, भारतीय दर्शन, धर्म, काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वेद, रामायण,

महाभारत, उपनिषद्, उपलब्धियाँ आदि सभी बर्बर हैं और घृणा का एक स्तूप हैं। 'भारतीय संस्कृति के आधार' पुस्तक में श्री अरविन्द के छह समीक्षा लेखों का संकलन भी है, जो विलियम आर्चर की भारत के प्रति दृष्टिकोण का उत्तर हैं, यह छः लेख 'A Rationalistic Critic on Indian culture' शीर्षक से श्री अरविन्द ने लिखे, महर्षि अरविन्द विलियम आर्चर पर टिप्पणी करते हुये कहते हैं कि–''आर्चर की यह पुस्तक आलोचना नहीं है, यह साहित्यक है या यूँ कहें कि पत्रकारी मुक्केबाजी है। यह पुस्तक नकली पत्रकारिता है, न कि एक ईमानदार आलोचना परिणाम।" 'In fact this book is not criticism, it is literary or rather journalist puglism. The book is a journalistic fake, not an honest critical production'

जॉन वुडरक ने भी आर्चर के तथाकथित तर्कणावदी लेख की भूरी-भूरी आलोचना की और भारतीय संस्कृति के समर्थन में कहा कि भारतीय संस्कृति-सभ्यता की रक्षा समस्त मानव जाति के कल्याण के लिये आवश्यक है। महर्षि अरविन्द की तरह वुडरफ ने भी यही माना कि सच्चा और परम आनंद का मार्ग निहित है मनुष्य के अन्दर, और यह तब संभव है जब मनुष्य (मस्तिष्क), शरीर और आत्मा के बीच सामंजस्य स्थापित करे।

भारत और पश्चिमी देशों के सांस्कृतिक भेदों को प्रकट करते हुये, महर्षि अरविन्द कहते हैं कि, पश्चिमी देशों में वैज्ञानिक-भौतिक उन्नति अपने चरम तक पहुँच चुकी है, वहीं बौद्धिक शक्तियों का विकास भी चरमता पा चुका है, जिसका परिणाम वैज्ञानिक तथा अन्य सभी - क्षेत्रों में भौतिक उन्नति है। प्रथम विश्व युद्ध तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में चारों ओर अराजकता का माहौल है, लोग अत्यन्त कष्टमय जीवन जी रहे हैं, इससे यह साबित होता हो गया है कि, मानवता का परम आनंद भौतिक-आर्थिक प्रगति नहीं है, बल्कि परम आनंद का मार्ग है, चेतना का विकास, अंतर्दृष्टि का विकास और इस आन्दोलन का केंद्र एवं रास्ता है भारत। भारत का योग, आध्यात्म, दर्शन, धर्म का अनुसरण करके इसको प्राप्त किया जा सकता है। 15 अगस्त 1947 ई. को त्रिचनापल्ली आल इण्डिया रेडियो से भारत की स्वाधीनता के अवसर पर महर्षि अरविन्द ने पाँच सन्देश दिये (श्री अरविन्द के भारत के संबंध में पाँच सपने)

1. एक क्रान्तिकारी आन्दोलन जिससे अखण्ड भारत का निर्माण हो, स्वाधीन भारत में एकता नहीं है अतः एकता को प्राप्त करना।

2. एशिया के राष्ट्रों का पुनर्जागरण।

3. संपूर्ण मानवजाति में विश्व-बंधुत्व।

4. संसार को भारत का आध्यात्मिक उपहार का प्रारम्भ, जो अमेरिका और यूरोप में प्रवेश कर रही है।

5. मनुष्य का अगला कदम, चेतना का विकास, योग के माध्यम से।

महर्षि अरविन्द भारत के संबंध में अपने भाव प्रकट करते हुये कहते कि–''अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन पर्वत, नदी भर मानते हैं; मैं स्वदेश को माँ मानता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ, मैं जानता हूँ कि इस पवित्र जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है, ज्ञान का बल, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बन्दूक ले मैं युद्ध करने नहीं जा रहा, योद्धा की शक्ति ही एक मात्र शक्ति नहीं है, ब्रह्मतेज भी है, यह तेज है ज्ञान पर आधारित। यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है, इस भाव के साथ ही मैं जन्मा था, यह भावना मेरी नस-नस में भरी है, भगवान ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।"

महर्षि अरविन्द भारत को जमीन का टुकड़ा न मानकर, इसको माँ मानते हैं, एक अन्य संदर्भ में जब श्री अरविन्द 1893 ई. में अपने चौदह वर्ष के प्रवास के बाद इंग्लैण्ड से वापस आते हैं तो, जैसे ही उनके पाँव भारतीय मिट्टी में पड़ते हैं, वे दिव्य शक्ति का अनुभव करते हैं, यह उनका पहला दिव्य आध्यात्मिक अनुभव था। इस प्रकार महर्षि अरविन्द के राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक कहा जा सकता है। महर्षि अरविन्द ने माना कि सभी भारतीय बाहर से अनेक हैं किन्तु आन्तरिक रूप से एक ही हैं, उनका यह सिद्धान्त नव वेदांत दर्शन पर आधारित है, इसके अंतर्गत मानव एकीकरण पर दर्शन प्रस्तुत किया गया है।

मानव जाति का रूपांतरण

1914 ई. का वर्ष समस्त मानव जाति एवं भारतीय संस्कृति के संबंध में अद्वितीय स्थान रखती है। पाँडिचेरी में योगिराज अरविन्द एवं फ्रेंच मीरा अल्फासा (श्री माँ) की भेंट और इसके बाद 'आर्य' मासिक पत्रिका का आरंभ, यह दो ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं, जिसने भारतीय संस्कृति के मूल तत्व आध्यात्म-योग को संसार की समृद्धि, खुशहाली का आधार बताकर पश्चिमी देशों को इसकी अनिवार्यता बतायी। महर्षि अरविन्द के सांस्कृतिक चिन्तन का आधार भारतीय आध्यात्म-दर्शन है। महर्षि अरविन्द ने आध्यात्मिक समाज का विचार प्रस्तुत करते हुए आध्यात्मिक चेतना के विकास की बात कही, वस्तुतः आध्यात्मिक समाज की

अवधारणा, 'आर्य' पत्रिका में अगस्त 1916 ई. से जुलाई 1918 ई. तक, 'The Psychology of Social Development' शीर्षक से प्रकाशित हुयी थी। 1949 ई. में 'The Human Cycle' (मानव चक्र) के नाम से यह ग्रंथ के रूप में छपी, इसके अलावा 'The Life Divine' ग्रंथ (दिव्य जीवन) में भी पृथ्वी पर आदर्श मानव समाज की स्थापना का विचार दिया।

अतिमानस का अवतरण

पश्चिमी तथा भारतीय संस्कृति की तुलना करते हुये महर्षि अरविन्द, पश्चिम और यूरोप के बौद्धिक शक्ति के शक्तियों की बात करते हैं, इन बौद्धिक शक्तियों का ही परिणाम है–उद्योग विकास, विज्ञान, चिकित्सा विकास आदि सभी भौतिक उन्नति, प्रश्न यह है कि, इतनी भौतिक उन्नति के बाद भी मानव जाति, शारीरिक-मानसिक दुखों (रोग, बीमारी, सांवेगिक कष्ट आदि) से मुक्त क्यों नहीं हो रही है? उसका आनंद कहाँ गायब है? आन्तरिक रिक्तपन क्यों है? इन सबका जवाब और इस समस्या का समाधान महर्षि अरविन्द प्रस्तुत करते हैं। श्री अरविन्द इन समस्याओं के समाधान के लिये मार्ग बताते हैं, प्राचीन भारतीय योग-साधना का मार्ग, महर्षि अरविन्द का मानना है कि, संपूर्ण विश्व ने बौद्धिक शक्तियों के शक्तिशाली होने के परिणाम, यूरोप-पश्चिम के विकास के रूप में देख लिये हैं। महर्षि अरविन्द का विचार है कि, बौद्धिक शक्तियों की ऊर्जा-ताकत को हमने परख-जाँच लिया है, इसका परिणाम भी अन्त में आन्तरिक रिक्तता को ही प्रस्तुत करता है। समस्त मनुष्यों को व्यक्तिगत बौद्धिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना होगा, इस बौद्धिक विकास का अगला जो स्तर है, वह है प्रकाशवान (अज्ञानता से दूर), हर व्यक्ति को अपना ही अंश समझने की दिव्यदृष्टि, वेदों में जिसे प्रज्ञान कहा गया है, ऋषियों ने उसे माया, तो महर्षि अरविन्द इसको अतिमानस कहते हैं। मानस तर्क करने वाली है, अतिमानस प्रतयक्ष अनुभूत ज्ञान है। इस अतिमानस से बनेगा अतिमानव और होगा मानवजाति में उच्च रूपांतरण। अतिमानव की जब महर्षि अरविन्द कल्पना करते हैं तो यह विचार इससे पहले जर्मनी के विद्वान नीत्शे ने, और भारत में इकबाल ने भी प्रस्तुत किया। नीत्शे का आतिमानव भौतिक शक्तिशाली था (हिटलर) तो इकबाल का मानना है कि, जो व्यक्ति ईश्वर के समान गुण वाला है, वही अतिमानव होगा।

निष्कर्ष

महर्षि अरविन्द ने जिन सांस्कृतिक विचारों को समस्त मानव जाति के कल्याण का रास्ता बताया है, उसका केन्द्र बिन्दु भारत है। इसीलिये महर्षि अरविन्द आश्रम का मंत्र है, भारत को विश्व गुरू बनाना। वर्तमान सरकार का मानव एकता का मंत्र, हर स्तर पर गुलामी से आजादी का प्रण, योग का प्रचार, यह सब महर्षि अरविन्द के विचारों में समाहित हैं। कोरोना महामारी के काल में भी महर्षि अरविन्द

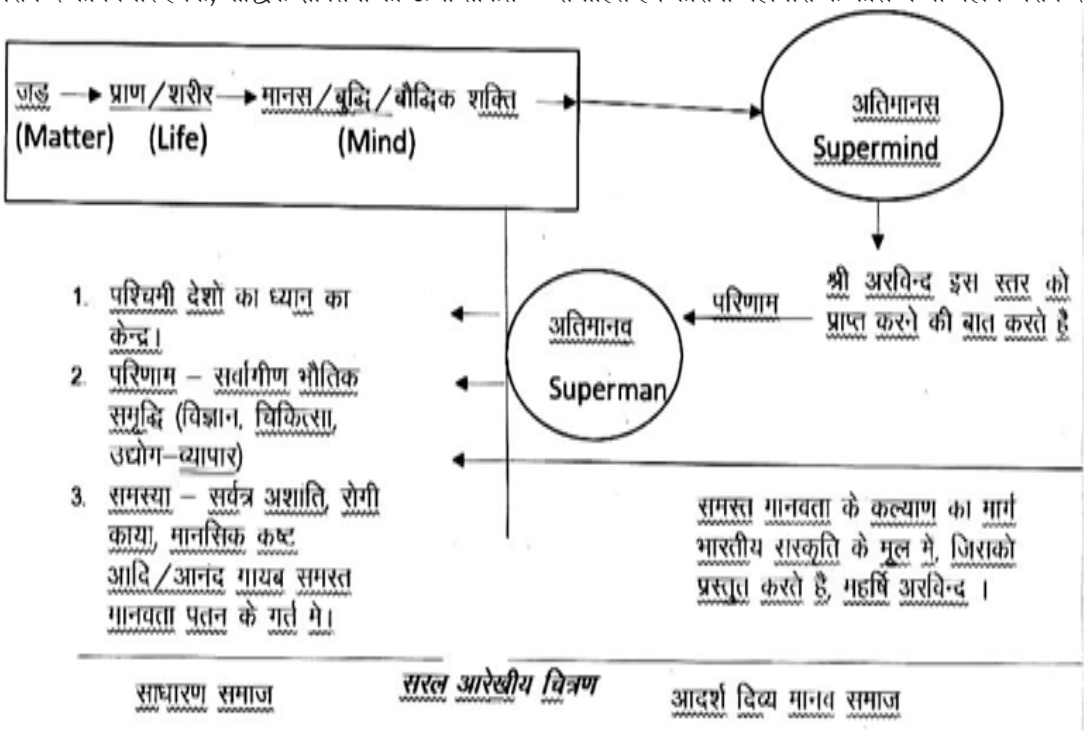

के सिद्धान्त स्पष्ट रूप से काम करते हुये दिखते हैं। तनाव, अवसाद, मानसिक विकृति, व्यापार हानि, अकाल मृत्यु आदि जब कोरोना काल में चारों दिशाओं, संपूर्ण संसार में मकड़े की तरह जाल बिछाये थी, तो उस समय संसार को एक बार फिर जीवन जीने की कला सिखाते हुए योग, प्राणायाम, आध्यात्म आदि के द्वारा मानसिक रूप से स्वस्थता का मंत्र दिया गया। महर्षि अरविन्द इन्हीं सांसारिक कष्टों में घिरे मानव जाति को आनन्द का सूत्र देते हैं। इस दृष्टि से श्री अरविन्द के विचारों की प्रासंगिकता मानवजाति के कल्याण के लिये अपरिहार्य रूप से आवश्यक है।

संदर्भ

1. श्री औरोबिन्दो आश्रम ट्रस्ट, श्री औरोबिन्दोः द स्टोरी ऑफ हिज लाइफ, 2006, प्रकाशक श्री औरोबिन्दो आश्रम पब्लिकेशन डिपार्टमेंट।
2. माहेश्वरी, अर्चना (अनुवादक), श्री अरविन्द अपने एवं आश्रम के सम्बन्ध में (साधक शिष्यों के साथ पत्राचार), भाग-4, 2020, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पॉण्डिचेरी।
3. बसु, समर, ग्लिम्पसेस ऑफ वेदान्तिश्म इन श्री औरोबिन्दोश पॉलिटिकल थौट, 1998, प्रकाशक श्री मीरा ट्रस्ट, पांण्डिचेरी
4. राजस्वी, एम.आई., महर्षि अरविन्द : एक क्रांतिकारी के महर्षि बनने की गाथा, 2015, प्रकाशक, मनोज पब्लिकेशन, दिल्ली।
5. हृदय (अनुवादक), श्री अरविन्द के पत्र; पत्नी और भाई के नाम, 2017, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी।
6. विजय, श्री अरविन्द तथा श्री माँ : एक संक्षिप्त परिचय, 2019 , प्रकाशक ऑरो पब्लिकेशन, श्री अरविन्द सोसायटी, पांण्डिचेरी।
7. वेदालंकार, जगन्नाथ (अनुवादक), श्री अरविन्द अपने विषय में (टिप्पणियों और पत्रों से संकलित), भाग-1, 2017, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी।
8. माहेश्वरी, अर्चना (अनुवादक), श्री अरविन्द अपने एवं आश्रम के सम्बन्ध में (साधक शिष्यों के साथ पत्राचार), भाग-2, 2021, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी।
9. श्री अरविन्द, कारावास की कहानी, 2015, प्रकाशक श्री अरविन्द सोसायटी हिन्दी क्षेत्रीय समिति, नोएडा।
10. त्यागी, सुरेश चन्द्र, मानव एकता का आदर्श : श्री अरविन्द के आलोक में, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पांण्डिचेरी।
11. त्यागी, सुरेश चन्द्र, भारत में नवजागरण : श्री अरविन्द के आलोक में, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पांण्डिचेरी।
12. त्यागी, सुरेश चन्द्र, आध्यात्मिक समाज : श्री अरविन्द के आलोक में, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पाण्डिचेरी।
13. त्यागी, सुरेश चन्द्र, भारतीय कला और साहित्य :श्री अरविन्द के आलोक में, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पांण्डिचेरी।
14. त्यागी, सुरेश चन्द्र, भारतीय संस्कृति का मर्म : श्री अरविन्द के आलोक में, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पांण्डिचेरी
15. त्यागी, सुरेश चन्द्र, चेतना के शिखर, 2022, प्रकाशक आशिर पब्लिकेशन, पांण्डिचेरी
16. श्री अरविन्द, वेदालंकार, जगन्नाथ एवं त्रिपाठी, चन्द्रदीप (अनुवादक), भारतीय संस्कृति के आधार, 2017, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी
17. राय, निहरेन्दु, अलिपुर कॉन्सपिरेशी केस, 2016, प्रकाशक न्यू हाउस दीपक गुप्ता, पांण्डिचेरी
18. श्री अरविन्द , माहेश्वरी, अर्चना (अनुवादक), भारतवर्ष का पुनर्जागरण, 2018, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी
19. राय, दिनेन्द्र कुमार, मौरिस शुक्ला (अनुवादक), विद औरोबिन्दो इन बडौदा, 2006, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी
20. सिंह, जयदेव, अंजनीकुमार सिंह (अनुवादक), विकासवाद और श्री अरविन्द, 1984, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
21. निरोदबरन, श्री औरोबिन्दो फॉर ऑल एजेस : ए बायोग्रफी, 2017, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांण्डिचेरी
22. श्री अरविन्द आश्रम, श्री औरोबिन्दो एण्ड हिज आश्रम, 2015, प्रकाशक श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पॉण्डिचेरी
23. श्री अरविन्द सोसायटी हिन्दी क्षेत्रीय समिति, श्री अरविन्द और उनका आश्रम, 2015, प्रकाशक श्री अरविन्द सोसायटी हिन्दी क्षेत्रीय समिति, नोएडा
24. रवीन्द्र, श्री अरविन्द : जीवन और दर्शन, श्री अरविन्द और उनका आश्रम, 2015, प्रकाशक श्री अरविन्द सोसायटी हिन्दी क्षेत्रीय समिति, नोएडा
25. दिनकर, रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, 2010, लोभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
26. खेतान, चंद्रप्रकाश (संकलनकर्ता), पंकज बगडिया (अनुवादक) भारत एवं उसकी संस्कृति की महानताः श्री माँ व श्री अरविन्द के शब्दों में, 2015, प्रकाशक रिसर्जेन्ट इण्डिया ट्रस्ट, झुन्झुनू, राजस्थान
27. नवजात, दिव्य शरीर में दिव्य जीवन, 2015, प्रकाशक श्री अरविन्द सोसायटी हिन्दी क्षेत्रीय समिति, नोएडा

प्रभाकर पाण्डेय
शोधार्थी, इतिहास विभाग
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, देहरादून, उत्तराखण्ड
डॉ अंजू बाली पाण्डेय
ए.प्रो., इतिहास विभाग
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, देहरादून, उत्तराखण्ड

राजेन्द्र यादव की कहानियों में स्त्री-दलित जीवन की पीड़ा और सामाजिक चेतना

—अजय कुमार

स्वातत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य की उभरती हुई सूरत जिन रचनाकारों के कथा साहित्य में मजबूती के साथ दर्ज़ हुई, उनमें से एक नाम है राजेन्द्र यादव। इन्होंने न केवल तत्कालीन समय के नेरेटिव को समझा अपितु उसे अपने कथा साहित्य में कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया। उस समय का भारतीय समाज मोहभंग, आक्रोश, आतंक, भ्रष्टाचार, विश्वासहीनता, अकेलेपन, अजनबीपन, कुंठा, तनाव, संत्रास, टूटन एवं विघटन आदि से त्रस्त था। इन सब के बीच पिसता हुआ मनुष्य अपनी अस्मिता को बचाने के लिए बेचैन था। ऐसे दौर में न केवल राजेन्द्र यादव अपितु उनके समकालीन कथाकार भी समय की नब्ज को टटोलते हुए तत्कालीन समय की समस्याओं एवं बेचैनियों से मनुष्य को रु-ब-रु करा रहे थे। शायद यही कारण है कि वैचारिक स्तर पर मतभेद होने के बावजूद सभी विचारधाराओं के कथाकार अपने कथा साहित्य में रुग्ण जीवन मूल्यों से मुक्ति और नवीन जीवन मूल्यों की तलाश में प्रतिबद्ध थे।

राजेन्द्र यादव एक कवि, कथाकार, आलोचक, अनुवादक, संपादक, समीक्षक, संस्मरणकार व प्रकाशक आदि रूपों में एक विवादग्रस्त कथाकार माने जाते हैं। वह अपनी दो टूक और बेवाक शैली के लिए जाने जाते हैं। उनके समकालीन रचनाकारों में कवि एवं आलोचक विष्णु खरे में यह समानता पायी जाती है। प्रेमचंद के बाद 'हंस' पत्रिका के संपादक के रूप में उनका योगदान अविस्मणीय रहेगा। सच्चे अर्थों में उन्होंने 'हंस' पत्रिका को पुनर्जीवन प्रदान किया। हिन्दी के कई लेखक-लेखिकाओं को मंच प्रदान किया। हिन्दी के दलित साहित्य को पहली बार 'हंस' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में स्थान दिया, जिसके लिए आज भी दलित साहित्यकार आये दिन मंचों से उनका आभार प्रकट करते हैं।'हंस' पत्रिका ने उनके संपादन में स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श और आदिवासी विमर्श को खूब प्रोत्साहन दिया। राजेन्द्र यादव के स्त्री व दलित विमर्श के अवदान पर प्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी राजेन्द्र यादव पर केन्द्रित 'हंस' पत्रिका के विशेषांक के पूर्णांक, 336 में लिखते हैं, ''नारी चेतना और दलित चेतना के क्षेत्र में राजेन्द्र यादव का अग्रगण्य योगदान है। इस क्षेत्र में उनका नाम दशकों तक याद किया जाएगा। इस दृष्टि से देखें तो वे हिन्दी क्षेत्र में दलित और नारी चेतना के प्रमुख एक्टिविस्ट

विचारक और संपादक थे।''[1]

राजेन्द्र यादव बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति एवं रचनाकार ही नहीं हैं, बल्कि वे एक कुशल संपादक भी थे। उन्होंने सांप्रदायिक दंगों को उजागर करने में सकारात्मक भूमिका निभायी है। 'हंस' पत्रिका के माध्यम से स्त्री एवं दलित विमर्श को मुखर किया है। हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित पत्रिका 'हंस' के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता है। हालाँकि ये अलग बात है कि उनके संपादन में 'हंस' पत्रिका के कविता विरोधी पक्ष को भी भुलाया नहीं जा सकता। राजेन्द्र यादव के 'हंस' पत्रिका के योगदान पर वरिष्ठ आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी 'पाखी' पत्रिका के राजेन्द्र यादव पर केन्द्रित विशेषांक में लिखते हैं, ''राजेन्द्र यादव की मुख्य चिंता समाज को जनतांत्रिक बनाने की है। वर्ण-जाति इस जनतांत्रिकीकरण में सबसे बड़ी बाधा है इसलिए उनका आक्रोश समाज की जातिवादी बाड़ेबंदी करने वालों पर फूटता है। सवर्ण मानसिकता पर जितनी चुभती हुई अनवरत टिप्पणियाँ उन्होंने की हैं, उतनी उनके समकालीनों ने नहीं किया। उनका प्रायः हर संपादकीय, साक्षात्कार-व्याख्यान सवर्ण सत्ता प्रतिष्ठान पर हमला करने वाला होता हैं वे इतिहास के उन प्रसंगों को रेखांकित करते चलते हैं जिनसे प्रभुवर्ग की क्रूरता उजागर होती है।''[2]

वह मार्क्सवादी विचारधारा के रचनाकार थे। उनके रचना-संसार में मध्यवर्गीय जीवन अनुभूति एवं प्रगतिशील वैचारिक दृष्टि की विशिष्ट पहचान है। वे निडर पत्रकार और अपनी लेखनी पर डटे रहने वाले व्यक्तित्व थे। जिन्होंने सवर्णों की ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक विचारधारा पर जमकर आघात किया, स्त्री और दलित दोनों ही राजेन्द्र यादव की दृष्टि में शोषित थे, क्योंकि दोनों व्यवस्था द्वारा सताए गए हैं। इस विषय पर राजेन्द्र यादव अपने एक साक्षात्कार में अजित राय से बातचीत में कहते हैं, ''आज से करीब पन्द्रह साल पहले जब हमने दलित और स्त्री लेखन पर ध्यान देना शुरू किया था तो हमें सिर्फ एक बात मालूम थी कि दलित और स्त्री ही भविष्य की शक्तियाँ हैं इसका कारण यह था कि इन्हीं को हिन्दी समाज में सदियों से दमन, शोषण और उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है। हमें विश्वास था कि जब ये शक्तियाँ उभरेंगी तो सृजन की खास ऊर्जा पैदा होगी।''[3] उनकी रचनात्मकता के अंतर्गत कथ्य एवं शिल्प पर सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि सराहनीय है।

हिन्दी कथा साहित्य में राजेन्द्र यादव ऐसे प्रथम रचनाकार हैं, जिनका ध्यान स्त्री व दलित की पीड़ा पर गया। उन्होंने अपनी कलम इसी वंचित वर्ग के लिए चलाई, और विशिष्ट बात ये रही कि उन्होंने दलितों व स्त्रियों पर केवल लिखा ही नहीं बल्कि उन्हें दलित विमर्श व स्त्री-विमर्श के रूप में स्थापित किया। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से वंचित समाज की पीड़ा की अभिव्यक्त तो किया ही, वे एक संपादक के रूप में भी 'हंस' पत्रिका के माध्यम से वंचित समाज की पीड़ा को लोगों के बड़े जनसमूह तक पहुँचा भी रहे थे। इस विषय पर वरिष्ठ आलोचक असगर वजाहत 'हंस' पत्रिका के अंक-5 में लिखते हैं, ''हंस में राजेन्द्र यादव जी ने जो विमर्श शुरू किए, उनके महत्व से इंकार कर पाना कठिन है। इन विमर्शों का जो स्वरूप स्थापित हुआ उससे बहुत से लोग असहमत हो सकते हैं लेकिन स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक विमर्शों का महत्व तो है ही और लगातार बढ़ता जाएगा क्योंकि उनको एड्रेस किए बिना लोकतंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती।''[4]

राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों, प्रतिबद्धता, नवीन जीवन मूल्यों आदि का चित्रण है। उनकी प्रगतिशील विचारधारा तथा मनोविश्लेषण पद्धति के चलते उनकी रचनाशीलता का स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य के क्षेत्र में विशेष महत्त्व हैं। स्त्री, दलित एवं वंचित समाज का यथार्थ चित्रण हमें राजेन्द्र यादव की कहानियों में मार्मिकता से देखने को मिलता है। इस दृष्टि से उनकी मुख्य कहानियाँ, 'भय', 'कुतिया', 'खेल-खिलौने', 'रोशनी कहा है', 'कुत्ते', 'तलवार पंचहजारी', 'लंचटाइम', 'कुलवंत', आदि कहानियाँ महत्त्वपूर्ण है। उनकी कहानी 'भय' में मालिक द्वारा गैराज में बच्चों के यातनापूर्ण शोषण का भयावह चित्रण है। ये मालिक गरीब बच्चों से देर रात तक काम करवाता है और जरा-सी चूक होने, देर से आने पर या मालिक किसी बच्चे को तनिक आराम करता देख ले तो उन्हें जानवरों की तरह मारने लगता है। कहानी में गैराज के पीछे रह रहे नये पड़ोसी बच्चों की चीख सुनकर सहम जाते हैं, ''पीछे से बहुत जोर से रोने की आवाज आई तो हम लोग भागकर जंगले पर आये। देखा, एक लंबा-चौड़ा काला-सा आदमी हाथ में मोटी रस्सी लिए बारह-तेरह साल के लड़के को सड़ाक-सड़ाक मार रहा है। दर्द से लड़के का शरीर मिर्गी के रोगी की तरह ऐंठ उठा। एक बार उसे और उठने को कहकर मालिक रस्सी झुलाता हुआ पास खड़ी खाट से सिगरेट और दियासलाई उठाकर सिगरेट फूकने लगा। पहले कश का धुआ निकालते हुए आज्ञा दी अभी उठे या और पेंच कसू.....।''[5]

राजेन्द्र यादव ने दलित आम व्यक्ति की कहानियों की भी रचनाएं की, जिसमें पण्डितों, ठाकुरों जैसी ऊँची

जाति के सवर्णों द्वारा आम दलित लोगों पर अत्याचार को दर्शाया गया है। उनकी कहानी 'कुत्ते' में सवर्ण ठाकुर साहब बेकसूर दूधवाले को लाठी से मारकर उनका सिर फोड़ देते हैं और अपने साथ दो लोगों को मिलाकर उसे केवल इसलिए मारते हैं क्योंकि दूधवाले ने उनसे दूध के पैसे मांग लिए थे। ठाकुर साहब न दूधवाले को पैसे देते हैं, बल्कि उसे उल्टा मारते भी हैं। उसकी साइकिल से बंधी दोनों दूध की टंकियों को सड़क पर बिखरा देते हैं, केवल इसलिए ताकि वह ठाकुर साहब से दबकर रहे और हमेशा याद रखे। घायल दूधवाला सड़क पर खून से लथपथ है। सभी देख रहे हैं लेकिन उसकी कोई मदद नहीं करता तो वह कहता है, ''आप लोग सब देखते हो, मैंने क्या किया है? मैं यही मर जाऊंगा आज। ये बड़े आदमी है। उसका सारा मुँह खून से सना था, इसलिए यह पता लगाना बड़ा मुश्किल था कि खून उसके नाक, आँख-मुँह-कहाँ से निकल रहा है। उसके कपड़े स्थान-स्थान से फट भी गए थे।''[6] पुलिस भी ठाकुर साहब को गिरफ्तार न करके उनके साथ चाय-पानी पीती है। घर-बार, शादी-ब्याह का हाल-चाल पूछती है और दूधवाले को ही थाने में बंद कर देती है। दूधवाला जब कहता है कि मेरी गलती नहीं है, मैं गरीब हूँ तो पुलिसवाला उसे ही हड़काता-धमकाता है और ठाकुर साहब को गर्व से अपना भ्रष्टपना बताता है, ''साला गिड़गिड़ाने लगा जाकर कि गरीब आदमी हूँ, बेकार मारा है। मैंने कह दिया-गरीब है तो वहाँ उन लोगों से भिड़ा क्यों था जाकर?''[7] यही आम गरीब दलित की नियति है, उसका हर जगह शोषण है, और न्याय तो कहीं नहीं है।

राजेन्द्र यादव के व्यक्तिगत जीवन, परिवेशगत संघर्ष रूप में रचनाओं में कलात्मक पात्रों के सह-संबंध मनोविश्लेषण के आधार पर अभिव्यक्त किये जा सकते है। वे प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए थे। रामविलाश शर्मा और रांगेय राघव जैसे रचनाकारों से उनके सरोकार औपचारिक रहें हैं।

राजेन्द्र यादव अपने विचारों एवं सिद्धांतों पर संकल्पशील रहे। उन्होंने हमेशा राजसत्ता एवं शक्ति केन्द्रों की अपेक्षा आम नागरिक का पक्ष लिया है। वे पुरानी परंपरा एवं लीक से हटकर चले। उन्होंने स्त्री एवं दलित-विमर्श पर वाद-विवाद की सार्थक शुरुआत 'हंस' पत्रिका के माध्यम से की। इस विषय पर कंवल भारती 'पाखी' पत्रिका के अंक-12 में लिखते हैं, ''राजेन्द्र यादव के पास दृष्टि इसलिए है क्योंकि उनके पास साहित्य का एक ऐजेंडा है-समाज को सुधारने का नहीं, समाज को बदलने का जिसमें दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों की मुक्ति के सवाल केन्द्र में है। इस एजेंडे ने हिन्दी के उन तथाकथित महान लेखकों को कहीं का न छोड़ा था, जो अभिजात चिंतन को ही मुख्यधारा का चिंतन समझ रहे थे। उनका सारा भ्रम ही नहीं टूट गया, उनकी जमीन भी दरक गयी, जब राजेन्द्र यादव ने वास्तविक मुख्यधारा का निर्माण शुरू किया।''[8]

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरूष एक स्त्री पर कितने अत्याचार करता है, और कई ये अत्याचार की सीमा स्त्री की हत्या तक के पार तक चली जाती है। इसका दृष्टांत राजेन्द्र यादव की कहानी 'तलवार पंचहजारी' में देखा जा सकता है। जिसमें लालू रोते हुए बताता है कि उसके अय्याश बाप ने शक के कारण उसकी माँ को तलवार चुभो-चुभो कर, खाट पर भूखा-प्यासा बांधकर मार डाला। रायसाहब का उनका अपना बेटा लालू उनके बारे में बताता है, ''बचपन में मेरी माँ को कोई पढ़ाया करता था,...एक बार माँ से मिलने आया। मैं ननसाल में था। पता नहीं,... किसी ने क्या बता दिया कि इस राक्षस ने माँ को खाट से भूखा-प्यासा बाँधे रखा और उस तलवार से कोंच कोंचकर मार डाला। पूछता रहा, बता, लालू किसका लड़का है? बता, लालू किसका है...जिन्दगी-भर जो आदमी एक नंबर का पियक्कड़ी, ऐयाश, बदमाश और बदचलन रहा हो, वह माँ से पूछता है, लालू किसका लड़का है?...दिनभर मुकदमेबाजी करने और रात में रंडीबाजी करने वाला दूसरे के चरित्र पर उँगली रखता है।''[9]

'तलवार पंचहजारी' के रायसाहब जीवन भर नहीं सुधरते हैं। अपने ठाकुर होने के जातीय दंभ को आधार बनाकर वह सभी कमजोर, वंचितों का शोषण करते थे। इसलिए लालू उनको छोड़कर चला जाता है और शोषण का प्रतीक उनकी पंचहजारी तलवार को तोड़कर उसके उस्तरे बनवा देता है। इस कहानी पर प्रिया भारतीय लिखती हैं, '' 'तलवार पंचहजारी' ढ़हते हुए सामंतवाद और अहंग्रस्त सवर्ण जातिवाद की जो परिजातियाँ इन कहानियों में दिखाई गई वह आज के समय में सच और सामान्य लगती है किन्तु जब ये लिखी गई थी तब इस सच को स्वीकार करना कठिन रहा होगा।''[10]

राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य का परिवेश स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का दौर है, जिसमें वे राजसत्ता वर्ग पर आधारित राजनैतिक नेताओं के स्वार्थीपन, खींचतान, भाई-भतीजावाद की साजिश का खुलाखेल पाठकों के सामने प्रकट करते हैं। समाज में व्याप्त वर्ण एवं वर्ग के संघर्ष सामाजिक स्तर पर जारी रहे हैं। संयुक्त परिवार का विघटन, जाति और साम्प्रदायिकता का खुला खेल, किसी बुद्धिजीवी के निगाह से अछूता नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में पंचवर्षीय योजना चलाई गई। लेकिन उसका फायदा आम नागरिक

तक नहीं पहुँचा। व्यवसायिक स्तर पर भारतीय जनता में गरीबी-अमीरी के भेद-भाव की खाई कभी पाटी नहीं जा सकी। राजेन्द्र यादव के कथा साहित्य में समता-विषमता, बेकारी और महंगाई आदि स्थितियों का आँकलन किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है।

राजेन्द्र यादव समाज में व्याप्त जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणवाद की मानसिक गुलामी को सिरे से नकारते हैं। क्योंकि इन ब्राह्मणवादी वर्ग की श्रेष्ठता ही दलितों को नीच साबित करके सिद्ध होती है। पूरी जाति व्यवस्था ही गैर-बराबरी पर टिकी है। जिसमें दलित ही सबके लिए पायदान या सीढ़ी है। जिस पर सब चलकर आगे पहुंच जाते हैं और दलित वहीं फटेहाल, दरिद्र पायदान की तरह रह जाता है। और बाकी सब उसके मालिक बन बैठते हैं। राजेन्द्र यादव इसी मानसिकता पर प्रहार करते हैं, क्योंकि दलितों के शोषण के इतिहास का कारण व ब्राह्मणवादी जाति-व्यवस्था का खोखलापन वे जानते हैं। इसलिए वे 'हंस' में स्वयं लिखते हैं, ''कुछ लोगों ने हमारे कंधों पर सवार होकर हमें जानवरों की तरह हाँका है, गुलामों की तरह जोता है। उन्होंने हमारी जबाने काटी और हमारे शब्द छीन लिए हैं। अपनी महानता, श्रेष्ठता और स्वामित्व के लिए जो तर्कजाल, दर्शन, साहित्य रचे हैं यानी जिस देव सभ्यता की रचना की है वह सिर्फ उनके मालिक होने का महिमा गान है। वहाँ न हमारे दुख दर्द है न तकलीफे।''[11]

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि राजेन्द्र यादव अपने समय से आगे की सोच रखने वाले लेखक थे। खोखली परंपराओं के प्रति विद्रोह, कुछ नया रचने व पढ़ने के लिए वे हमेशा तैयार रहे हैं। उनमें एक जुनून था कुछ करने का, समाज को आगे ले जाने का, साहित्य को नयी दिशा एवं नए विषय की ओर प्रवृत्त करने की अदम्य आकांक्षा उनमें जीवन के अंत तक बनी रही। हंस को पुर्नस्थापित करके उन्होंने हंस पत्रिका को नयी ऊंचाई व प्रतिष्ठा दी। दलित एवं स्त्री विमर्श को हंस के माध्यम से हिन्दी जगत में पहली बार उन्होंने ही स्थान दिया। राजेन्द्र यादव की कहानियाँ अपने समय के बदलते समाज, विसंगतियों, सामाजिक-राजनीतिक जीवन व स्त्री-पुरूष संबंधों में आए बदलावों, बिखराव का यथार्थ चित्रण करती है उनकी कहानियों में जीवन व समाज का वह प्रत्येक पक्ष है, जो समाज में व्याप्त है। सांप्रदायिकता, सामाजिक रूढ़िया, दहेज प्रथा, जाति प्रथा, पितृसत्ता, सामाजिक-धार्मिक अंधविश्वास, अकेलापन, अजनबीपन, मोहभंग, भ्रष्टाचार लगभग सभी विषयों पर राजेन्द्र यादव ने कहानियाँ लिखी, जो पाठक को विचार देने के साथ-साथ उसके मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाती हैं।

संदर्भ सूची

1. एक कुसंग प्रिय का जाना, विश्वनाथ त्रिपाठी, वर्ष : 28, अंक 5, पूर्णांक : 336, दिसंबर 2013, हंस (पत्रिका) अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ, 27
2. दलित प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में, बजरंग बिहारी तिवारी, वर्ष 3, अंक : 12, सितंबर 2011, पाखी (पत्रिका), नोएडा (उ.प्र.), पृष्ठ, 119-120
3. जवाब दो विक्रमादित्य (साक्षात्कार), राजेन्द्र यादव (संपा.), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृष्ठ, 150
4. परदा उनकी चीज नहीं था, असगर वजाहत, वर्ष 28, अंक : 5, पूर्णांक 336, दिसंबर 2013, हंस (पत्रिका), अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ, 73
5. भय (कहानी) राजेन्द्र यादव, राजेन्द्र यादव रचनावली, खण्ड-8, अर्चना वर्मा, बलवंत कौर (संपा.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ, 185
6. कुत्ते (कहानी) राजेन्द्र यादव, राजेन्द्र यादव रचनावली, खण्ड-7, अर्चना वर्मा, बलवंत कौर (संपा.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ, 58
7. वही, पृष्ठ, 63
8. कबीर जैसा तेवर, कंवल भारती, वर्ष : 3, अंक : 12, सितंबर 2011, पाखी (पत्रिका), नोएडा (उ.प्र.), पृष्ठ, 111
9. तलवार पंचहजारी (कहानी) राजेन्द्र यादव, राजेन्द्र यादव रचनावली, खण्ड-7, अर्चना वर्मा, बलवंत कौर (संपा.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ, 162
10. राजेन्द्र याद : प्रतिपक्ष की आवाज, डॉ. विश्वमौलि, डॉ. रामवचन यादव (संपा.), साहित्य भण्डार प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2019, द्वितीय संस्करण, 2021, पृष्ठ, 275
11. शब्द का भविष्य, राजेन्द्र यादव, वर्ष : 36, अंक : 12, पूर्णांक 429, जुलाई 2022, हंस (पत्रिका), अक्षर प्रकशन, नई दिल्ली, पृष्ठ, 5-6

अजय कुमार
शोध-छात्र, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आजादी का उत्सव और नयी कविता का जनतंत्र

–मिथिलेश कुमार

भारतीय लोकतंत्र की स्थापना 15 अगस्त 1947 में हुई और उसका संविधान 26 जनवरी 1950 को पारित हुआ। लेकिन ऐतिहासिक रूप से देखा जाए तो उसके संस्थानीकरण की अनौपचारिक शुरुआत उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों के दौरान ही हो गई थी। भारत को आजादी औपनिवेशिक शासन से कई वर्ष लड़ने के बाद प्राप्त हुई। लम्बे अरसे से पराधीन भारत के लिए आज़ादी किसी उत्सव से कम नहीं थी। पराधीन भारत में आम आदमी को वह अधिकार प्राप्त नहीं थे जो स्वाधीन भारत में मिले। लोगों के मन में नई आकांक्षायें पैदा हुई कि अब स्वाधीन भारत में जनता का शोषण नहीं होगा। नये भारत की तस्वीर अलग होगी। आज़ाद देश में यथास्थितिवाद से लड़ने की उम्मीद बनी। जनता ने शोषण से मुक्ति का एक ख्वाब देखा। या यूं कहिए कि लोगों की उम्मीदों, आकाक्षांओं को आज़ाद भारत में चार चाँद लगने की उम्मीद थी। लोकतंत्र लागू होने पर आम जनता की भागेदारी, सोच, विचार, रचनाशीलता में बदलाव आयेगा। लेकिन विडम्बना देखिए कि जैसे-जैसे लोकतंत्र की उम्र बढ़ी, आम आदमी की उम्मीदों पर पानी फिरता गया। इन्हीं आशाओं, आकाक्षाओं को नये कवियों ने अपने कविता का विषय बनाया। 1952 में पहला चुनाव हुआ। जिसमें आम जनता की हिस्सेदारी थी। भारतीय जनतंत्र की सफलता-असफलता को लेकर राजनीतिक विश्लेषकों में बहस है। विनाश की भविष्यवाणियाँ करने वाला औपनिवेशिक विमर्श, राष्ट्रवादी विमर्श, सामाजिक लोकतंत्र का विमर्श, हिन्दुत्ववादी विमर्श, कम्युनिस्ट विमर्श, और गाँधी से प्रभावित विमर्श आदि बहसें शामिल हैं। भारतीय लोकतंत्र को संवैधानिक जामा पहनाने वाले बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की राजनीतिक स्वतंत्रता को सामाजिक स्वतंत्रता में बदलने के सवाल पर आशंकित थे। उनका कहना था कि 'लोकतंत्र के संविधिक राजनीतिक उसूलों और कर्मकाण्डीय आधारों पर खड़ी श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था के बीच टकराव हो जाने के कारण भारत अंतर्विरोधों की दुनिया में खोता चला जायेगा'[1] जैसे-जैसे लोकतंत्र की उम्र बढ़ रही है डॉ. अम्बेडकर की आशंका सही साबित हो रही है आजादी के 75 साल बाद भी छुआछूत, दलित दमन, गरीबी भूखमरी समाज से खत्म होने का नाम नहीं ले रही है। इन सबका कारण जातिवादी मानसिकता है। भारत के अंतर्विरोधों का कारण भी कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्ध जातिव्यवस्था ही है।

आजादी के लिए संघर्ष कर रहे भगत सिंह ने अंतिम दो पत्रों में लिखते हैं कि 'किसानों को केवल विदेशी शासन ही

नहीं बल्कि जमींदारी और पूँजीपतियों के जुए से भी स्वयं को मुक्त कराना होगा।'[2] भगत सिंह को यह आभास था कि ब्रिटिशों के साथ-साथ भारतीय पूंजीपति और जमींदार लोग भी हैं जो साधारण जनता की मेहनत का शोषण करते हैं। इन चंद शोषक लोगों से मुक्ति के बिना किसानों की मुक्ति संभव नहीं है। भगत सिंह का समाजवादी व्यवस्था में विश्वास था। वह पूंजीवादी व्यवस्था तथा वर्गीय समाज का अंत चाहते थे।

वहीं नयी कविता के महत्वपूर्ण कवि मुक्तिबोध अपनी कविता 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' में पूंजीवाद को रेखांकित करते हुए लिखते हैं-

'वर्तमान समाज
चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ
हृदय बदल नहीं सकता'[3]

जमींदारी और पूंजीवादी व्यवस्था कभी जनता के हित में नहीं रही है। वह कुछ विशेष वर्ग और लोगों में पास ही रही है। इसीलिए 1936 के लखनऊ अधिवेशन की अध्यक्षता कर रहे पं. जवाहर लाल नेहरू ने कांग्रेस से आग्रह किया कि 'मेरा विश्वास है कि विश्व की समस्याओं और भारत की समस्याओं का एक मात्र समाधान समाजवाद है और मैं जब इस शब्द का उपयोग करता हूँ तो इसे अस्पष्ट मानवतावादी नहीं बल्कि वैज्ञानिक, आर्थिक अर्थ में करता हूँ.. इसका मतलब है हमारे राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में व्यापक तथा क्रांतिकारी परिवर्तन, कृषि और उद्योग में निहित स्वार्थों का उन्मूलन तथा भारत के सामंती और निरंकुश रजवाड़ो की प्रणाली की समाप्ति इसका अर्थ यह है कि एक संकुचित अर्थ को छोड़कर निजी संपत्ति का उन्मूलन तथा वर्तमान मुनाफा प्रणाली की जगह सहकारी सेवा के उच्चतर आदर्श की स्थापना। अंततः इसका अर्थ है हमारी सहज वृत्तियों, आदतों और इच्छाओं में परिवर्तन। संक्षेप में इसका अर्थ है वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में मूलगामी अर्थ में भिन्न एक नई सभ्यता।'[4]

जिस नई सभ्यता और उच्च आदर्श की स्थापना नेहरू करना चाहते हैं वह समाजवादी व्यवस्था है। भारत की समस्याओं से वाकिफ़ नेहरू सामंती और निरंकुश रजवाड़ों की समाप्ति की बात करते हैं। नेहरू जातियों, राष्ट्रीयताओं, भाषाओं और अनेक संस्कृतियों में बँटे हुए समाज को उसकी बहुलता और विविधता का सम्मान करते हुए परिवर्तन का सपना देख रहे थे।

यही कारण आने वाले दिनों में कांग्रेस की नीतियों में जनता के सवालों को प्रमुखता दी गई।

आजादी के बाद हिन्दी साहित्य में नयी कविता आन्दोलन उभरकर सामने आया। यहाँ नये से तात्पर्य स्वतंत्र युग की नई संवेदना और नई मनोभूमि की अभिव्यक्ति से था। इसी के साथ नयी कविता के बारे में यह भी कहा गया नयी कविता आज़ादी के बाद भारत के नए मनुष्य की चिन्ताओं, द्वन्द्वों, तनावों, समस्याओं और प्रश्नाकुलताओं की अभिव्यक्ति है। नयी कविता में मनुष्य और उसके सभी अनुभवों को पकड़ने का प्रयास हुआ। यूं तो मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देखने और समझने की प्रतिज्ञा हर नए वैचारिक व रचना आन्दोलन ने की है।

15वीं शती के यूरोपीय पुर्नजागरण से लेकर 20वीं शताब्दी की हिन्दी छायावादी कविता तक पुर्नजागरण का प्रधान बल समग्र मनुष्य की धारणा पर था। जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज से मूल व्यक्ति को फिर से परिष्कृत रूप में बाहर लाया जाय और यह याद रखने योग्य बात है कि नयी कविता युग का साहित्य पहली बार स्वाधीन और प्रजातांत्रिक देश में रचा गया है। नयी कविता के बारे में अज्ञेय ने नयी कविता शीर्षक निबन्ध में इसको परिभाषित करते हुए कहा है। 'नयी कविता नये युग की नई मानसिकता का विस्फोट है।'[5]

हालाँकि नयी कविता नाम भी अज्ञेय का दिया हुआ है अपनी एक रेडियो वार्ता में अपने इस पद का प्रयोग किया था। जो बाद में 1953 में नए पत्ते में 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। साहित्य की दुनिया में इसकी प्रतिक्रिया भी खूब हुई लेकिन नयी कविता ने तमाम विरोधों को झेलकर आधुनिक वैचारिक रचनाशीलता की प्रतिमान बन गई।

नयी कविता के बारे में मुक्तिबोध ने लिखा है 'नयी कविता वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतक व्यक्ति की प्रतिक्रिया है। नयी कविता का स्वर एक नहीं विविध है।'[6]

नयी कविता केवल वीर,श्रृंगार जैसे रसों तक ही सीमित नहीं है। जब मुक्तिबोध यह कहते हैं कि नयी कविता का स्वर एक नही विविध है, तब यह समझने कि जरूरत है कि छोटे से छोटे अनुभवों की प्रासंगिकता द्वंद, तनाव, विसंगति, विडंबना, विद्रुपता कविता का विषय बना। नयी कविता को बहस के केन्द्र में लाकर गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध' अपनी पुस्तक में कहा है कि 'जब भी कोई नई काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्वों के सम्बन्ध में सिद्धान्तों के बारे में बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार विनिमय को वास्तववादी होना है

तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे। एक तो अपने युग विशेष की प्रवृत्तियों को समझना होगा, दूसरे नई प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नई काव्य प्रवृत्ति अभी तक पंडितों, आचार्य प्रवरों और आलोचक वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है।'[7]

इससे ज़ाहिर होता है। हर नई चीज को अपनी स्वीकृति के लिए प्रबल रूप में सामने आना होता है। नयी कविता में वह तीव्रता थी। जब कला के वस्तु और रूप पर आलोचकों द्वारा प्रश्न खड़ा होने लगा तो मुक्तिबोध ने उसका उत्तर अपनी सुलझी हुई दृष्टि से देते हैं। संवेदनशील कवि हृदय को उसके आसपास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की है। वह भी है घिराव की है। किन्तु उसका कवि-हृदय विस्तार चाहता है। मुक्तिबोध ने नयी कविता के बारे में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन की बात करते हैं। मुक्तिबोध इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि नयी कविता अपने पूर्वयुगों की कविता से ज्यादा अपने परिवेश के साथ द्वंद्वमय स्थिति में है, इसलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है।

नयी कविता के बारे में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'भाषा संवेदना और सर्जन' पुस्तक में नयी कविता के सन्दर्भ में लिखा है कि 'आज की कविता को जाँचने के लिए जो 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार हो चुकी है, और छन्दों की पायले उतार चुकी है। काव्य भाषा का ही आधार शेष रह गया है क्योंकि कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की मूल केन्द्रीय स्थिति है। कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है।'[8]

रामस्वरूप चतुर्वेदी नयी कविता के बारे लिखते हुए यहीं तक नहीं रुकते हैं। उन्होंने एक सूत्र दिया कि छायावाद में यदि श्रद्धा केन्द्र में है तो नयी कविता में इड़ा। इड़ा से तात्पर्य यहाँ बौद्धिकता से है।

नयी कविता का आंदोलन यह है कि समग्र जीवनानुभवों को काव्य के योग्य माना जाए आधुनिकता के पहले दौर में नायकत्व की परिकल्पना बदली गयी धिरोदत्त राजा, देवता या मनुष्य के स्थान पर सामान्य मनुष्य या राक्षस को भी काव्य का नायक बनाया गया। नयी कविता व्यक्तिगत नायकीय चरित्र को बदलने के साथ-साथ पूरी विषय परिकल्पना को बदल देती है। उसके भीतर अनेक शैलियाँ, अनेक भाव धाराएँ और अनेक वैचारिक दृष्टियाँ काम कर रही हैं।

नयी कविता में अनुभव का जनतंत्र पहली बार स्थापित होता है। रघुवीर सहाय अपनी एक कविता आप की हँसी में लिखते हैं-

'निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हंसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कहकर आप हंसे
सब के सब हैं भ्रष्टाचारी
कहकर आप हंसे
चारों ओर बड़ी लाचारी
कहकर आप हँसे
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हंसे।'[9]

'आपकी हंसी' के प्रतीक पुरुष को जनता के शोषण, लोकतंत्र के संकट, भ्रष्टाचार और व्यापक निरूपायता इन तमाम चीजों की चिन्ता है। लेकिन उसकी हंसी क्या कहती है? शोषण के अबाध सिलसिले, लोकतंत्र की निष्क्रियता, भ्रष्टाचार के व्यापक प्रसार और आम जनता की विवशता को यह कविता प्रदर्शित करती है। इस कविता में व्यंग्यात्मक हंसी के माध्यम से ही पाठक तक विद्रोह-भावना संप्रेषित होती है। लूनाचार्स्की ने ठीक ही कहा था कि हंसी विजय का केतन है, उससे तानाशाह भी डरते हैं रघुवीर सहाय की कविता में हंसी कई रूपों में आती है, अपने भीतर कई तरह के अर्थ छिपाए हुए। रघुवीर सहाय की कविता में लचर व्यवस्था के प्रति विद्रोह, जुगुप्सा और आक्रोश का भाव दिखाई देता है। वह आजाद भारत के राष्ट्रगीत पर भी अपनी कविता में पूछ लेते हैं-

'राष्ट्रगीत में भला कौन वह भारत-भाग्य विधाता है।
फटा सुथन्ना पहने जिसका गुन हर चरना गाता है।'[10]

रघुवीर सहाय मूलतः स्वातंत्र्योत्तर भारत के जनतांत्रिक व्यवस्था के पाखण्ड और भ्रष्टाचार से विद्रोह करने वाले कवि हैं।

नयी कविता के सशक्त कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं में जनतांत्रिक मूल्यों की अभिव्यक्ति हर स्तर पर हुई है। उनकी एक कविता 'देश कागज़ पर बना नक्शा नहीं होता' में लोकतंत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-

'आखिरी बात
बिल्कुल साफ
किसी हत्यारे को
कभी मत करो माफ

चाहे हो वह तुम्हारा यार
धर्म का ठेकेदार,
चाहे लोकतंत्र का
स्वनामधन्य पहरेदार।'[11]

नयी कविता का कवि अपनी स्थिति- परिस्थिति से टकराता है और जीवन के विविध सामाजिक, राजनीतिक पक्षों को शब्द देता है। नेहरू युग से मोह भंग की पीड़ा भोगता हुआ वह गुस्से में और आज़ादी के अंधकार में खड़ा है। उस अंधकार में एक उद्देश्य विहीन समाज में जी रहा है। आज़ादी, जनतंत्र, संसद और समाजवाद आदि पर व्यंग करते हुए धूमिल अपनी कविताओं में लिखते हैं-

'क्या आज़ादी सिर्फ़ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है?
दरसल, अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है'[12]

धूमिल अपनी कविताओं के माध्यम से आज़ाद भारत की सच्चाई प्रस्तुत करते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग को राजनीति की विकृतियों ने घेर लिया। जनतंत्र के सवाल परिदृश्य से ओझल होने लगे थे तब नये युग के कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से जनतंत्र के सवालों को अभिव्यक्ति दी। आजाद भारत की सच्ची तस्वीर नयी कविता के कवियों ने अपनी कविताओं में खींचा। जनतंत्र की सच्ची संकल्पना की चेतना आमजन तक पहुँचाया। आज़ादी के बाद के कवियों ने अपने काव्य के द्वारा जनतांत्रिक मूल्यों समता, समानता, बंधुत्व की पैरोकारी अपनी नयी कविताओं के माध्यम से की है।

सन्दर्भ सूची

1. अभय कुमार दुबे, समाज विज्ञान विश्वकोश खण्ड-चार, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2016, पृ. 1237,
2. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण-2019, पृ. 300
3. गजानन माधव मुक्तिबोध,चाँद का मुँह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, पृ. 284
4. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, संस्करण-2019, पृ. 310
5. अभय कुमार दुबे, समाज विज्ञान विश्वकोश खण्ड-तीन, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2016, पृ. 773
6. गोविन्द पाण्डेय, सरस्वती पाण्डेय, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण-2017, पृ. 211
7. अभय कुमार दुबे, समाजविज्ञान विश्वकोश खण्ड-तीन, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2016, पृ. 743
8. गोविन्द पाण्डेय, सरस्वती पाण्डेय, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहबाद, संस्करण-2017, पृ. 211
9. नन्दकिशोर नवल, कविता के आर पार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 202
10. गोविंद पाण्डेय, सरस्वती पाण्डेय, हिन्दी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2017, पृ. 223
11. http://kavitakosh.org
12. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, समकालीन हिन्दी कविता, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2014, पृ. 234

मिथिलेश कुमार
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डा. अम्बेडकर की स्वराज और राष्ट्र की अवधारणा : 'मूकनायक' के संदर्भ में

—ब्रजेश कुमार
—प्रो. राजेश गर्ग

आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्व और विभूति, भारत रत्न डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने भारत के वंचित समाज के लिए किए गए अपने महान प्रयासों के अन्तर्गत एक पत्रकार के रूप का भी निर्वाहन किया। उन्होंने समय-समय पर महत्वपूर्ण पत्रों का सम्पादन किया तथा उसमें तत्कालीन समाज और संस्कृति के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य रहीं स्वराज और राष्ट्र सम्बन्धी अवधारणाओं पर भी अपनी विद्वतापूर्ण, सुचिन्तित टिप्पणियाँ लिखीं। उनमें से एक प्रमुख पत्र 'मूकनायक' में उनकी स्वराज और राष्ट्र सम्बन्धी आधुनिक वैचारिकी के मूल स्रोत मिलते हैं। 1920 में प्रकाशित हुए ऐतिहासिक मराठी पत्र में प्रकाशित उनके संपादकीय लेखों में स्वराज और राष्ट्र सम्बन्धी विचारों का प्रस्तुत आलेख में अनुशीलन किया गया है और तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में डॉ. अम्बेडकर के इन विचारों का विवेचन भी किया गया है।

मूल आलेख

आधुनिक भारतीय इतिहास में बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक सामाजिक संघर्ष के अतिरिक्त उनका पत्रकार रूप भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत के दलित नवजागरण आन्दोलन में डॉ. भीमराव अम्बेडकर की पत्रकारिता का अभूतपूर्व योगदान है। उनके द्वारा संपादित और प्रकाशित किए गए पत्रों में तत्कालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ उनके स्वराज्य और राष्ट्र सम्बन्धी विचार भी प्राप्त होते हैं। उनकी पत्रकारिता में भी संस्कृति और समाज की वैचारिक बहस और आलोचना प्रस्तुत हुयी है। विनय कुमार वासनिक लिखते हैं, ''बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर ने भारत के सम्पूर्ण अस्पृश्य समाज की उन्नति के लिए जिन

जिन उपायों का उपयोग किया था, उनके द्वारा एक पत्रकार के रूप में किया गया लेखन कार्य अति महत्वपूर्ण है। अस्पृश्य समाज में जागृति लाने के लिए उनकी पत्रकारिता और प्रत्यक्ष रूप से लोगों के सामने दिए गए भाषण प्रमुख हैं।''[1] दलित उद्धार के लिए किए गए राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों के अतिरिक्त डॉ. अम्बेडकर ने दलित पत्रकारिता के अभाव में वैचारिक बहस को जन्म देने के लिए समाचार पत्रों का सम्पादन और प्रकाशन आवश्यक समझकर और पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करते हुए उनके माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किये। उनके पत्रकार रूप पर टिप्पणी करते हुए शांति स्वरूप बौद्ध लिखते हैं, ''आज हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि डॉ. अम्बेडकर ही ऐसे प्रथम महापुरूष हुए हैं जिन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से समाज उत्थान कार्य का अभियान चलाया। उन्होंने एक के बाद एक पांच समाचार पत्रों का संचालन-प्रकाश किया। इनके नाम हैं- 1. मूकनायक पाक्षिक (31 जनवरी, 1920 से), 2. बहिष्कृत भारत (3 अप्रैल, 1927 से), 3. समता (29 जून, 1928 से), 4. जनता (24 नवम्बर, 1930 से), 5. प्रबुद्ध भारत (4 फरवरी, 1956 से) में हुआ जो बाबा साहब के परिनिर्वाण के पश्चात भी आज तक भी प्रकाशित हो रहा है।''[2] अम्बेडकर की पत्रकारिता ऐतिहासिक रूप से भारत में अभूतपूर्व अछूत आन्दोलन का प्रारम्भ करती है। जातीय भेदभाव और समाज में सबसे निम्न मानी जाने वाली सामुदायिक अवस्था को अम्बेडकर ने अपने सामाजिक सुधार के प्रयत्नों से परिवर्तित करने की कोशिश भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समय प्रारम्भ की। शांति स्वरूप बौद्ध के अनुसार, ''मूकनायक' पाक्षिक समाचार पत्र का प्रकाशन डॉ. अम्बेडकर के संपादकत्व में हुआ था। यह 31 जनवरी, 1920 को जनता के हाथों में पहुँचा। मगर 12वां अंक प्रकाशित होने के साथ ही बाबा साहब को अपनी पढ़ाई पूरी करने लिए लंदन जाना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में आर्थिक तंगी के कारण 13वें अंक के छपने के साथ ही इस पाक्षिक ने दम तोड़ दिया।''[3] अम्बेडकर की पत्रकारिता समाज के वंचित तबके की दमित चेतना को आशा की एक किरण प्रदान करती है। वह स्वरहीनों को एक स्वर प्रदान करती है। जिस वर्ग की कोई सुनने वाला नहीं था, जिनकी वेदना मूक थी, जो समाज के अगुआ, अभिजात लोगों की दृष्टि से अदृश्य थे, अम्बेडकर ने उन्हें और उनकी समस्याओं को मुख्यधारा में लाकर चर्चा का विषय बनाया। अम्बेडकर ने समाज के एक बड़े हिस्से को अछूत और अस्पृश्य बनाए जाने की तीखी आलोचना करते हुए धार्मिक, सामाजिक सुधारों को दिशा प्रदान की। ''बीसवीं सदी के शुरूआती दशकों में भारत का अस्पृश्य समाज लिखने पढ़ने और पत्रकारिता के मामले में लगभग अनभिज्ञ था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में ईश्वर की आवाज बुलन्द करने का काम बाबा साहब ने अपने हाथों में लिया था। इसी काम को मंजिल तक पहुँचाने के उद्देश्य से लोगों को जागरूक करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम अस्पृश्यों की पत्रकारिता शुरू की थी। लेकिन यह विचारणीय विषय है कि बाबा साहब के समय में समाचार पत्र प्रकाशित करना कितना कठिन कार्य रहा होगा। उस समय दलित समाज सम्पन्न होना तो दूर की बात, ज्यादा तर शिक्षित भी नहीं था। जब समाज शिक्षित ही नहीं होगा तो वह समाचार पत्र, पत्रिकाएं कैसे पढ़ेगा, फिर भी बाबा साहब ने इन सभी बातों की परवाह न करते हुए समाचार पत्र निकालने का निर्णय लिया, क्योंकि वे जानते थे कि अपने विचार और समाज के हित की बात रखने का एक सशक्त माध्यम समाचार-पत्र के अलावा कोई नहीं हो सकता।''[4] मूकनायक के प्रवेशांक की शुरूआत डॉ. अम्बेडकर ने संत तुकाराम की इन पंक्तियों से की है।

अभी मैं इच्छाएं धारण करके क्या करूँ,
व्यर्थ तोमड़ी बजाकर क्या करूँ ?
संसार में खामोश लोगों की कोई नहीं सुनता,
अभी कोई लाज, हित सार्थक नहीं।[5]

संत तुकाराम का कहना है कि संसार में खामोश लोगों की कोई नहीं सुनता।

मूकनायक के माध्यम से मूकनायकों के नेता डॉ. अम्बेडकर ने यह तीखा सवाल जोरदार तरीके से प्रस्तुत किया कि यह स्वराज्य किसके लिये है। क्या यह स्वराज्य दलितों के लिये भी होगा। क्या इसमें उनकी भी बराबरी के आधार पर सहभागिता होगी अथवा यह स्वराज्य सदियों से अछूत कहे जाने वाले लोगों पर अत्याचार कर रहे उच्च जातियों को स्वराज्य होगा।

डॉ. अम्बेडकर द्वारा लिखे गये मूक नायक के 12 संपादकीय में से 4 तो सीधे तौर पर स्वराज्य के प्रश्न से जुड़े हुए हैं। ''स्वराज्य का महत्व सुराज्य में नहीं है,'' ''स्वराज्य के माता-पिता'', ''वह स्वराज्य नहीं है हमारे ऊपर राज्य करना है'', और ''स्वराज्य में आरोहण उसका प्रमाण तथा उसकी प्रणाली'' ये चार स्वराज्य के प्रश्न से जुड़ी संपादकीय हैं।''

डॉ. अम्बेडकर स्वराज्य के लिये संघर्ष करने वालों

द्वारा दिये जाने वाले तर्कों की विवेचना करते हुए कहते हैं कि यदि व्यक्ति के स्वाभिमान के लिये स्वराज्य की आवश्यकता है तो यह बात सबसे अधिक 6 करोड़ दलितों पर लागू होती है। क्या इन दलितों के स्वाभिमान के विकास के लिये ब्राह्मणों राज्य से मुक्ति जरूरी नहीं है। स्वराज्य के समर्थकों ने 6 करोड़ दलितों के विकास के लिये क्या किया? डॉ. अम्बेडकर भारत में ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति से पहले स्वराज्य के प्रश्न को हल करना चाहते थे क्योंकि उनका मानना था कि स्वराज्य समर्थकों का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में है जो बहिष्कृतों को अपनी अधीनता में रखना चाहते हैं।

'मूकनायक' पत्र भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि यह भारत के व्यापक जनसमूह की चेतना की जागृति में ऐतिहासिक रूप से सम्बद्ध हुआ। विनय कुमार वासनिक 'मूकनायक' की ऐतिहासिकता पर लिखते हैं, ''बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की पत्रकारिता के बारे में विचार करें तो प्रथम अखबार 'मूकनायक' का कालखंड 31 जनवरी, 1920 से 23 अक्टूबर, 1920 (8 माह, 23 दिन) यह किसी अखबार के लिए बहुत ही कम अवधि तक प्रकाशित हुआ अखबार था। इस कम कालावधि में कुल 19 अंक प्रकाशित हुए। जिसके 12वें अंक तक सम्पादन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ने निभाई थी। 5 जुलाई, 1920 को बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर अपनी पढ़ाई के लिए लंदन चले गए। अंक 13 से 19 तक के संपादन का कार्य ध्रुवनाथ घोलप जी ने किया।''[6] डॉ. अम्बेडकर की उस समय की परिस्थितियों पर भी अन्य लेखकों ने प्रकाश डाला है। प्रभाकर गजभिए लिखते हैं, ''राजर्षि शाहूजी महाराज की आर्थिक मदद से 31 जनवरी, 1920 को डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने पददलित गूंगे-अछूतों पर हो रहे अन्याय की रोक थाम तथा भावी उन्नति के लिए विचार-विनिमय करने हेतु समाचार-पत्र प्रकाशित करने का सराहनीय कार्य किया।[7] डॉ. अम्बेडकर जून, 1920 में उच्च शिक्षा के लिए लंदन गए थे। उन्होंने संपादक के स्थान पर दूसरे व्यक्ति को नियुक्त किया। किन्तु संपादक द्वारा दायित्व का उचित निर्वहन न कर पाने के कारण पाक्षिक 23 अक्टूबर, 1920 को बंद हो गया। इस प्रकार 'मूकनायक' न केवल भारतीय पत्रकारिता के ऐतिहासिक पत्रों में से एक है, अपितु वह दलित पत्रकारिता के भारत में उद्भव का प्रारम्भ है। डॉ. अम्बेडकर के पत्रकार रूप को जानने-समझने में 'मूकनायक' प्राथमिक दस्तावेज है।

डॉ. अम्बेडकर का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास के उन महानायकों में से एक है जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण करते हुए एक नवीन, समतापूर्ण, लोकतान्त्रिक गणराज्य की नींव डाली। डॉ. अम्बेडकर का व्यक्तित्व अब वैश्विक महत्व रखता है ओर विभूतियों में परिगणित होता है। जिस पर पंकज चौधरी लिखते हैं, ''अम्बेडकर भारतीय इतिहास के उन दो तीन नायकों में शुमार हैं, जिनके विचारों और कर्म का दलित-बहुजन समाज पर व्यापक और त्वरित प्रभाव पड़ा है। अनुसूचित जाति और जनजाति जो देश की आबादी की लगभग एक-चौथाई है अम्बेडकर को एक महामानव की तरह सम्मान देती है। इस सम्मान का कारण है कि अम्बेडकर ने इनके जीवन-संसार को बदल कर रख दिया। 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' जैसे मंत्रों में तो दलित-बहुजन की समस्याओं के समाधान के सूत्र ही छुपे हुए हैं। कुछ साल पहले 'आउटलुक' और 'आईबीएन-7' जैसे मीडिया संस्थानों के द्वारा जब राष्ट्रीय स्तर पर एक सर्वेक्षण किया गया कि महात्मा गांधी के बाद भारत का सबसे महानतम व्यक्ति कौन है, तो उस सर्वेक्षण का परिणाम डॉ. भीमराव अम्बेडकर के पक्ष में आया। अम्बेडकर को गांधी के बाद सबसे महानतम और लोकप्रिय व्यक्तित्व पाया गया। मशहूर अर्थशास्त्री नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अमर्त्य सेन ने तो अम्बेडकर को अपने अर्थशास्त्र का पिता तक कहना शुरू कर दिया है। वहीं 2004 में अमेरिका की कोलंबिया यूनिवर्सिटी ने भी अम्बेडकर को महानतम व्यक्तित्व करार दिया।''[8] डॉ. अम्बेडकर ने पश्चिम में पढ़ाई की थी और वह राष्ट्रवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग करना चाहते थे। राष्ट्रवाद की विचारधारा और राष्ट्र की परिकल्पना को लेकर डॉ. अम्बेडकर के विचार उनके समकालीन अन्य राजनीतिज्ञों से भिन्न थे। वे आधुनिक राष्ट्रवाद की समानता आधारित प्रवृत्तियों की ओर लगातार इंगित करते रहे। डॉ. अम्बेडकर के राष्ट्र में उन लोगों के लिए भी अधिकार हैं जो अब तक अस्पृश्य और अछूत थे। जिनके जीवन के बुनियादी अधिकारों पर राष्ट्रवादी नेता बात करने से कतराते थे। डॉ. अम्बेडकर के जीवनीकार समाज शास्त्री क्रिस्तोफ़ जाफ्रोल लिखते हैं, ''अम्बेडकर ने फुले के इस मत को भी दोहराया कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं। 1950 में उन्होंने फिर सवाल उठाया : हजारों जातियों में बंटे लोग एक राष्ट्र कैसे हो सकता है? यदि राष्ट्र मुक्त और समान व्यक्तियों से मिलकर बना होता और जाति जैसे मध्यस्थ संस्थाएं खत्म हो चुकी होती तो

सम्भवतः अम्बेडकर खुद को एक राष्ट्रवादी के रूप में ही देखते। मगर जब तक इस तरह का राष्ट्र अस्तित्व में नहीं आता, तब तक के लिए वह अस्पृश्यों के हित में काम करने पर ही जोर देते रहे। यह ऐसा फैसला था जो पीछे मुड़ कर देखने पर नागरिकों के ऐसे राष्ट्र के गठन में योगदान प्रतीत होता है, क्योंकि उनका यह फैसला समानता को सींचने वाला कदम ही रहा है।''[9] यह ध्यान देने योग्य है कि अम्बेडकर की स्वराज्य और राष्ट्र सम्बन्धी अवधारणाएं समाज के सभी वर्गों के हितों पर आधारित हैं, न कि केवल एक वर्चस्ववादी वर्ग पर आधारित। जातीय विभेद के प्रश्नों को अपने समय के समाज और राजनीति के सम्मुख लाने का अर्थ यह नहीं था कि अम्बेडकर राष्ट्रवादी नहीं थे। अम्बेडकर एक नितांत राष्ट्रवादी विचारक थे, परन्तु राष्ट्र सम्बन्धी उनकी अवधाराणाएं भिन्न थीं। उनकी जीवनीकार गेल ओमवेट ने भी अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया है, ''अम्बेडकर के 1930 के भाषण से उनके राष्ट्रवादी होने का पता चलता है। राष्ट्रवाद की उनकी अवधारणा के अनुसार समता मूलक तथा जाति मुक्त समाज के निर्माण के लिए ब्रिटिश शासन का समाप्त होना पूर्व शर्त थी। फुले, पेरियार जैसे नेता जाति विरोधी आन्दोलन के पुरोधा थे, उनका राष्ट्रवाद लोकतांत्रिक राष्ट्र निर्माण पर केंद्रित था, वे भारतीयों को महज सत्ता हस्तांतरित कर दिए जाने के पक्षधर नहीं थे। उनके प्रयासों को राष्ट्र निर्माण के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। उनका सबसे बड़ा योगदान राष्ट्र निर्माण की अवधारणा को आधुनिक स्वरूप प्रदान करना था। वे लोकतांत्रिक तथा विवेक आधारित समाज का निर्माण चाहते थे जिसमें उच्च मूल्यों का समावेश हो और जो फ्रांसीसी क्रांति के मूल उद्देश्यों-स्वतंत्रता समानता तथा भाईचारे का संपोषक हो।''[10] इससे यह पता चलता है कि डॉ. अम्बेडकर की राष्ट्रवादी अवधारणाएँ पश्चिमी लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित थीं जिसमें समानता को प्रमुख स्थान दिया गया था, परन्तु भारत में स्थितियाँ भिन्न थीं, क्योंकि यहाँ समाज और संस्कृति जाति आधारित थे, जो किसी आदर्श लोकतान्त्रिक राष्ट्र का निषेध करती हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समानान्तर चलने वाली देश की आंतरिक राजनीति को समझते हुए समय-समय पर उसका अनुशीलन किया और दलित समाज की मुक्ति को उस कसौटी पर कसने की कोशिश की। वे स्वराज्य और सुराज के चल रहे उग्र और नरम आन्दोलन को भी आने वाले भविष्य के आधार पर मूल्यांकित कर रहे थे। स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, जैसी उत्साही उक्तियों और नरम दल और गरम दल की राजनीति को देखकर वे 10 अप्रैल, 1920 को 'मूकनायक' के 'भारत के राष्ट्रीय दल' शीर्षक अपने संपादकीय में लिखते हैं- ''प्रथमतः अंग्रेजी राज्य सुराज्य होना चाहिए, ऐसा प्रजादल का उद्देश्य था, किन्तु कुछ समय के पश्चात इस दल को सुराज्य से स्वराज्य अच्छा लगने लगा! मूल उद्देश्य में बदलाव होने से प्रजादल दो गुटों में विभाजित होकर एक दल पूर्ण स्वराज्य मांगने लगा, जहां किसी का हस्तक्षेप न हो तथा दूसरा दल ये मानता है कि इंग्लैण्ड को छोड़कर कोई चारा नहीं है, इसलिए वह अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन सुराज्य मांगने लगा है। प्रजादल का क्रांतिवादी दल पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के लिए अंग्रेजी सत्त उखाड़ फेंकने के लिए अराजकता फैलाने की अनेक कोशिशें कर रहा है। किन्तु सफलता नहीं मिलने पर अपना मोर्चा उन्होंने समय रहते ही बदल दिया, यह देशहित की दृष्टि से एक बड़ा काम हुआ, ऐसा हम समझते हैं।''[11] अपने इस संपादकीय में डॉ. अम्बेडकर ऐतिहासिक भारतीय राजनीति के दलों को विश्लेषित करते हुए उनकी मंशाओं पर टिप्पणी करते हैं और उसके आलोक में आने वाले नए राष्ट्र में भारत के वंचित समाज के भविष्य को देखते हैं। इसी संपादकीय में अन्यत्र वे लिखते हैं, ''जो फर्क क्रांतिकारी (गरम दल) और नरम दल में रहा है, वह यह है कि गरम दल का यह मानना है कि देश में स्वराज्य पाने की योग्यता है, इसलिए पूर्ण स्वराज्य हमें अभी मिलना चाहिए जबकि नरम दल का कहना है कि अब देश की योग्यता सुराज्य प्राप्ति की है, इसलिए स्वराज्य का ग्रास पचने लायक धीरे-धीरे देना चाहिए। इस विचार भिन्नता के कारण प्राप्त सुराज्य का हिस्सा क्रांतिवादियों को बेकार और पात्रता के आधार पर मानहानि करने जैसा लगता है, वही हिस्सा नरमदलवादियों को सम्मानजनक लग रहा है, ऐसा लगने लगा है। इस दलभेद में हमारा मत कहां है? यदि किसी ने यह पूछा, तब इन दोनों में हमारा मत कहीं भी नहीं है, ऐसा ही हम कहेंगे। जब तक अंग्रेज लोग हैं, तब तक हम राजा हैं। हमारे पूर्वजों ने खून बहाकर इस देश को हासिल किया था क्योंकि उनके वंशजों को इस देश में जीना है, इसलिए ऐसा किया था। राजनीति में हमारा कल्याण ही प्रधान उद्देश्य है, यदि सम्भव हुआ तो भारत का कल्याण करना इत्यादि युक्तिवाद करके प्रजादल के विरोध में अपना राजमत रखते रहो, तब तक क्रांतिकारी दल और नरमदल में उपजे दलभेद का कोई मतलब नहीं है। जब तक

स्वराज नहीं मिलता, यह तब तक प्रश्न था, तब तक उसे जल्दी मांगो या धीरे-धीरे मांगो यह कहकर प्रश्न उठते थे। किन्तु अब स्वराज्य मांगने का प्रश्न हीं नहीं रहा है। प्राप्त हुआ स्वराज्य किस उद्देश्य से उपयोग में लाया जाए, यह मुख्य प्रश्न है।''[12] डॉ. अम्बेडकर स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात उसके उपयोग को प्रश्नांकित करते हैं। वे भारत के भविष्य को लेकर चिन्तित हैं। औपनिवेशिक राष्ट्रवाद में स्वराज्य प्राप्ति की राजनीति के संघर्ष और नरम-गरम दल की वैचारिक पृष्ठभूमि समझते हुये वे आगे लिखते हैं, ''अब परिस्थिति बदल जाने पर क्रांतिकारी और नरमदल के बीच मतभेद अर्थहीन हो गया है। हम लोग स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर उस लायक हैं, यह सिद्ध करना चाहिए, यह क्रांतिकारी, नरमदल और दूसरे सभी को लग रहा है। किन्तु यह योग्यता किस बात से सिद्ध होगी, इतना ही बाकी रह जाता है। पूर्ण स्वराज्य पाने का पक्का इरादा किए बगैर भारत को पूर्ण स्वराज्य नहीं मिलेगा इस बारे में सब के क्या विचार हैं? यह अमृतसर की राष्ट्रीय सभा में और सोलापुर के प्रदेश सम्मेलन में पारित हुए स्वराज्य के प्रस्ताव से दिखाई देता है। पक्का निश्चय करने का संकेत देने के बाद इंग्लैंड के लोगों और पार्लियामेंट को किस तरह समझाकर देना है, यही मतभेद का विषय है।''[13] स्वराज्य प्राप्ति की योग्यता और तत्कालीन राजनीतिक दलों का उसके प्रति असमंजसपूर्ण वैचारिक रवैया डॉ. अम्बेडकर को उद्वेलित करता है। वे नरम व गरम दोनों तरह की वैचारिकता वाले दलों से असहमति जताते हैं और स्वराज्य प्राप्ति की राजनीति पर पुनर्विचार करते हैं। इस प्रकार वे दोनों तरह के दलों की आलोचना करते हुए लिखते हैं, ''क्रांतिकारियों को लगता है कि यदि अंगेज अधिकारियों से सहयोग किया, तो उनके विचार उन्हें मान्य हैं, समझकर पूर्णस्वराज्य के अधिकार उन्हें देने में इंग्लैंड के लोग और पार्लियामेंट सभा कभी तैयार नहीं होगी। इसके विपरीत नरमदल के लोगों का विचार है कि अंग्रेजी सत्ता का सहयोग करने से जल्दी ही पूर्णस्वराज्य मिल जाएगा। नौकरशाही से हठयोग करके या भक्तियोग करके स्वराज्य प्राप्ति हो जायेगी, इतने नासमझ क्रांतिकारी और विद्वान नरम दल के लोगों में भरे हुए हैं, इसे देखकर विद्वता के बल पर देश के नेता कहलाने वाले विद्वानों पर दया आती है। हमारे विचार में नौकरशाही से सहयोग करना, या नहीं करना यह स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग नहीं है। जनता के सहयोग से दिया गया स्वराज्य उसे जितनी मात्रा में सुखी रहेगा, उसी मात्रा में स्वराज्य प्राप्ति की पात्रता उठाई जाएगी, यह हम समझते हैं''[14] वे स्वराज्य हेतु जनता की सहभागिता को अधिक वरियता देते हैं। वे राजनीतिक दलों के अगुआ वैचारिक पूर्वाग्रहों से इतर स्वराज्य की परिकल्पना को जनता में निहित देखते हैं। वे नरम दल के सहयोगपूर्ण आंदोलन और गदम दल के क्रांतिकारी आन्दोलन दोनों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनाते हैं और उसे अप्रासंगिक मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि तत्कालीन राजनीति से भिन्न प्रतीत होती दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त वे 'स्वराज्य' सम्बन्धी अवधारणा को भी विश्लेषित करते हैं। स्वराज्य का अर्थ स्वयं के राज्य से है और सुराज्य का अच्छे और सुन्दर शासन से। जो जनकल्याण और समानता पर आधारित हो। तत्कालीन प्रजादल के प्रति ब्रिटिश शासन की सहानुभूति और जनकल्याण के लिए किए गए शिक्षा और मद्य-निषेध की योजनाओं के प्रति डॉ. अम्बेडकर ने सकारात्मक टिप्पणियाँ की हैं। वे ब्रिटिश शासन की 'सुराज्य शासन प्रणाली' के प्रश्न पर प्रजादल की बदलती हुयी राय को दृष्टि में रखकर 'स्वराज्य का महत्व सुराज्य में नहीं है' शीर्षक मूकनायक के संपादकीय में लिखते हैं, ''उसे 'सुराज्य' नहीं चाहिए, क्योंकि 'स्वराज्य की महत्ता सुराज्य में नहीं है' अब इस नए तत्व का वर्चस्व बढ़ गया है। केवल मूल्यों का विरोध नहीं है, वरन व्यावहारिक दृष्टि से, मूल्यों से व्यवहार श्रेष्ठ है। स्वराज्य किसका और किसके लिए, हम इसे समझे बगैर स्वराज्य की महत्ता का बखान नहीं कर सकते। कोई अगर करता है, तो वह बेचारा क्या करे।?''[15] डॉ. अम्बेडकर स्वराज्य प्राप्ति के साधनों, उसके भारतीय राजनीतिक प्रयासों तथा भारतीय सामाजिकता की ऐतिहासिक और वर्तमान पृष्ठभूमि का तार्किक अनुशीलन करते हैं। वे इस विचार पर दृढ़ नजर आते हैं कि स्वराज्य दान में मिलने वाली वस्तु नहीं है। स्वराज्य के लिए चल रहे आन्दोलन और उसके प्रभाव को दृष्टिगत रख ही वे उसके विषय में कोई टिप्पणी करते हैं। वे भारत की जातिभेद पर आधारित सामाजिकता के ऐतिहासिक उदाहरण देते हुए वर्तमान के सरोकारों को उससे जोड़ते हैं। 14 फरवरी, 1920 में लिखे गए 'मूकनायक' के अपने संपादकीय में उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है। इसके पूर्व के सम्पादकीय में वे भारत के भूगोल और उस पर हुए ऐतिहासिक बाह्य आक्रमणों का हवाला देते हुए ऐतिहासिक चेतना के साथ विवेचना करते हैं। 'स्वराज्य के माता-पिता' शीर्षक संपादकीय में वे लिखते हैं, ''हमारी राय से स्वराज्य का बीजारोपण करने वालों की सूची में 'स्वघोषित नेता', इस उपनाम के भार (?) के नीचे दबे-कुचले आदमी की

गणना नहीं की जा सकती है। स्वराज्य चिल्लाकर प्राप्त करने जैसा निम्नस्तर का दान नहीं है। कितना भी चिल्लाने मात्र से स्वराज्य मिलना संभव होता, यह कुछ निश्चित नहीं होता। स्वराज्य की प्राप्ति में सत्ता की समझदारी का हिस्सा जितना होता है, उतना चिल्लाने मात्र विशेष का नहीं होता है। यदि ब्रिटिश लोगों ने, स्वराज्य नहीं देते, कहा होता तो उनके हाथों से उसे छीन लेने का सामर्थ्य किसी में नहीं है, यह निर्विवाद सत्य है, क्योंकि सामाजिक बातों में ब्राह्मणेतरों को गुलामी में रखकर ब्राह्मणों ने उन पर पेशवाई लाद दी थी, उसी तरह शायद उससे भी कहीं अधिक आतंक दिखाकर भारतवासियों पर बिना स्वराज्य दिए, ब्रिटिश लोगों को शासन करना सम्भव हो जाता। लेकिन वे वैसा करना नहीं चाहते हैं। उनके ऊपर दबाव है, यही इसके पीछे का कारण नहीं है, बल्कि उनकी नीयत सही है। स्वराज्य के आरम्भ का भी इतिहास देखा जाए तो यही सब दिखाई देगा। स्वराज्य की नींव मूल रूप में ब्रिटिश लोगों ने केवल तत्व प्रियतावश डाली है। स्थानीय स्वराज्य संस्था, साथ ही प्रादेशिक तथा सर्वोच्च परिषद की शुरूआत करने के लिए उनके पास प्रजा की ओर से कोई वकील गया था, ऐसा इतिहास में कहीं दर्ज नहीं है तथा वर्तमान में स्वराज्य का जन्म न होकर उसके पीछे जन्म के साठ साल बीत चुके हैं। इसलिए इस नाजुक रेंगते बालक को आज चाहे किसी ने भी अपनी पीठ पर बिठा लिया हो लेकिन उसके असली माता-पिता तो ब्रिटिश लोग ही हैं, इस बात को किसी को भी भूलना नहीं चाहिए।''[16] इस पूरे विवेचन में स्वराज्य-प्राप्ति के राजनीतिक तरीके और स्वराज्य मिलने पर दबे-कुचले लोगों का उसमें भविष्य मूल-चिन्ता है। आगामी आधुनिक राष्ट्र की परिकल्पना और उसमें भारत की सामाजिकता का परिचालन भी अम्बेडकर की चिंताओं में परिलक्षित है। राष्ट्रवाद की जिस पश्चिमी अवधारणा पर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन स्वराज्य की मांग कर रहा था उसी के मूल सिद्धान्तों की ओर अम्बेडकर का ध्यान था। वे स्वराष्ट्र के निर्माण में एक प्रगतिशील वैचारिकता का अभाव देख रहे थे, क्योंकि भारत के दबे-कुचले लोगों या दलित-वंचित समाज का उत्थान कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में उन्हें मौन का उत्तर प्राप्त हो रहा था। देखने योग्य है कि वे स्वाधीनता के राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन में एक प्रगतिशील दृष्टिकोण धारण करने के इच्छुक थे। जिसमें न केवल स्वराज ही मूल उद्देश्य हो अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नति भी केन्द्रीय स्थान रखती हो। जैसा कि वे एक संपादकीय में लिखते हैं, ''प्रगतिशील राष्ट्र की राज्य प्रणाली का ध्यान जितना शासन करने पर होता है उतना ही संस्कृति उन्यन की ओर भी होता है। जो है उससे भी प्रजा की उन्नति अधिक कैसे होगी? उसके रास्ते अपनाना उसके साधन सभी को समान रूप से उपलब्ध कराना उन्नति के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना राज्य का यह दूसरा उद्देश्य शासन के समान या उससे भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।''[17] डॉ. अम्बेडकर के राष्ट्र और स्वराज सम्बन्धी विचार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक आलोचनात्मक और तार्किक विचारधारा का प्रभाव पैदा करते हैं। वे राष्ट्रीय आन्दोलन की सूक्ष्म पड़ताल करते हुए उसमें व्याप्त वैचारिक शिथिलता को सामने लाते हैं और भारत में अपने भविष्य निर्माण की बाट जोह रहे बड़े जनसमूह के हितों की चिंता का समावेश करते है। राष्ट्र निर्माण और स्वराज्य के पश्चात उसमें वंचित जनसमूह की स्थिति के प्रति उनकी आशंकाएं निर्मूल नहीं थीं। वे जिस तरह के राष्ट्र का स्वप्न आजीवन देखते रहे, वह उनकी पत्रकारिता में भी व्याप्त है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि एक पत्रकार के रूप में भी डॉक्टर अम्बेडकर अपनी सिद्ध और पुष्ट भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। तत्कालीन भारतीय राजनीति की सम-सामयिक गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखते हुए डा. अम्बेडकर उसकी समयोचित पड़ताल करते थे। 'मूकनायक' के ऐतिहासिक संपादकीय लेखों में अम्बेडकर की राष्ट्र और स्वराज्य विषयक वैचारिकी का प्रचुर समावेश है। अम्बेडकर एक पत्रकार के रूप में भी ऐतिहासिक महत्व रखते हैं।

सन्दर्भ

1. वासनिक विनय कुमार, अनुवादक, मूकनायक, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन 2019 संस्करण, पृ. 13
2. वही, पृ. 9
3. बौद्ध शांति स्वरूप, बहिष्कृत भारत, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, (अनु.) प्रभाकर गजभिए, सम्यक प्रकाशन, 2017 संस्करण, पृ. 8
4. वही, पृ. 7
5. बेचैन श्यौराज सिंह, हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकार का प्रभाव, समता प्रकाश दिल्ली-1997, पृ. 162,
6. विनय कुमार वासनिक (अनु.), जनता, डॉ. बी.आर., अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, 2020 संस्करण, पृ. 9
7. गजभिए प्रभाकर (अनु.), बहिष्कृत भारत, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, (अनु.) प्रभारक गजभिए, सम्यक प्रकाशन, 2017 संस्करण, पृ. 10
8. चौधरी पंकज (संपादक), अम्बेडकर का न्याय दर्शन, अनन्य प्रकाशन, 2016 संस्करण, पृ. 8

9. जाफ्रलो क्रिस्तोफ, अम्बेडकर एक जीवनी, अनुवाद योगेन्द्र दत्त, राजकमल प्रकाशन, 2021 संस्करण, पृ. 116-17
10. ओमवेट गेल, अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2005 संस्करण, पृ. 37-38
11. वासनिक विनय कुमार, अनुवादक, मूकनायक, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन 2019
12. वही
13. वही
14. वही
15. वही, पृ. 45
16. वही, पृ. 46-47
17. वही, पृ. 42

ब्रजेश कुमार
शोधार्थी
असि. प्रो. (इतिहास विभाग)
डी. ए. वी. (पी. जी.) कॉलेज
बुलन्दशहर

प्रो. राजेश गर्ग
शोध निर्देशक
इतिहास विभाग
डी. ए. वी. (पी. जी.) कॉलिज
बुलन्दशहर

मीरा के काव्य में व्यक्त संवेदना एवं साधना पद्धति

—ब्रजेश उपाध्याय

शोध सारांश

हिन्दी भक्ति जगत में भक्ति की सगुण और निर्गुण धाराएँ दृष्टिगत होती है। सगुणवादी अवतारवाद में और निर्गुणवादी परब्रह्म पर विश्वास रखते थे। ये वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलु मात्र हैं। भक्ति के क्षेत्र में भगवान् अपनी दृष्टि से निर्गुण और साधक की दृष्टि से सगुण साकार है। साकार उपासना में तत्पर भक्त निरन्तर ध्यान एवं मनन से जब भगवान से एकाकार हो जाता है, तब भगवान् के दृष्टिकोण से युक्त एवं निराकार उपासक बन जाता है अतः अधिकांश भक्त सगुण एवं निर्गुण उपासना को महत्त्व देने वाले हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सगुण-निर्गुण विभाजन भक्ति जगत् में अस्पष्ट एवं अव्यक्त ही रह जाता है। सगुण-निर्गुण पद्धतियों के अपेक्षाकृत महत्त्व के सम्बन्ध में जो तर्कवितर्क हुए वे दार्शनिक दृष्टि से निर्मूल थे। मीरा गिरधर गोपाल की अनन्य प्रेमिका थी।

मूल शब्द : सगुण एवं निर्गुण उपासना, समकालीन, निर्मूल, अपेक्षाकृत, प्रतिबिंबित।

उन पर समकालीन कृष्ण भक्त कवियों का प्रभाव भी अवश्य पडा। उन्होंने किसी सम्प्रदाय विशेष में न तो दीक्षा ही ली और नहीं किसी साधना को ही अपनाया। उनका व्यक्तित्व या कृष्ण परायण जीवन ही उनके पदों में प्रतिबिंबित हुआ है। अध्यात्म हृदय की कोमलता, सरसता, तल्लीनता और मादकता ही उनकी वाणी से व्यक्त हुई है। मीरा ने स्वयं को पूर्णतःकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया। इसी आत्मसमर्पण, तीव्र भावुकता और तल्लीनता के कारण ही मीरा की कविता सरस और मर्मस्पर्शी बन पड़ी है।[1] यह भी उल्लेखनीय है कि मीराबाई के पदों में यत्र-तत्र निर्गुण भक्ति का विवेचन भी मिलता है। यह मीरा की साधना के क्रमिक विकास एवं उत्कर्ष का परिचायक है। यह भी प्रकट होता है कि सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति का पूरक एवं अनुकूल है जो भक्त जीवन के विभिन्न चरणों का परिचय कराने वाली है। प्रेम भक्ति का महत्त्वपूर्ण आयाम है। यह भक्ति को अन्य साधना मार्गों से श्रेष्ठ बनाता है। यों तो भागवतकार लिखते हैं ''जो मानव इष्ट में प्रेम का भाव रखते हैं- वे मोक्ष पा जाते हैं।''

''प्रीति बिना नाहिं भगती दृढ़ाई।''

राग तत्त्व का, भक्ति के क्षेत्र में, जैसा श्रेष्ठ प्रकाशन प्रेम भावना (अनुरक्ति, स्नेह, लगाव) में होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। ये प्रेम भावना अनेक रूप ले सकती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस प्रेम से तात्पर्य क्या है। चैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम को काम से अलग करते हुए उसे कृष्ण का सुख कहा है-

''आत्मेन्द्रिय, प्रीति-इच्छा, तार नाम काम, कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल, कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल आत्म-सुख-दुख गोपी न करे विचार, कृष्ण-सुख-हेतु करे सद्व्यवहार।''[2]

'भक्ति मार्तण्ड' नामक ग्रंथ में प्रेम संबंधी विचारों का संकलन किया है। इस संकलन के अनुसार 'भक्ति चिंतामणि' में योग-वियोग-वृत्ति को प्रेम कहा गया है। अर्थात् योग में वियोग की शंका और वियोग में योग की उत्कण्ठा ही प्रेम है। इसी से मिलता-जुलता गुणाकर का मत उद्धृत है- यथा 'योगे वियोग वृत्तिः प्रेम तथा वियोगे योग वृत्तिरपि प्रेम।' गोविन्द चक्रवर्ती का मत है कि जो तमाम आपत्तियों एवं कठिनाईयों के बीच नहीं छीजता, ऐसा गाढ़ व्यसन ही प्रेम है। इन मंतव्यों में एक विशेष आकर्षण या आकांक्षा तत्त्व को प्रेम के मूल में स्वीकार किया गया है। मनोवैज्ञानिक के अनुसार अनुचित नहीं है। पुराण, रामचरितमानस, सुन्दरदास के 'ज्ञान समुद्र' आदि मेंभी इसी मत को मान्यता दी गयी है। ''विषयिणी वचनानर्हासमीहा प्रेम''। भक्तिमार्तण्डभक्ति में शर्त केवल इतनी है कि जो आकर्षण निर्जीव की अपेक्षा सजीव के प्रति हो। जीवगोस्वामी ने स्पष्ट रुप से 'भक्ति संदर्भ' में लिखा है कि, ''तत्र विषयिणास्वाभाविको विषय संसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यायतादृश एवात्र भक्तस्य श्री भगवत्यपि राग इत्युचते।'' विषयी पुरूषों का संसर्ग विषयों की इच्छायुक्त आकर्षण है। जैसे आंखों आदि का सौन्दर्य के प्रति झुकाव होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान के प्रति आकर्षण पैदा हो तो उसे राग की संज्ञा देते हैं।

रूप गोस्वामी प्रेम भक्ति दो प्रकार की मानते हैं- (1) भावोत्थ तथा हरिप्रसादोत्थ।भक्ति के क्रम का प्रारम्भिक उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है। यह साधन नौ प्रकार की हैं

(1) श्रवण (2) कीर्तन (3) स्मरण (4) पाद-सेवन (5) अर्चन (6) वन्दन (7) दास्य (8) सख्य (9) आत्मनिवेदन।

शाण्डिल्य के भक्ति-सूत्र में (56-57, 65, 66, 74) में श्रवण, श्रीमद्भागवत्, कीर्तन, ध्यान, पूजा, पादोदक, पत्रादि दान का उल्लेख मिलता है। नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति विषय और संग त्याग (सूत्र-35) अखण्ड भजन (सूत्र 36) भगवद् गुण श्रवण, कीर्तन (सूत्र 36) और महापुरूषों और भगवान की कृपा (सूत्र-38) माने गए हैं। नवधा के कतिपय आयाम (विशेषतः श्रवण और कीर्तन) स्पष्ट रुप से अंकित हैं। नारद-भक्ति-सूत्र की ग्यारह आसक्तियों गुण-माहात्म्यासक्ति में श्रवण एवं कीर्तन के तत्त्व प्राप्य हैं। रूपासक्ति और पूजासक्ति में पाद-सेवन, अर्चन एवं वंदन आयाम निहित हैं। तुलसीदास ने रामचरित मानस में नवधा का चित्रण किया है।

मीरा ने अपने बाल्यकाल में गिरधरगोपाल के सामने अपने अबोध हृदय को समर्पित कर दिया था। परन्तु यौवन में पदार्पण करते ही उसका नाम लेना भी उनके लिए अपराध सिद्ध किया गया था।[3] देवर राणी ने उनके विरूद्ध पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं की श्रृंखलाओं का उपयोग किया। उन्होंने मीरा को पिंजरे की पक्षिणी की भांति बन्दिनी बना दी। मीरा के हृदय में इन बन्धनों के विरूद्ध जो प्रतिक्रिया हुई वही उनकी वाणी का सम्बल पाकर शतशत भाव धाराओं में फूट पड़ी थी। जब जीवन की ऐसी सामाजिक प्रताड़नाओं से उनका मन आहत हो गया तब अपने प्रिय के प्रति वे आर्तनाद कर उठी। इसलिए ही उनकी वाणी भक्तिमई हो गई। परन्तु यह विश्वास करना कठिन है कि यदि राणा की दमन-नीति का पात्र न होती तो वे भक्तिपरक पद नहीं प्रस्तुत करती। सच तो यह है कि मीरा की सहज भक्ति राणा की पीड़ाओं के कारण नया मोड़ धारण करके ज्यादा बलवती हो गयी। वास्तव में राणा की पीड़ा भक्ति साधना में एक नयी चुनौती सिद्ध हुई। परिणाम स्वरूप मीरा का काव्य ज्यादा उदात्त हो गया।मीरा बचपन में युद्ध ग्रस्त पिता के दुलार से वंचित रहीं। इसलिए उन्होंने अपने बचपन के दिन भक्त हृदय चचेरे भाई जयमल के साध साधु-संगति में व्यतीत किया। उनके दादा के पास साधु-संत आते-जाते थे। वे उन संतों का आदर सत्कार करती थी। इसलिए भी मीरा की भक्ति भावना बलवती हो गई और उनका सत्संग भी। उन्हें अपने दाम्पत्य जीवन में श्रीकृष्ण प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य उपयुक्त आकर्षण न मिला। अतः इस राणा के दुराचारों से पीड़ित होने पर मीरा ने सहज ही भक्ति में तल्लीन रहनेका निश्चय लिया। साँप पिटरा राणा भेज्या, मीरा हाथ दियो जाय।

नहाय धोय जब देखन लागी, सालिग राम गई पाय, जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो अमर अंचाय, सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यों मीरा सुलाय। साँझ भई मीरा सोवण लागी मानों फूल बिछाया, मीरा के प्रभु सदा सुहाई, राखे विधन हटाय। भजन भव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय।

मी. की. पदावली, पद : 41. एक बार राणा ने साँप का पिटारा भेजा था। जब मीरा नहा धो कर उसे देखने लगी तो वह शालोग्राम दिखाई पड़ने लगा। इसी प्रकार राणा से भेजा गया विष मीरा के लिए अमृत में परिवर्तित हो गया। उस विष के प्याले को पीकर वह अमर हो गयी। राणा ने सोने के लिए कांटो की सेज भेजी रात्री के समय मीरा सोने लगी तो वह फूलों की शय्या बन गई। इस प्रकार समस्त विघ्नों को मिटाने वाले भावान के प्रति उसका प्रेम बलवानहो गया और निर्भय होकर रहने लगी।[4]

गिरधर गोपाल के सम्पर्क में एक के बाद एक करके अद्भुद कार्यों ने मीरा को एक नये विश्वास के वातावरण में स्थिर रहने की प्रेरणा दी। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि मीरा की वैयक्तिक परिस्थितियाँ और क्षेत्रीय वातावरण के प्रभाव ने उन्हें प्रेमा भक्ति का मार्ग सुझाया था। परिणाम स्वरूप मीरा विशिष्ट आचारों से युक्त साधिका बन गई थी। वे अपनी विहवालता, विरह, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न समयों पर विरहावेश में एकांत में गाती रही होंगी तथा समवेत रूप में अन्य साधु-भक्त आदि के साथ भी कीर्तन करती रही होंगी। बिना किसी माध्यम के अपने को गिरधर गोपाल के सामने खड़ा करके मीरा ने आत्म-समर्पण भी किया है। इस आत्मसमर्पण ने गिरधर गोपाल के साथ उसके भावैक्य का कारण भी बन गया था। अत : उसमें गिरधर गोपाल भी कार्य कर रहे थे। इस प्रकार उज्ज्वल एवं अनोखी हुई मीरा की भक्ति भावना को विशेषतायें अन्यत्र विस्तार से प्रस्तुत की जाएगी।

मीरा को भी लोक-लाज, कुल-मर्यादा और सम्बन्धियों के अत्याचारों की कुछ चिन्ता नहीं थी। लोग उन्हें कुल कलंकिनी, कुलनाशी अथवा बिगड़ी कहें, वे सब सहर्ष स्वीकार करती थी। उनके प्रियतम भव-भय-हरण तथा भक्त वत्सल भगवान् है। अतः मीरा ने गोपी-भाव से भगवान कृष्ण की लीला गान किया। मीरा काव्य की यह अंर्तधारा उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। पूर्ण समर्पण एवं भाव-विद्रोरता का पाठ पढ़ाने के लिए उन्होंने यह तरीका अपनाया था। अपने आपको गोपी या प्रेमिका मानकर आराध्य के प्रति प्रेमार्पित करना प्रत्यक्ष कान्ता भाव कहलाता है और भक्त जब रसमयता के साथ अध्यस्थ बनकर गोपिकाओं और कृष्ण की प्रेमलीलाओं का वर्णन करता है तो वह अनुगाकानता भाव है। तब वह आलोचना तथा कटाक्षों की उपेक्षा करके द्भक्ति के पथ से आगे बढ़ता है। इधर मीरा अपने और अपने आराध्य के पति-पत्नी सम्बन्ध पर प्रकाश डालती हैं। कृष्ण के लिए उन्होंने पिय, जणम् जणम. के साथी पिव आदि सम्बोधनों का प्रयोग किया है। समझना, समझाना, सरल एवं सहज है। उन्होंने दानव दलन रूप को न अपनाकर यशोदा नन्दन, गोपीवल्लभ, मुरली मनोहर और रास बिहारी रूप को चुना। उतना ही नहीं राधा के समान सब कुछ छोड़कर गिरधर गोपाल को कान्त बनाया। सभी भौतिक सुखों को त्यागकर मीरा ने एक मात्र कृष्ण का तरण किया था। कृष्ण ही उसका सर्वस्व उनकी गति और मति थी। कृष्ण ही साधन है कृष्ण ही साध्य। अपने प्रियतम की रूप छवि को देखकर मीरा भाव विभोर हो उठती है। मीरा विकल विनय के स्वरों में पूछती हैं - मेरे लिए इतनी देर क्यों उन्हें विश्वास है कि उनके जन्म-जन्म के साथी उन्हें अवश्य अपनायेंगे। उनके अविनाशी हरि के चरण शीतल कमल-कोमल जगत् ज्वालाहरण ही नहीं अपनी विराटता में कल्पनातीत है। ब्रह्मांड उनके चरणों पर लोटता है। "इन चरण कालि नाग नाथ्यों गोप लीला करण" इस प्रकार उनकी मधुर भावना स्वयं गोपी बनाने के कारण कृष्ण-मीरा-लीला बन गई। यहाँ मीरा स्वयं अपने नायक की नायिका है। अन्तर कथाओं का प्रतिपादन इस नायक-नायिका सम्पन्य को ज्यादा गहरा एवं स्थाई बनाने का उपाय है।[5]

उतना ही नहीं प्रियतम के प्रति अपनी भावातिरेक को ज्यादा बलवान बनाने के लिए उन्हीं जोगी निर्मोही एवं परदेशी मानने का प्रयास भी किया है। जोगी, निमोही, परदेशी मीरा काव्य में जोगी, निर्मोही, परदेशी आदि रूपों में प्रियतम को देखने का जो प्रयास है, वे सचमुच नायक-नायिका सम्बन्ध की गहराई एवं मिल कर एक हो जाने की चेष्टाओं के परिचायक हैं। कवयित्री का जोगी प्रेम जोगी जुड़ गया। इससे साधना का मंत्र लेकर चला गया है। वह निर्मोही परदेशी कहलाने योग्य बनता है। उसकी प्रतीक्षा, उसका ध्यान, उसके लिए आकूलता सब यह स्पष्टकरते हैं कि वह निस्संग विश्वात्मा ही है। ऐसे जोगी से प्रीति जोड़ना दुःख के लिए ही है, क्योंकि वह किसी का मित्र नहीं हैं, वह समस्त मित्रता का समस्त छोटे सम्बन्धों का दुश्मन है। उस जैसा रूप नहीं देखा जाता। तब मीरा की साधना तीव्र हो जाती है। अतः उनके कई पद ''जोगी" को संबोधित है। यह "जोगी" कौन है इस योगी से प्रीति

करने पर दुःख होता है, वह किसी का मीत नहीं। उसकी प्रतीक्षा मीरा रात-दिन करती हैं। वह नगर में आया, मीरा उसे रोक कर रख नहीं पाई, उसे रोकने से कोई लाभ नहीं वह रूकेगा नहीं, बोलता मधुर है लेकिन प्रीति नहीं जोड़ता। इससे जोगी को रोकने की प्रार्थना होती है। एक ही पंक्ति में न जाने की तीन बार कातर याचना मत जा, मत जा, मत जा पाँव पर मैं तेरे होती है। अगर जाना ही है तो मीरा को भस्म कर दे उसी भस्म को अपने अंग लगा ले। निस्सन्देह इस "जोगी" का वर्णन और इसके प्रति आत्मा निवेदन आत्मीयता की पराकाष्टा हैं।

निष्कर्ष

मीरा ने जोगी के वियोग में जो कुछ कहा है वह विरह वर्णन की परम्परा में होते द्धी किंचित असामान्य हैं। जोगी की राह देखते हुए बहुत दिन बीत गए, वह आज तक आया नहीं तब तो मीरा सोचती है या तो जोगी जगमें नहीं या उसने मुझे भुला दिया। अगर यह "जोगी", "निर्मोही", या "प्रदेशी" कृष्ण ही है तो वह आशंका कि वे जीवित न हो, असंगत है।

जोगी के विषय में मीरा ने यह भी लिखा है मैं तो जानती थी कि जोगी साथ चलेगा, साथ चलेगा, संग रहेगा। लेकिन वह अधबिच रास्ते में छोड़कर कहीं प्रदेश चला गया। जब मीरा ने अपनी व्यथा कही, तब उन्होंने सिर्फ अपनी ही व्यथा नहीं अपने युग की असंख्यभक्ति की दुःखीजनों की व्यथा ही कहीं। इस जगत् में वे उन से नहीं मिले वे मीरा के स्वप्न है। ये आदर्श पति, प्रियतम, प्रेमी, रक्षक, रंजक इस जीवन जगत् में नहीं मिले इसलिए वह पूर्व जन्म के प्रिय है, जन्म-जन्मांतर के हैं। ये प्रियतम मीरा को स्वपन में मिलते हैं। इधर गोपीभाव की व्यंजना स्पष्ट हैं। विरह के प्रतिपादन के द्वारा भावातिरेक को बढ़ाने के प्रयास सफल होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्री ब्रजरत्नदास, मीरा माधुरी, सं - 1948, पृ. 168.
2. श्रीमद्भागवत्, पृ. 3/29/15
3. डॉ. राम प्रकाश, मीराबाई की काव्य साधना, सं 1972, पृ. 81.
4. डॉ. राजनागपाल, मीराबाई की पदावली, पद - 41.
5 डॉ. राजनागपाल, मी. पदावली, सं - 1988, पद : 15.

सहायक ग्रन्थः

1. डॉ. बल्देव वंशी : संत मीराबाई एवं उनकी पदावली
2. महेन्द्र मित्तल : मीराबाई
3. परशुराम चतुर्वेदी : मीराबाई की पदावली
4. माधव हाडा : सबद भेद : मीराबाई

ब्रजेश उपाध्याय

क्वाटर नम्बर- 4, टाइप-3, टीचर कॉलोनी,
बीएसएफ कैम्प, पलौरा, जम्मू-181124

निराला का समाज दर्शन

—डा. दिनेश्वर कुमार महतो

कोई भी महान रचना देश-काल से बंधना पसंद नहीं करती। उसकी कोशिश होती है कि वह अपने देशकाल का अतिक्रमण करके हर देश और हर काल के संदर्भ में सार्थक हो उठे। इसलिए महान रचनाकार अपने युग की समस्याओं को स्थूल वर्णनों के साथ नहीं उठाता, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पक्षों के साथ उठाता है ताकि देश-काल के बदलने से रचना नए-नए संदर्भों में अपने अर्थवता सिद्ध कर सके। यह विशेषता सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की भी है जो उनके काव्य-जीवन के हर चरण में दिखती है।

भारत में अंग्रेजी-शासन की स्थापना होने के बाद यहाँ के सामाजिक और वैचारिक क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा हो गई थी। अंग्रेजी-शासन ने भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट किया, जिससे भारत की आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर प्रभाव पड़ा। देश की अर्थव्यवस्था बिगड़ने लगी। सामान्य और मध्यवर्गीय जनता की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। केवल अंग्रेजों द्वारा संरक्षित राजा जमींदार, साहुकार और बड़े सरकारी अफसर ही खुशहाल जिन्दगी बिता रहे थे। साधारण जनता और विशेष रूप से किसान तथा मजदूर-वर्ग अधिकाधिक निर्धन होता चला गया। चारों ओर बेरोजगारी और दरिद्रता का साम्राज्य फैल गया। फलस्वरूप प्रबुद्ध भारतीयों के मध्य अंग्रेजी व्यवस्था के प्रति शंका और विरोध की भावना तीव्रतर हो गई। निराला जी पर भारतीय सामाजिक नव जागृति के इस प्रवर्तन का प्रभाव पड़ा। उधर भारत की विशाल जनता के बीच महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू जी के विचारों का भी प्रचार-प्रसार हुआ। इनके विचारों को भी निराला जी ने आत्मसात् किया, यद्यपि महात्मा गांधी के हिन्दी के साथ सौतेले व्यवहार से तथा नेहरू जी के थोथे समाजवाद से वह सदैव खिन्न रहे। किन्तु निराला और गांधी जी के दृष्टिकोण में केवल यही अन्तर था कि निराला अहिंसा के बल पर राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के संबंध में पूरी तरह के आश्वस्त नहीं थे। नेहरू जी के व्यक्तित्व और कार्यों से भी निराला लगा कि नेहरू जी देश को एक नई दिशा व चेतना प्रदान करेंगे। देश के स्वतंत्र होने की संक्रान्तिकालीन प्रक्रिया और उसके बाद के दिनों में नेहरू द्वारा अपनाई गई नीतियों और कार्य-विधि से निराला जी का तीव्र परिवर्तनकामी मन संतोष नहीं प्राप्त कर सका। देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में जितना गतिशील और गहरा परिवर्तन निराला जी चाहते थे, नेहरू के प्रशासन में यह उन्हें उस गहराई और गति प्रशासन में यह उन्हें उस

गहराई और गति से घटित होता नहीं दिखाई दिया। फलतः अपने काव्य 'नए पते' की 'महंगू महंगा रहा' में उन्होंने नेहरू और कांग्रेसी नेतृत्व की कटु आलोचना की।

''महाप्राण निराला आधुनिक युग के सार्वधिक मौलिक क्षमता संपन्न कवि है। इसका प्रमाण कवि का रचनात्मक वैविध्य स्वयं प्रस्तुत करता है। भाषा और संवेदना के जितने रंग और स्तर निराला में है, उतने किसी अन्य कवि में नहीं।''[1] निराला जी की सामाजिक दृष्टि के निर्माण में केवल विश्वविख्यात अथवा विशिष्ट ख्याति-लब्ध व्यक्तियों के विचारों का ही परोक्ष-अपरोक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था। समाज के कुछ ऐसे अपेक्षित व्यक्ति भी थे जिनके व्यक्तित्व और संघर्षों ने उन्हें एक नई सामाजिक चेतना प्रदान की। इनमें पटवारी दीन भट्ट उर्फ कुल्लीभाट प्रमुख थे जिनके समान कोई चरित्र निराला को भारतीय ग्रन्थों में भी न मिल सका था। "समाज में प्रचलित ढोंग का बड़ा चुमता दृश्य गोमती के किनारे कवि ने देखा है, जहाँ एक पूजारी ने बंदरों को तो मालपुआ खिलाया और एक कंगाल भिक्षुक की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। जिस प्रकार निराला जी छंद के बंधन अरूचिकर है उसी प्रकार सामाजिक बंधन भी इसी से सम्राट अष्टम एडवर्ड की प्रशस्ति लिखकर उन्होंने उन्हें एक वीर के रूप में सामने रखा जिसने प्रेम के निमित साहसपूर्वक पदमर्यादा के सामाजिक बंधन को दूर फेंका है।"[2]

निराला जी अपनी आत्मनिष्ठा के साथ मुख्यतः भू-जीवन के कवि और लेखक है, यह बात मानी ओर कही जा सकती है। भारतीय जन-साधारण के मन में जीवन के प्रति जो उदासीनता छा गई है, निराला जी ने उसका प्रबल विरोध किया है। उन्होंने मानव के भीतर की निराशा, वैराग्य-भावना, अज्ञान अंधकार, क्षुद्वता, संकीर्णता आदि के दुर्भावों को नष्ट कर उसे प्रेरणा देने वाले विचार प्रकट किए है। उन्होंने अपने साहित्य में न तो कोरे नैतिक प्रवचन दिए है और न ही साम्प्रदायिक सिद्धांतों का प्रतिपादन या नारेबाजी की है, वरन् उन्होंने ऐसे मौलिक विचार प्रस्तुत किए, जो केवल व्यक्ति ही नहीं समष्टि के पुनर्जागरण, विकास और उत्थान में सहायक हो सके। उनकी यह विचारधारा थी कि लोगों को ऐसी समाज-व्यवस्था की नितान्त आवश्यकता है जिसमें मानव-मूल्यों का भव्य महल खड़ा किया जा सके और जिसमें दुःख-सुख औंदात्य एवं आनन्द भूत-वर्तमान और भविष्य अधिभौतिकता तथा आध्यात्मिकता की धाराएँ मिलकर बहती रहें।

निराला ने इतना ही नहीं किया बल्कि तत्कालीन वर्णाश्रम धर्म की क्रूरता को भी 'प्रभावती' उपन्यास में बखूबी प्रस्तुत किया है साथ-साथ तत्कालीन राजशासन के अन्तर्गत पराधीन समाज को भी दर्शाया है- वह और ही युग था। एक ओर गरीब किसान छप्परों के नीचे, दूसरी और दुर्ग में धन-धान्य और हीरे-मोतियों से भरे प्रसादों में, फिर भी उन्हीं के पास फैसले के लिए न्याय के लिए जाना और उन्हें भगवान का रूप मानना पड़ता था। "गाँवों में वर्णाश्रम धम्र की धाक थी। राजवंश के क्षत्रियों को छोड़कर और सभी जातियों को चाहे वृद्ध की बगल से बच्चा आ निकले यदि ब्राह्मणवंश का हो चारपाई छोड़कर उठना पड़ता था, गाँवों में दिन भर यह कमाल जारी रहता था।"[3] निराला समाज में एक नई और विकसित चेतना को देखना चाहते थे। उनका बार-बार यही कहना था कि जो समाज पुराना है द्वारा हुआ है, वह कितनी भी प्राचीन विभूतियों से युक्त हो वह नवीन युग के लिए मृत है। उसी से पहले हमें लड़ना था। लड़कर परास्त करना था। परास्त कर नए समाज का सजीव और बहुजनों वाला बनाना था। तब हम राष्ट्र का पहला सोपान तय करते। यही समाज राष्ट्र को समाज है।

निराला दरअसल समाज में किसी भी प्रकार का अन्याय या अत्याचार को देख नहीं सकते बल्कि वे इसका प्रबल विरोध करते हैं तभी उनके उपन्यास के पात्र कभी अपने जीवन में या समाज में कोई भी बुराई का मुकाबला करते हुए नजर आते हैं। निराला के इन चार उपन्यासों 'कूल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चोटी की पकड़', 'काले कारनामें' ये सभी उपन्यास निराला ने तब लिखे जब देश में विदेशी शासन के विरूद्ध जोरदार आंदोलन शुरू हुआ। तत्कालीन परिस्थिति के समय में सामाजिक व्यवस्था कैसी थी और तब के समय में समाज के निचले तबके लोग तथा गरीब लोगों और स्त्रियों की क्या दशा थी, ये सब उनके उपन्यास में देखे जा सकते हैं। 'कुल्लीभाट' उपन्यास में निराला ने समाज में चल रहे तत्कालीन हिंदू-मुसलमान के बीच की जातीयता के तथ्य को बखुबी दर्शाया है।[4]

'जूही की कली' उस समय की रचना है जब पहली बार भारतीय समाज में व्यक्तित्व की मांग समाज से टकराने लगी थी। इसलिए 'जूही की कली' कैशोर्य किस्म की अनुभूतियों पर आधारित रचना है। जब वे 'सरोज-स्मृति' लिखते हैं तो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्याप्त छल-कपट व कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में प्रचलित दहेज प्रथा पर चोट करने से नहीं चूकते और देखते ही देखते पुरुष-प्रधान समाज में बेटी को मुक्त कर देते हैं, जो 1927 ई. के आसपास उभरती हुई नारी-चेतना का ही संकेत है।"[5] जब वे 'कुकुरमुत्ता' लिखते हैं तो प्रगतिवाद की रूढ़ियों पर करारी चोट करते हैं क्योंकि उस समय के प्रगतिवादी विचारक जीवन के हर

क्षण की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के यांत्रिक मुहावरे से करने का हठधर्मी प्रयास करते थे। वे छायावाद के दौर में भी 'भिक्षुक' तथा 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताएँ रचते हैं जो इस तथ्य का संकेत है कि जब तक जनसाधारण को मानवोचित जीवन न मिल जाए, तब तक व्यक्तित्व की मध्यवर्गीय भूख कितनी निरर्थक व हास्यास्पद है। 'गीत-गुंज', 'अर्चना', 'आराधना' और 'सान्ध्यकाकली' आदि परवर्ती कृतियाँ मुख्यतः प्रार्थनापरककृतियाँ है, किन्तु उनमें भी स्थान-स्थान पर सामाजिक स्वर मुखर हो उठे हैं।

आज समाज-संरचना में परिवर्तन लाने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा होनी चाहिए। निराला के अनुसार जब तक हमारे भीतर सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अवहेलना की भावना विद्यमान रहेगी, तब तक समाज का विकास होना असम्भव है, अगर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने-आपको पहचाने तो उनके भीतर के भेद-भाव दूर होंगे ही, इससे समाज में एक अद्‌भुत साम्य का प्रचार भी होगा जिसकी समाज आज प्रतीक्षा कर रहा है। निराला जी के विचारानुसार आज सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की जो पुकार उठती है, वर्ग सीमित होने के कारण पूरे मानव समाज को आकर्षित नहीं कर पाती, प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र में इन शब्दों की आवृति मानवीय शक्ति को नहीं पशु-शक्ति को जगाती है।

इस प्रकार निराला जी शोषण-मुक्त समाज की व्यवस्था का स्वप्न देखते थे। वहीं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वह हिंसा का बहिष्कार और विश्व शान्ति स्थापित करने का समर्थन भी करते थे। उनके साहित्य का स्वर मानवीय एकता है।

संदर्भ सूची

1. चतुर्वेदी, राम स्वरूप, 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संशोधित संस्करण, 1998, पृ. 122.
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2005, पृ. 499
3. नवल, नंदकिशोर (सं.) , 'निराला रचनावली-भाग-3', प्रभावती उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 256-257
4. नवल, नंदकिशोर (सं.), 'निराला रचनावली-भाग-4', कुल्लीभाट उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 35
5. नवल, नंदकिशोर (सं.), 'निराला रचनावली-भाग-4', कुल्लीभाट उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 94

डा. दिनेश्वर कुमार महतो
सहायक शिक्षक,
उत्क्रमित 2 उच्च विद्यालय, दिगवार,
दारू, हजारीबाग (झारखण्ड)

निर्मला पुतुल के काव्य में आदिवासी स्त्री जीवन

—डा. राजेंद्र घोडे

आज अपने देश में अनेक विमर्श चर्चित है, इनमें दलित विमर्श, स्त्री-विमर्श, अल्पसंख्यांक विमर्श और आदिवासी विमर्श है। इन सभी विमर्शों को लेकर काफी चर्चा हो रही है, लेकिन इसमें भी दलित स्त्री, आदिवासी स्त्री का विमर्श अलग है। कहने को तो भारतीय मनीषियों ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' कहा है लेकिन हकीकत यह है कि पूरे भारतीय इतिहास में स्त्री की उपस्थिति दूसरे दर्जे के नागरिक की क्यों रही है ? इसे लेकर भी चर्चा करना आवश्यक है। अन्य वर्ग के समाज में जो स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न है, इसके अलावा पत्नी के रूप में आदिवासी स्त्रियाँ घर-बाहर पुरुषों के साथ-साथ कन्धे से कन्धे मिलाकर कार्य करती हैं और अपने श्रम और कार्यकुशलता से परिवार का भरण-पोषण करती हैं। इन सबके बावजुद भी आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना में दोयम दर्जे की है। वहाँ भी स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में कम रखने के लिए अनेक कड़े नियम है।

आदिवासी समाज जंगलों में रहता है। जल, जंगल और जमीन उसकी सम्पत्ति है। जंगलों और पहाड़ों की संरचना के अनुरूप उनका जीवन ढला हुआ है। स्त्री और पुरुष दोनों ही मिलकर सुबह से लेकर शाम तक परिश्रम करते हैं। घर चलाने में स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक भूमिका निभाती है। स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह स्वतंत्रता है, लेकिन सम्पत्ति में अधिकार नहीं है। आदिवासियों की सम्पत्ति जंगल और जमीन है। जब जंगल और जमीन हस्तान्तरित होने लगे, उनके पट्टे लिखे जाने लगे तो उसमें किसी भी आदिवासी मुखिया या प्रधान ने औरतों के नाम पट्टे यह कहकर नहीं लिखने दिये कि ये शादी के बाद दूसरे घर चली जायेगी और उनकी भूमि उनके हाथ से निकल जायेगी। जिस वजह से स्त्रियों को सम्पत्ति से वंचित कर दिया। इसी परिणाम स्वरूप उनकी पुरुष की अपेक्षा स्थिति न केवल कम हुई अपितु कई तरह के शोषण का शिकार भी उन्हें होना पड़ा। उसी कारण पुरुष वर्चस्ववादी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया और स्त्रियों का शोषण शुरु हो गया। इसी समस्या को लेकर रमणिका गुप्ता जी ने लिखा है-''जब गैर-आदिवासी समाज आदिवासी क्षेत्र में जमीनों के पट्टे लिखकर और सूदखोर बनकर प्रवेश करने लगा तब जमीने और जंगल गैर-आदिवासियों के पास हस्तान्तरित होने शुरु हो गये विशेषतः झारखण्ड, छत्तीसगढ़ क्षेत्रों में तब दूसरे समाज की विकृतियाँ भी इस समाज में प्रवेश करने लगी।''[1] आज समाज में अलग अलग जाति के लोग रहते है उसमें से कुछ लोग ऐसे होते है, जो आदिवासी स्त्री को देखते ही

नाक-भौं सिकोड़ते है। आदिवासी स्त्री की नंगी-अधनंगी तस्वीरे खींचकर उन्हें अपमानित कर देते है ताकि वह केवल भोग की वस्तु मात्र बनकर रहें। ऐसे पुरुषवादी समाज पर तीव्र प्रहार करते हुए निर्मला पुतुल लिखती है-

''ये वे लोग हैं जो दिन के उजाले में
मिलने से कतराते हैं
और रात अँधेरे में
मिलने को माँगते हैं आमंत्रण
ये वे लोग हैं जो
हमारे ही नाम पर लेकर
गटक जाते है हमारे हिस्से का समुद्र।''[12]

आदिवासी समाज में स्त्रियों को मनचाहा वर चुनने की स्वतंत्रता है। इसीलिए बहुत इलाकों में युवक-युवतियाँ साथ रहकर मन पसंद साथी चुन लेती हैं। इसके बावजूद भी आदिवासी समाज में स्त्रियों के शोषण होते हुए दिखाई देता है। इसीलिए आदिवासी युवती अपने पिता से कहती है ऐसी जगह मेरा विवाह करना जहाँ बड़ा खुला आँगन हो। उसके हाथ में मेरा हाथ कभी मत देना जो बात-बात पर लाठी-डण्डा निकाले। इस तरह 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' इस कविता में अपनी कामना व्यक्त करते हुए वे कहती है-

''उस देश में ब्याहना मुझे
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज्यादा रहते हो
जहां बकरी और शेर
एक घाट का पानी पीते हो जहाँ
वहीं ब्याहना मुझे।''[13]

समाज में स्त्रियों को वस्तु या भोग-विलास का साधन मानने वाले पुरुषों की कमी नहीं है। आदिवासी समाज में भी पुरुष की अहंकारी मानसिकता के कारण स्त्रियों को वासना का साधन या उपभोग की वस्तु मानने की मानसिकता देखने को मिलती है। यह एक ऐसी विकृति है जो कहीं भी किसी भी समाज में हो, स्त्रियों के जीवन को एक जीता जागता खिलौना बना देती है। वह सब कुछ जानते हुए, देखते हुए, अत्याचार सहन करने को विवश होती है। और असहाय होकर अपने अस्तित्व को बिखरते हुए देखती रहती है। आदिवासी स्त्री की यह व्यथा निर्मला जी की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है-

''जो एक छोड़ दूसरी
दूसरी छोड़
तीसरी तक को उठा लाते हैं,
और बिठा देते हैं घर,
जरुरत बस,
मन भर जाने की होती है।''[14]

जंगलों को बेचे जाने से आदिवासी समाज के सामने रोजी-रोटी की गंभीर समस्या निर्मित हो गई है। उनका मैदानी भागों में पलायन हो रहा है। विस्थापन की कोई योजना न होने के कारण रोजगार की तलाश में महानगरों में आना पड़ता है। इन महानगरों में खुशहाल जिंदगी का झाँसा देकर लायी हुई महिलाओं का दैहिक एवं आर्थिक शोषण जमकर किया जाता है।

विकास के नाम पर आदिवासी महिलाओं का बाहरी लोगों द्वारा जमकर शोषण किया जा रहा है। ये लोग आदिवासी क्षेत्र में तरह-तरह के विकास की बाते करते हैं, और युवतियों को अपने जाल में फँसा लेते हैं। तथा अपनी काम-पिपासा शांत कर महानगरों में बेच देते हैं। जहाँ वे घुट-घुटकर जीने को मजबुर हो जाती हैं। इसीलिए कवयित्री ऐसे चालबाज दलालों से आदिवासी समाज की महिलाओं को सतर्क करती हुई 'बिटिया मुर्मू के लिए' कविता में लिखती हैं-

''सौदागर हैं वे...समझो
पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू...पहचानो
पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं
उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे
बच्चों का बचपन खटता है,
उन्हीं की सीड़ियों पर
तुम्हारी लड़कियाँ सब्ज बाग देखने
कलकत्ता और नेपाल के
बाजारों में उतरती है।''[15]

गरीबी, बेरोजगारी और पेट की आग का फायदा उठाकर लड़कियों को रोजगार का सपना दिखाकर बाजार में लेकर बेच देते हैं। आदिवासियों का प्रधान ही आदिवासी लड़कियों के देह का सौदागर बन जाता है तब 'निर्मला पुतुल' अपनी कविता 'चुड़का सोरेन से' में लिखती है-

''कैसा बिकाऊ है, तुम्हारी बस्ती का प्रधान
जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारु में, रख देता है
पूरे गाँव को गिरवी
और ले जाता है
कई लड़कियों को गठ्ठर की तरह
लादकर अपनी गाड़ियों में तुम्हारी बेटियों को
हजार पाँच-सौ हथेलियों पर रखकर।''[16]

आदिवासी स्त्रियों के शोषण में केवल पुरुष ही नहीं, सभ्य समाज की महिलाएँ भी पीछे नहीं हैं। वे अशिक्षित, सीधी-सादी आदिवासी युवतियों को शिक्षा एवं रोजगार का सुनहरा सपना दिखाकर अपने वश में कर लेती हैं। नारी होने के नाते इन पर आदिवासी लड़कियाँ जल्दी विश्वास कर लेती हैं और इन्हें अपना मानकर इनके अनुसार कार्य करने को तैयार हो जाती है। ये महिलाएं आदिवासी युवतियों को बड़े नगरों में शोषण के गहरे गर्त में धकेल देती हैं। इसीलिए निर्मलाजी लिखती हैं-

''अरे हाँ पहचानो
अपने ही बीच की उस कई-कई
ऊँची सेंडिल वाली
स्टेला कुजूर को भी
जो तुम्हारी भोली-भाली बहनों की आँखों में
सुनहरी जिंदगी का ख्वाब दिखाकर
दिल्ली की आया बनाने वाली फैक्ट्रियों में
कर रही है कच्चे माल की तरह सप्लाई।''[7]

दिल्ली जैसे महानगरों में पहुँचकर ये सरल-सीधी युवतियाँ अशिक्षित होने के कारण ऐसे जाल में फँस जाती हैं कि उससे बाहर निकलना इनके लिए कठिन हो जाता है। अनवरत शोषण का शिकार होने के कारण कई बार भयंकर बीमारी से ग्रसित होकर जान से हाथ धो बैठती हैं, क्योंकि बीमारी की हालत में इन्हें कोई सहारा नहीं देता। जब नारी अकेली रह जाती है तो उसका शोषण करवाने में नारियां भी पीछे नहीं रह जाती। बिना पति के रहनेवाली नारी को सताने में नारियाँ भी पुरुष से अधिक भूमिका निभाती हैं और अकेली नारी को संदेह की दृष्टि से देखती हैं। घर-परिवार या समाज में किसी के साथ कोई घटना घटित हो जाती है। या किसी कारण कोई अनहोनी हो जाती है तो उसे घटित घटना का जिम्मेदार मानकर उस पर डायन होने का आरोप लगार उसे अपशकुन कहते हैं। इस समस्या को लेकर 'ढपचा के बाबू' कविता में निर्मला जी कहती है-

''गाँव घर का हाल तो जानते ही हो
जिसका मरद साथ नहीं होता
उसे कैसे कैसे सताते हैं।''[8]

इस प्रकार निर्मला पुतुल जी ने आदिवासी महिलाओं की विभिन्न स्थितियों एवं उन पर होनेवाले अत्याचारों एवं शोषण का अत्याधिक बारीकी से चित्रण किया है। उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से आदिवासी महिलाओं की समस्याओं को उजागर करते हुए उन्हें जागृत करने का प्रयास किया है।

संदर्भ ग्रंथ

1. आदिवासी साहित्य विविध आयाम, संपा. डॉ. रमेश कुरे, डॉ. मालती शिंदे, विकास प्रकाषन कानपूर, प्र.सं. 20213, पृ. 65
2. वही, पृ. 67
3. पंचशील शोध समीक्षा (त्रैमासिक हिंदी शोध पत्रिका) संपा. डॉ. हेतु भारद्वाज, पृ. 38
4. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-2004, पृ. 14
5. आदिवासी साहित्य विविध आयाम, पृ. 68
6. नगाडे की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-2004, पृ. 15
7. पंचशील शोध समीक्षा (त्रैमासिक हिंदी शोध पत्रिका) संपा. डॉ. हेतु भारद्वाज, पृ. 51
8. वही, पृ. 54

डा. राजेंद्र घोडे
सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे
विश्वविद्यालय, पुणे-411007

हिन्दी कथा साहित्य एवं आदिवासी चेतना (संदर्भ : राजस्थान)

—डा. जयसिंह मीणा

हिन्दी साहित्य में एक स्तरीय रचनाशीलता आज के परिदृश्य, जीवन स्थितियों, परिस्थितियों पर समायोजित कहानियों एवं उपन्यासों की रचना की जा रही है। इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ से देश में सूचना प्रौद्योगिकी, बाजारवाद, पूँजीवाद और भूमण्डलीकरण का प्रभाव बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा है। इसका प्रभाव सभी क्षेत्रों के साथ साथ में हिन्दी साहित्य पर भी पड़ना लाजिमी था। सूचना प्रौद्योगिकी के बल पर व्यक्तिगत अहंवाद कमजोर पड़ा तो दूसरी ओर समाज सापेक्ष नई अवधारणाएं और नये साहित्यिक विमर्शों का तार्किक विवेचन होने लगा। साहित्य में नये विमर्श जैसे नारी विमर्श, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, कविता विमर्श, मीडिया विमर्श आदि स्थापित होने लगे। समकालीन हिन्दी साहित्य में इन विमर्शों ने खास स्थान बनाया है। इसी कारण सामुदायिक विमर्शों के तहत आजकल हिन्दी में संतोषजनक साहित्य उभरने लगा है। पहले की तरह केवल साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में ही विमर्शों का दबदबा नहीं रहा, बल्कि अकादमिक क्षेत्र में भी स्त्री, दलित, आदिवासी क्षेत्रों की स्थानीय संस्कृति और भाषाओं के अध्ययन केन्द्र खुलने लगे है। जिनमें बहुत से अध्ययनों के माध्यम से सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण होने लगा है। नये विमर्शों व सामाजिक वर्गों के कारण हिन्दी में नये लेखकों का उदय होने लगा है। ऐसे साहित्य के माध्यम से समाज के वंचित वर्ग के लोगों को मानवीय आत्म सम्मान के साथ जीने की प्रेरणा देते हैं। इन विमर्शों/विषयों ने उपेक्षित समुदायों को न केवल जगाया है बल्कि उन्हें मुखर भी बनाया है। आदिवासियों के साथ-साथ दलितों एवं इनकी स्त्रियों में भी अधिक निकटता आयी है। ''इस तरह राष्ट्रीय लेखन परम्परा में भारतीय आदिवासी समाज सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक सांस्कृतिक एवं अकादमिक क्षेत्रों का हिस्सा बनने लगा है। इसका श्रेय यहां के नव लेखकों, विचारकों व कथाकारों को जाता है जिन्होंने आदिवासियों की जीवन कथाओं का जिक्र कर इनमें जागरूकता लाने की कोशिश की है एवं उपन्यासों में आदिवासी समुदाय को केन्द्र में लाया जा रहा है। समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में आदिवासी जीवन संस्कृति को दो-तीन दशकों से जगह मिलने लगी है। वैश्वीकारण के युग में जितनी समस्याओं से आदिवासी समाज रूबरू हुआ है उनको हिन्दी कथा जगत में जगह मिलने लगी है।

''वैश्वीकरण के जमाने में उच्च पूँजीवादी दबावों के बावजूद यदि समाज में सामन्ती मिजाज बड़े पैमाने पर बचा है। राजस्थान के हिन्दी कथा साहित्य में सामंती मूल्य व संस्कृति पर ही अधिक लिखा गया है। प्राचीन व मध्यकालीन साहित्य

भी सामंती मूल्यों व संस्कारों, संस्कृति से भरा पड़ा है। जागीर दरबारों में साहित्यकारों को आश्रय दिया जाने के कारण साहित्य में इनकी शानो-शौकत को बढ़ा चढ़ाकर पेश किया गया। आश्रयदाताओं की प्रशंसा से ही अधिकतर साहित्यकारों को फुर्सत नहीं मिली। इस कारण आम जन-जीवन की ओर इनका ध्यान कम ही रहा। आधुनिक काल में मुंशी प्रेमचंद ने आम जन व निम्न वर्ग को साहित्य में स्थान दिया। आदिवासियों को विषय बनाकर साहित्य लिखने की परम्परा का विकास स्वतंत्रता के पश्चात् ही हुआ है।

आदिवासी समाज के इतिहास, संस्कृति, भाषा, परम्परा आदि को समग्रता में अब तक नहीं देखा गया है। 'मीणाघाटी' सोहन शर्मा द्वारा रचित उपन्यास है जिसमें उदयपुर के आदिवासी समुदाय भील मीणे, साँसी व डाँगियो का ब्रिटिश सरकार व राजे-रजवाड़ों द्वारा किये गये शोषण को चित्रित किया गया है। अमरा भील इस उपन्यास का मुख्य पात्र है जो इन हाकिम-हुक्कामो के विरूद्ध आवाज बुलंद करता है और इनके शोषण का बदला लेने के लिए गिरोह बनाकर सरकारी खजाने व हथियारों को लूटता है। एक अन्य पात्र संतराम चौधरी ने किसानों व नौजवानों को संगठित करने के लिए 'परजा पंचायत' नामक संगठन बनाया जो लोगों में जागृति, स्वराज की भावना पैदा करता है तथा गाँधी जी के सत्य व अहिंसा के सिद्धान्त के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जागृत करते हुए स्वतंत्रता संग्राम में योगदान करने के लिए प्रेरित करता है।

हबीब कैफी द्वारा 'गमना' 1999 में लिखा गया उपन्यास है। गरासिया आदिवासी नौजवान गमना इसका मुख्य पात्र है। गरासिया आदिवासियों के हक को किस प्रकार गाँव के चौधरी व सरकारी महकमे के लोग मिलकर चट कर जाते हैं और आदिवासियों के राजनीतिक सामाजिक हकों के विरूद्ध इनके षडयंत्रों का वास्तविक वर्णन यहां किया गया है। गमना इनत माम परिस्थितियों के विरूद्ध क्रान्ति का बीज बोता है।

राजस्थान व मध्यप्रदेश के सहरिया आदिवासी जीवन पर केन्द्रित पुन्नी सिंह का 'सहराना' उपन्यास सन् 1989 में प्रकाशित हुआ। सहरिया आदिवासियों के जीवन पर आधारित इस उपन्यास में शोषण और नाना प्रकार की पीड़ाओं को अभिव्यक्ति मिली है। उपन्यास का नायक सोना नामक युवा है जो जड़ परम्पराओं के विरूद्ध प्रतिरोध करता है।

'धूणी तपे तीर' में ब्रिटिश कालीन आदिवासी विद्रोह, संघर्ष एवं बलिदान की घटना का चित्रण है जो वर्ष 1913 में राजस्थान के बांसवाडा जिला के मानगढ़ पर्वत पर घटित हुई और जिसमें अंग्रेजी फौजों से लड़ते हुए लगभग 1500 आदिवासी लड़ाकू शहीद हुए। ये आदिवासी वन सम्पदा के पुश्तैनी उपयोग पर पाबंदी, भारी लगान व बैगार के विरूद्ध एकत्र होकर गोविन्द गुरू के नेतृत्व में पंचायत कर रहे थे।

'मगरी मानगढ़ः-गोविन्द गिरी' उपन्यास में राजेन्द्र मोहन भटनागर जी ने गोविन्द गिरी के जीवन का उल्लेख किया है जिसके केन्द्र में मानगढ़ नसंहार को रखा है। बंजारा गोविन्द गिरी आदिवासियों का मसीहा व संत परम्परा का जीवट इन्सान व राष्ट्रीय चेतना का अग्रदूत था, उसके द्वारा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक चेतना उपेक्षित व निर्धनता के अभिशाप से ग्रस्त वनवासी जनता में जागृति फैलायी गयी थी।

राजस्थान के आदिवासियों पर हरिराम जी की 'सांवड्या' कहानी में गाँव के सहज सरल व्यक्ति सांवड्या का व्यक्तिचित्र है। केदार प्रसाद जी की 'काँमरेड़ मीणा' नक्सलवादी समस्या पर आधारित है। चरण सिंह पथिक की कहानी 'बक्खड़' राजस्थान के मीना आदिवासी समाज को विषय बनाकर लिखी गई है। पुन्नी सिंह की 'लकड़बग्घे' सहरिया आदिवासियों पर केन्द्रित एक महत्वपूर्ण कहानी है। इनके अलावा रामधन लाल, शंकर लाल आदि ने भी राजस्थानी आदिवासियों को आधार बनाकर कई कहानियों को रचित किया गया है।

राजस्थान के आदिवासियों पर साहित्य कम ही लिखा गया है। मुख्य धारा के साहित्यकारों ने रांघेय राघव ने 'कब तक पुकारू' उपन्यास में नट समुदाय पर मार्मिक अभिव्यक्ति की है। लेकिन ये समुदाय राजस्थान के आदिवासी समुदाय का हिस्सा नहीं होने के कारण इस आदिवासी साहित्य में नहीं गिना जा सकता है। राजस्थान के सभी आदिवासी समुदायों में से मात्र चार आदिवासी समुदायों का चित्रण ही मिलता है। ये समुदाय है। गरासिया, सहरिया, भील, मीणा इनके अलावा अन्य समुदायों का राजस्थान के हिन्दी कथा साहित्य कहीं-कहीं उल्लेख मात्र है।

राजस्थान भारत का एक विशाल राज्य है। यहां बहुत सी जनजातियां निवास करती हैं भील मीणा, गरासिया, कथोड़ी, डामोर आदि यहां की प्रमुख जनजातियां है इन सभी में आज भी वहीं पौराणिकता की अधिकता दिखाई देती है। राजस्थान के आदिवासी समाज को बहुत सी परम्पराएं, मिथक किंवदतियां-दर्शन, संस्कृति, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दशा आदि सभी जनजाति समाज के यथार्थ जीवन से रूबरू कराती है। सदियों से देश की प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण या रक्षक की हैसियत से इनको जाना-पहचाना जाता है। आज के बदलते राजनैतिक, आर्थिक परिवेश में विडम्बना इस बात की है कि आदिवासी समाज सांस्कृतिक अस्मिता को लेकर कई प्रकार समस्याओं का सामना कर रहा है।

मुख्यधारा के लोगों द्वारा इनका बहुत शोषण किया

जाता है। सामाजिक विभेदता के प्रति विमर्श समाज के दबे सन्दर्भों को सामने लाता है यही साहित्य सामन्ती मिजाज को बौखलाहट से भर देता है। कुल मिलाकर कहा जाए तो यह नये विषयों और उनके लिए परिवेश तैयार करने का युग है। इसी कारण शम्भुनाथ ने लिखा है ''भारत एक बहुजातीय, बहुधार्मिक और बहु सांस्कृतिक ही नहीं है। यह भेदभाव दमन वर्चस्वों से भरा हुआ देश भी है यह उतना ही नहीं है जितना नवाशों में दिखता है। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है कि हमारे समाज में भारतीय राष्ट्रवाद से जिरह करते हुए आज स्त्री, दलित, किसान आदिवासी और अनगिनत स्थानीय जातियां-जनजातियां अपने ऊपर हुए जुल्मों का इतिहास खोज रही है।''[4]

उपभोक्तावादी संस्कृति की उद्दाम लालसाओं ने समाज में जो विकृतियां उत्पन्न की है उन्हें राजस्थान के जनजातीय परिक्षेत्र में देखा जा सकता है। हिन्दी कहानी के इतिहास में सत्तर-अस्सी के दशक बहुत उथल-पुथल वाले रहे है इसी दौरान बहुत भ्रामक आन्दोलनों ने राजस्थान में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में हलचल पैदा की। उस समय तक केवल दलित साहित्य का ही स्वरूप स्पष्ट दिखाई दे रहा था, लेकिन आदिवासी चेतना से सम्बन्धित कोई भी कथा, साहित्य की रचना नहीं होने लगी थी। इसी संदर्भ में राजस्थान के आदिवासी लेखक हरीराम मीणा ने कथाओं एवं किस्सागोई का जिक्र किया था और आदिवासियों को जागृत करने का जिम्मा उठाने लगे। उनका मानना था कि विकास के नाम पर अपनी पुश्तैनी जमीन से खदेड़ना आदिवासियों का उन्मूलन है। रमणिका गुप्ता ने ''आदिवासियों के उत्थान और इनके जीवन को बचाते हुए इस समाज के दुख, दर्द, हर्ष उल्लास, इतिहास, संस्कृति और संघर्ष को समझने की ईमानदार कोशिश की है। 'युद्धरत आम आदमी पत्रिका' ने आदिवासी जीवन और साहित्य को भार बनने से बचाया हैं और नई शताब्दी में आदिवासी स्वर की स्वाभाविकता और सहजता को सृजनात्मक संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया है।''[5]

राजस्थान में स्थिति बहुत दयनीय है दक्षिण क्षेत्र के आदिवासियों उदयपुर के आर.एस. मान ने देश के बहुत से आदिवासियों के जीवन का अध्ययन किया है। उनका कहना है कि वर्ली और सेहरिया आदिवासी लोग आदिम तौर तरीकों से खेती किया करते है। सूदखोर, जमीदार तथा शराब के ठेकेदारों ने इनकी जमीने हड़प ली है। ये सभी बंधुआ मजदूर के रूप में जी रहे है। ये अपनी ही जमीन पर हॉली का काम करते है। बेगारी करना इनके भाग्य का अभिन्न अंग बन गया है। मान अधिकारियों और योजनाकारों को चेतावनी देते हुए कहते है कि ''आदिवासी क्षेत्रों में फैली गरीबी और भूखमरी की समस्या का निदान किया जाना अभी बाकी है।''[6]

उक्त सभी समस्याओं के समाधान हेतु साहित्य अपना अहम स्थान रखता है जैसे अरावली उद्घोषणा का आदिवासी कहानी अंक 79 मार्च 2008 में प्रकट कहानियों पर आधारित है। उनका कहना है कि ''बस सुनो जो हम कहते है- यहीं तुम्हारे हितार्थ है- हमारे अनुभव से लाभ उठाओ/उन्हें न तो अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते है और ना ही और कुछ का।

दलित साहित्य के उभरते स्वरूप को देख कर यह स्पष्ट होता है कि समाज में क्रान्ति का प्रादुर्भाव साहित्य जगत की गद्यात्मक रचनाओं के माध्यम से आसान रहा है। चिर स्थाई प्रभाव मानव समाज या आदिवासी समाज पर इन्ही विधाओं के माध्यम से सम्भव हो सका है। इसी कारण आदिवासी विमर्श आज भी साहित्य जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने में अग्रिम रूप में खड़ा नजर आ रहा है। इनकी बहुत सी दासताओं का उल्लेख आदिवासी कहानियों में देखने को मिलता है जिनके माध्यम से आडम्बरों को दूर कर आधुनिक रहन-सहन की ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया जा रहा है। राजस्थान में आदिवासियों का शोषण हर संभव तरीके से किया गया और किया जा रहा है।

''जमीन दखल और सूदखोरी करने के अलावा लकडी के व्यापार के जरिये भी शोषण करने में माहिर है।

आदिवासी कहानियों की जांच पड़ताल से पूर्व बहुत सारे आदिवासी लेखक, साहित्यकारों ने अपने विस्तृत दृष्टिकोण को अपनाया। ''एक ओर नये सौन्दर्यशस्त्र की मांग करता हुआ दलित साहित्य आन्दोलन की मुद्रा में खडा है तो दूसरी ओर आदिवासी साहित्य जो न मुख्य धारा से मिलता है और न ही दलित साहित्य से इनकी प्रवृति मेल खाती है अपना वजूद स्वीकारे जाने की प्रतीक्षा में खड़ा है। ऐसी हालत में लगता है कहानी समीक्षकों को अपने पुराने हथियारों की फिर से जांच-पड़ताल करनी होगी।''[7]

आदिवासी जीवन को लेकर बहुत से कहानीकार अपने वर्चस्व की स्थापना करने में लगे हुए है। जैसे कोमल, भैंगरा, वाल्टर, तरूण पीटरपोल, रमेश मीणा, केदार प्रसाद मीणा, एक्का, डॉ. मंजू ज्योत्सना, शंकर लाल मीणा, रामधन लाल मीणा, हजारी लाल मीणा आदि लेखकों द्वारा बेरोकटोक किये जा रहे आदिवासियों के शोषण का पर्दाफाश किया है। ''कोमल द्वारा लिखित ''पहचान'' कहानी आदिवासीयों के भयानक दर्द को प्रकट करती है। कहानी का एक पात्र है सिंह जी जिसके पास एक आदिवासी स्त्री अपनी जाति का प्रमाण पत्र बनवाने के लिए आवेदन पत्र लेकर जाती है

उस समय उसका घूर कर देखता है और कहता है कि तुम तो आदिवासी नहीं लगती हो और तुम्हारा नाम तो आदिवासियों जैसा नहीं है या नहीं। आदिवासी लड़कियों के नाम तो एतवासी, सूरजी, गुलाबों कृषि हुआ करते है।''[8]

रमेश उपाध्याय की कहानियाँ सामाजिक परिवर्तन और व्यक्ति के अटूट हौसले की कहानियां है। ये कहानियां अपने ही परिवेश से उठाई गई है जो अंदर से धधक रही है। नई कहानी व कथाओं के आन्दोलन में भी ऐसी कहानियां देखने को नहीं मिलती है मध्यवर्गीय अभावयुक्त जीवन के साथ आदिवासी परिवेश की महता इन कहानियों में देखने को मिलती है इन्हीं की एक कहानी है 'शेष इतिहास' जो इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में सामाजिक सरोकारों की पूर्ति कर रही है इसी कहानी का एक पात्र विश्व नाथ है जो बिल्कुल अभावों में जी रहा है।

''यह कहानी लगभग आधी सदी के बाद जिस प्रकार अपने व्यापक अर्थ खोलती है उसमें आज इसकी प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में आदिवासियों के बीच काम करने वाले बहुत ही साधारण लेकिन वैचारिक ताप से तपे लोगों को जिस प्रकार जेलों में बंद किया जा रहा है उनसे उनकी स्वतंत्रता धीमी जा रही है। वह लोकतंत्र के लिए निश्चित ही घातक है।''[9]

भारत के वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक परिवेश में हाशिए का साहित्य नदारद मिलता है। हिन्दी भाषा की पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य किसी न किसी रूप में दिखाई अवश्य दे जाता है। साहित्य की विधाओं में कहानी ही एक मात्र उचित और सही विधा रही है। जो हर पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य रूप से देखी जा सकती है इनकी कहानियों में हाशिया साहित्य दिखाई देता है, पर ''आदिवासी साहित्य में अमानवीय, अतिमानवीय क्रूर और अत्याचारी पात्रों में ही क्यों दिखाई देते है। ''क्योंकि आदिवासी इतिहास के पन्नों में महाभारत, पुराण, रामायण में दानव, दैत्य और राक्षस के रूप में मिलते है।''[10]

राजस्थान के आदिवासी क्षेत्रों में विकास के क्या मायने है? इसका अर्थ अभी तक यही लगाया जा रहा है कि सड़क, बिजली, पानी, विकास, कल कारखाने, बड़े बांध, खदान, जंगलों का सफाया करना ही विकास है, परन्तु प्रत्येक राज्यों की सरकारे केवल राजनैतिक हथियार की तरह आदिवासियों को काम में लेती है। कुछ साहित्यकार व लेखकों ने इस क्षेत्र में अपना अहम योगदान दिया। अरावली उदघोष पिछले दो दशक से लगातार आदिवासी विमर्श और विकास की बात कर रही है इसी के माध्यम से आदिवासियों की आवाज लगातार उठाई जाती रही है तो सहयोगी पत्रिकाओं ने भी आदिवासी विकास के विशेषांक निकाले। ''दस्तक'' ''समकालीन जनमत'', ''युद्धरत आम'' आदमी ''दो आब'' और ट्राईब आदि ''अरावली उदघोष में अब तक ऐसी कहानियां प्रकाशित हुई है जो उल्लेखनीय रही है। विपिन बिहारी की टारगेट, भावसिर हिरवानी की 'परिणती', खुला जेल और परदेशी राम वर्मा की 'रास्ते ही रास्ते' और फैसला ऐसी कहानियां है जो इस समय चल रही आदिवासी क्षेत्र की ज्वलंत समस्या नक्सलवाद पर आधारित है।''[11]

अतः परिणामतः कहा जा सकता है कि आदिवासी किवदंतिया एवं जनश्रुतियों के माध्यम से यह खोजना काफी रोचक व उपयोगी होता है कि इनके समाविष्ट विषयवस्तु प्रकृति, मानवेतर, जीवजगत एवं मनुष्यों के मध्य सामंजस्य का सन्देश किस कदर देती रही है। विभिन्न आदिम समुदायों में प्रचलित कथा विधा सम्पूर्ण मानव समाज में विकसित होती रही है लोककथा की परम्परा का उत्तम स्त्रोत है। इसीलिए आदिवासी समाज में कथा के रूप में सुरक्षित मौखिक साहित्य की इस धरोहर को समझना होगा ताकि हम प्रकृति व अन्य जीवजगत के साथ रहे आदिवासी जीवन शैली की रक्षा और संरक्षक का कार्य संतुलित रूप से कर सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. समकालीन हिन्दी कहानी सरोकार और विमर्श सम्पादक, श्यामसुन्दर पाण्डेय, पृ. 25
2. समकालीन हिन्दी कहानी सरोकार और विमर्श सम्पादक, श्यामसुन्दर पाण्डेय, पृ. 20
3. हंस पत्रिका, संपादक, राजेन्द्र यादव जून 2001, पृ. 93
4. आदिवासी समाज और शिक्षा, रामशरण जोशी ग्रंथ शिल्पी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली-110092, पृ. 8
5. अरावली उद्घोष, सपां. बी.पी. वर्मा पथिक अंक 80 जून 2008, पृ. 60
6. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, पृ. 207
7. लमही पत्रिका, संपादक, विजयराम गोमती नगर लखनऊ, अक्टूम्बर-दिसम्बर 2019 पृ. 95
8. आदिवासी दस्तक-विचार, परम्परा और साहित्य, रमेशचन्द मीणा, अलख प्रकाशन जयपुर पृ. 16
9. अरावली उद्घोष के विविध अंक, संपादक, जून 2008 वी पी वर्मा, पृ. 68
10. कथित विकास और नक्सलवाद, अनिल चामड़िया जनसत्ता 17 अक्टूबर, 2009
11. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, सम्पादक, रमणिका गुप्ता पृ. 169 (मंजू ज्योत्सना की प्रत्यश्चित कहानी से)

डा. जय सिंह मीणा
एसोशिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

दलित साहित्य बनाम ललित साहित्य का द्वंद्व : 'गूंगा नहीं था मैं'

–डा. कर्मानंद आर्य

''मैं हूं ढोल / चमड़े से मढा काठ का खोल/जन्म, शादी, मनादी /घर, दंगल, जंगल/होली हुड़दंग, मंगल/बजाया जाता हूं मैं/मनोरंजन और खुशी के हर मौके पर/अंगुलियों की थिरकन,/हथेली की थाप/या डंडी की चोट से/कभी धीमा, कभी तेज/हर थाप हर चोट पर/मैं दर्द से कराहता हूं/बिलबिलाता हूं/मुझ पर पड़ने वाली प्रत्येक चोट/बनाती है जख्म मेरे जिस्म पर/जितनी तगड़ी चोट/उतना गहरा जख्म/उतनी ऊंची चीख/आनन्दित होते हैं वे जिस पर/नाचते गाते हैं, तालियां बजाते हैं/नाच गाने और तालियों के शोर में/दबकर रह जाता है मेरा दर्द/ध्वनित होती है चीख/सुनाई पड़ती है जो/संगीत के रूप में''

(जयप्रकाश कर्दम)

कवि, कथाकार, आलोचक, जयप्रकाश कर्दम साहित्य की दुनिया में कोई नया नाम नहीं हैं। अपनी कविता में उनकी प्रतिभा और तीखे तेवर के कारण उनकी अपनी विशिष्ट पहचान है। गोबर पट्टी में हिंदी दलित साहित्य को पहचान दिलाने में उनकी भूमिका स्मरणीय है। साहित्य, संस्कृति और समाज को देखने की उनकी एक विशेष दृष्टि है और यह उनकी रचनाओं में भली-भांति हम सब देख सकते हैं। वे सहज व्यक्तित्व के धनी हैं जिनमें आक्रोश और अहंकार बिल्कुल भी नहीं है। वह अपने विचारों को तार्किकता के साथ प्रस्तुत करते हैं ताकि अधिकतम जनता उनसे सहमत हो सके। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में मानवीय गौरव, अस्मिता और संघर्ष का स्वर गुंजायमान होता है। उनके कविता संग्रह 'गूंगा नहीं था मैं' में उनकी कविताएं उन लोगों की यात्रा, संघर्ष, स्वप्न और जिजीविषा की सार्थक अभिव्यक्ति करती हैं जो समाज आज तक हाशिए पर पड़ा रहा है।

जयप्रकाश कर्दम का व्यक्तित्व एक ऐसे रचनाकार का जो कथा और कविता में समान अधिकार रखता है। यहाँ इस आलेख में हम उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलुओं के साथ उनकी कविताओं के माध्यम से उनकी वैचारिक चेतना, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समझ आदि को रेखांकित करने का प्रयास यहाँ पर करेंगे। उनकी कहानियां जहाँ समाजविज्ञान के शोधार्थियों के लिए एक खुली किताब की तरह हैं तो उनकी कवितायें दलित जीवन की उस प्रतिबद्धता

की जीती जागती मिसाल हैं जिन्हें पढ़कर आत्मतोष तो होता ही है, झूठ और अन्याय के प्रति विषाद और विरक्ति भी होती है। अभी तक उनके दो कविता संग्रह प्रकाशित हैं। 'गूंगा नहीं हूँ मैं' और 'तिनका तिनका आग' ने पाठकों का दिल मोहा है। 'किले' 'आरक्षण' 'वर्णवाद का पहाड़ा' 'बेमानी है आजादी' 'दमन की दहलीज पर' 'गूंगा नहीं था मैं' 'अक्करमाशी' 'लाठी' 'कलिया की मौत' 'आंबेडकर की संतान' 'आज का रैदास' 'लालटेन' 'दरखूत' जैसी कई महत्वपूर्ण कवितायें लिखी हैं और हिंदी कविता में एक अलग मुकाम हासिल किया है।

'जयप्रकाश कर्दम' का जन्म 5 जुलाई सन 1958 को ग्राम इंदरगढ़ी हापुड रोड, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ। उन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, खंड काव्य, यात्रावृतांत, साक्षात्कार, आलोचना-वैचारिक संपादित और अनूदित तथा बाल साहित्य समेत कुल पैंतीस ग्रंथों की रचना की है। वह 'दलित साहित्य वार्षिकी' नामक एक वार्षिक पत्रिका का सन 1999 से लगातार संपादन कर रहे हैं। उनकी रचनाएं देश-विदेश के कई विश्वविद्यालयों में बीए, एमए, एमफिल पाठ्यक्रम में शामिल है। कर्नाटक राज्य में प्री यूनिवर्सिटी सीनियर सेकेंडरी हिंदी पाठ्यक्रम में भी एक कहानी शामिल है। उनकी किताबों पर तथा व्यक्तित्व और कृतित्व पर पचास से अधिक शोध हो चुके हैं। उन्हें केंद्रीय हिंदी संस्थान, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पुरस्कार हिंदी अकादमी दिल्ली द्वारा विशेष योगदान सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा लोहिया सम्मान सहित कई पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हुए हैं। वह केंद्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान नई दिल्ली से निदेशक पद से अभी निवर्तमान हुए हैं।

आधुनिक दलित साहित्य के उदय के छः दशक पूरे होने को हैं। वर्षों के हिसाब से साठ बरस का समय कम नहीं होता है। इतने समय में तीन पीढियां जवान हो जाती हैं। गाँवों और शहरों की शक्ल सूरत बदल जाती है। भाव और संवेदना में कुछ न कुछ अंतर जरुर आ जाता है। बड़ी बात है इतने ही समय में किसी नवोदित लेखक को स्वीकृत लेखक होने का तमगा मिल जाता है। कम से कम छह काव्यान्दोलन इतने समय में तो आ ही जाते हैं। पत्रों वाले युग डिजिटल पत्रों वाले युग में बदल जाते हैं। सब कुछ तुरत-फुरत होता जाता है। पुराना लिखा और पुराना होता जाता है। इन परिवर्तनों के बीच एक चीज है जो थिर रहती है, चिर युगीन है, सनातन है, सर्वव्यापक और सर्वज्ञानमयी है। बदलाव नहीं बदले की भावना की वाहक है, और वह है 'जाति'। कुछ भी बदल जाए, जाति है कि बदलने का नाम नहीं लेती है। इसलिए कहा है वह चिर युगीन है। हिन्दू धर्म के माथे पर कलंक की तरह हमेशा विराजमान। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलयुग (तथाकथित) में सर्वस्वीकृत। 'धर्मसंस्थापनाय' के मूल में यही है—जाति।

कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक ब्राह्मणी लेखन एक है। इसके भाग उपभाग हो सकते हैं पर उद्देश्य में इस लेखन के कोई अंतर नहीं है। इसे द्वैत का मानने वाला लिखे या अद्वैत का, त्रैत का मानने वाला लिखे या द्वैताद्वैत का, उसके परिणाम में कोई अंतर नहीं आएगा। इसे सरल शब्दों में कहें तो 'एकं सदविप्राः बहुधा वदन्ति' के भाव से इसे ठीक ठीक समझा जा सकता है। शायद ही किसी के पक्ष में इतना तर्क-विवेक और विचार हुआ हो जितना कि इस जाति की श्रेष्ठता और निम्नता के पक्ष में किया गया है। चार वेद, छः उपवेद, ग्यारह उपनिषद, अट्ठारह पुराण, गीता, रामायण, महाभारत प्रकरांतर से इसी जाति बोध को स्थापित और विस्थापित करने वाले ब्राह्मणी ग्रन्थ हैं। मिथकों और कथाओं के द्वंद्व इसी से अंतर्भूत हैं। जाति विचार के मूल में है। जाति समाज के मूल में है। जाति धर्म के मूल में है, जाति हिंसा और अहिंसा के बीच का सच है। इसी जाति से लाभ लेने वाले समुदाय 'ललित साहित्य' रचते हैं और जो जाति का कलंक अपने माथे पर चिपकाए हुए दर-दर की ठोकर खाते हैं उनके द्वारा लिखा गया साहित्य 'दलित साहित्य' कहलाता है। इसी जाति के यथार्थ को मलखान सिंह अपनी कविता 'फटी बंडी' में कुछ इस तरह से व्यक्त करते हैं। व्यक्ति की पहचान प्रतिभा, ज्ञान और विवेक से होती है परंतु दलितों की पहचान उसके जाति से ही हो पाती है :

मैं अनामी हूँ/अपने इस देश में/ जहां जहां भी रहता हूँ/आदमी मुझे नाम से नहीं
जाति से पहचानता है/जाति से सुलूक करता है...
(फटी बंडी कविता, सुनो ब्राह्मण-पृष्ठ 75)

वर्चस्व और अपमान कि परंपरा जैसे विरासत में मिली है दलितों को, इसका दर्द और वेदना अपनी कविता में करते हुए कवि यथार्थ के उस उच्चतम बिंदुओं को स्पर्श करने लगता है जहां आने वाली पीढ़ी भी एक बार काँप जाती है अपनी असमानता को यथार्थ में देख कर...कि *हमारी बस्ती में उगा पौधा/दरखत होने से पहले ही/सूख जाता है/उनके आँगन का बूढ़ा पेड़ भी/हाथी सा झूमता है/समाज विभाजन का यथार्थ चित्रण देखिये उनकी कविता 'हमारे गाँव' में.../हमारे गाँव में भी/कुछ हरि होते हैं/कुछ*

जन होते हैं/वह जन के साथ/न उठते हैं/न बैठते हैं/न खाते हैं/न पीते हैं/यहाँ तक कि जन की/परछाई तक से परहेज करते हैं/ यदि कोई प्यासा जन/भूल या मजबूरी वश/हरि कुएं की जगत पर/पाँव भी रख दें/तो कुएं का पानी/मूत में बदल जाता है ।

(हमारे गाँव में, सुनो ब्राह्मण, पृष्ठ 89)

यही जाति हमारे समाज का सबसे बड़ा यथार्थ है। प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' याद है न! 'कफन' की चर्चा तो बहुत हो चुकी है। जाति की पीड़ा और आनंदबोध के खिलाफ लिखने वाले इसी साहित्य को हम दलित साहित्य कहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मणी मूल्यों को आधार बनाकर आनंदवाद के लिए लिखने वाले लेखक को ब्राह्मण लेखक और उसके द्वारा लिखे हुए साहित्य को 'ललित साहित्य' कहते हैं। और सहज शब्दों में कहें तो 'विष्णुवाद' 'राधावाद' और 'मार्क्सवाद' से इतर सन्दर्भों यानि जिसमें जीवन का भोगा हुआ यथार्थ लिखा है को दलित साहित्य कहते हैं।

बाबा साहब अंबेडकर के विचारों से प्रभावित होकर 21वीं सदी में बहुत सारे कवियों ने अपना सृजन संसार हम पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। अगर हम दलित साहित्य की बात करें तो सूरजपाल चौहान, ओमप्रकाश वाल्मीकि, दयानंद बटोही, कँवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टांकभौरे, बिपिन बिहारी आदि कवि इसी तरह की सूची में आएंगे। जयप्रकाश कर्दम का नाम इन सब लोगों में उल्लेखनीय है। जयप्रकाश कर्दम अपनी वैचारिकी का आधार बाबा साहब आंबेडकर से प्राप्त करते हैं। वे जानते हैं कि बाबा साहब अंबेडकर के मानवतावादी विचार बहु आयामी हैं। उन्होंने हिंदू धर्म की कुत्सित व्यवस्था और विषमता को मिटाकर स्वतंत्रता, समता, न्याय और बंधुता के आधार पर आधुनिक भारत के निर्माण का सपना देखा था। सच्चे अर्थों में कहा जाए तो वे भारतीय संविधान के शिल्पकार थे।

जयप्रकाश कर्दम का सपना भी बाबा साहब आंबेडकर का सपना है। वे जानते हैं कि विषमता भरे इस समाज में एकता और धर्मनिरपेक्षता के सूत्र को अपनाए बिना संवैधानिक हकों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुल मिलाकर देखा जाए तो जयप्रकाश कर्दम अंबेडकरवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। उनकी कविता में डॉक्टर बाबा साहब अंबेडकर जी के विचार ही प्रमुखता से दिखाई देते हैं। गुलामी अन्याय तथा शोषण का विरोध जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविताओं में किया है।

चाहे कविता हो चाहे कहानियां या उपन्यास दलित लेखकों की विशेषता यह है कि उनके यहाँ तर्क और विचार ही प्रमुख हैं। वे ललित साहित्य यानि आनंद का साहित्य नहीं लिखते। उनके लिखे में विखंडन और विज्ञान को प्रमुखता है। वे जानते हैं कि हमें अपनी सामाजिक स्थिति को बदलने के लिए मौजूदा व्यवस्था को बदलना होगा, और किसी भी व्यवस्था को बदलने के लिए सामजिक क्रांति की जरूरत होती है। वे आनंद को अंतिम सत्य नहीं मानते और लोकोत्तर चमत्कार उनके यहाँ बिलकुल नहीं है। वे सहज और सरल भाषा में प्राणमयी अभिव्यक्तियाँ करते हैं। वे मठों और गढ़ों के खिलाफ संघर्षरत रहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि मठ और गढ़ तोड़े बगैर दलितों को अपनी जगह नहीं मिल सकती। जयप्रकाश कर्दम ने इसी प्राणमयी भावाभिव्यक्ति को अपनी कविता 'किला' में बहुत ही विस्तार से वर्णित किया है। कवि लिखता है :

ब्राह्मण का मान/ ठाकुर की शान/सेठ की तिजोरी/ खेत खलिहान/मिल कारखाने/कोठी और हवेली/मेरे श्रम और शोषण से फले फूलें हैं/ मेरी हिंसा और अमान पर खड़े हैं/असमानता और अन्याय के सारे किले/मेरी आँखों में गड़े हैं।

(किला, गूंगा नहीं था मैं, पृ. 14)

वे जानते हैं कि ब्राह्मणी सत्ता तब तक है जब तक दलितों के भीतर जागरूकता और चेतना का अभाव है। वे जानते हैं कि राजपूत उन्हें तब तक ही आँखें दिखा रहा है जब तक उसने हम वंचितों की संपत्तियां और खेत इसके कब्जे में है। वे जानते हैं कि इनके हाथ जबतक रक्तरंजित हैं तभी तक ये हमारा शोषण और दमन कर रहे हैं पर समय का पहिया घूमता है और एक दिन जरुर आएगा जब वे हमारी ही तरह हर चीज के लिए तडपने को मजबूर होंगे।

जयप्रकाश भारतीय समाज में जड़ जमा चुकी जातीय जड़ता और असमानता को जानने-समझने वाले रचनाकार हैं। जयप्रकाश कर्दम इस बात को बहुत अच्छी तरह से समझते हैं कि अमीरों के जितने किले और मेहराबें हैं वह सब हम वंचितों के खून पसीने से बने हैं। उनके मिल और कारखाने हमारे श्रम और शोषण के परिणाम स्वरूप बने हैं। कवि जानता है जब तक असमानता के ये सारे किले ढहाए नहीं जाते तब तक दलितों और वंचितों को उनके अधिकार नहीं प्राप्त होंगे। वे उन्हीं कमजोर कड़ियों पर प्रहार करते हैं जिनके कारण भारतीय समाज खोखला होता जा रहा है। वे अभी तक की सवर्णवादी हिंदी कविता के छद्म को समझते हुए विष्णुवाद और राधावाद के चमत्कारिक साहित्य को

नकारकर यथार्थवादी साहित्य रचने की ओर अग्रसर हैं। वे अब इस क्रम में अकेले नहीं है बल्कि दलित, आदिवासी और अन्य वंचित समूहों से आने वाले बहुत सारे कवि, चिन्तक और कलाकार अब उनके साथं हैं।

जयप्रकाश कर्दम की कविताओं में बहुजनों की गुलामी, अन्याय तथा शोषण का प्रखर विरोध दिखाई पड़ता है। उनकी अनेक कविताएं इस शोषण को आधार बनाकर लिखी गई हैं। अंबेडकर की संतान कविता में जयप्रकाश कर्दम ने हरिया, हरखू, कृष्णा मंगल जैसे दलितों को केंद्र में रखकर उनकी की समस्याओं का जिक्र किया है। हड्डियों के ढांचे जैसा दिखने वाला हरिया जानता है कि उसे श्रम और संताप ने तोड़ा है। हरखू जानता है कि वह अक्षम अपंग नहीं है बल्कि बर्बरता और बेबसी ने उसे अपना शिकार बनाया है। कृष्णा ने अपने बदन का सौदा नहीं किया है बल्कि उसे जालिम दरिंदों ने लूटा है। जेल में बंद मंगल को मालूम है कि वह चोर डकैत या हत्यारा नहीं उसने जुर्म और शोषण के खिलाफ आवाज उठाई थी इसलिए उसका यह हश्र हुआ है। जयप्रकाश कर्दम कहते हैं कि हरिया, हरखू, कृष्णा और मंगल के साथ सदियों से अन्याय ही होता रहा है परंतु इसे किसी की आत्मा को कोई कष्ट नहीं पहुंचा। इन घटनाओं के खिलाफ किसी भी प्रकार का विद्रोहात्मक आवाज भी नहीं उठाई गई और न कोई प्रश्न नहीं उठाया गया। बाबा साहब अंबेडकर ने दलितों को मनुष्य होने का जो एहसास दिलाया था उसके परिणाम स्वरुप की इस तरह के प्रश्न पैदा हुए और रचनाएं हमारे आने लगी। जयप्रकाश कर्दम जैसे पहली पीढ़ी के लेखक उसी आवाज की पहचान हैं।

जयप्रकाश कर्दम का दृष्टिकोण अहिंसावाद का है। वे जानते हैं हिंसा को हिंसा से नहीं जीता जा सकता और अहिंसा को अहिंसा से। इसलिए करदम स्वयं को भोर का सूरज होना पसंद करते हैं। वे जानते हैं की अभी तक दलितों वंचितों और आदिवासियों के हिस्से में अँधेरा ही अँधेरा आया है। वे जानते हैं की ललित साहित्य वालों की तरह जेठ की तेज धूप नहीं अपितु सावन की बयार बनकर ही लोक का मन जीता जा सकता है। वे जानते हैं कि भेदभावमूलक कीचड़ ने लोगों को असमानता के कुएं में धकेला है मुझे पशुता का जंगल नहीं, मनुष्यता का संसार चाहिए। कवि लिखता है :

मैं भोर के सूरज सा/ उदय होना चाहता हूँ/अन्धेरों से..../ निकलना चाहता हूँ/बहुत भटका हूँ/विभेदऔर अन्याय की/गलियों में/मैं समता के राजपथ पर/ चलना चाहता हूँ/मैं घृणा नहीं/प्यार चाहता हूँ/हिंसा का नकार चाहता हूँ/मैं विद्वेष नहीं–/सामंजस्य चाहता हूँ/बर्बरता और दमन का.../प्रतिकार चाहता हूँ/मैं जेठ की लू नहीं–/सावन की बयार चाहता हूँ/भेद-भाव का पतझड़ नहीं–/बन्धुता की बहार चाहता हूँ/मैं पशुता का जंगल नहीं–/मनुष्यता का संसार चाहता हूँ।

जयप्रकाश कर्दम ने आरक्षण जैसे महत्वपूर्ण विषय पर एक गंभीर कविता लिखी है। ललित साहित्य के इतिहास में मुझे कोई भी कविता जाति के उच्छेद और आरक्षण जैसे विषय पर दिखाई नहीं देती है। गांधी के प्रभाव में आकर कुछ सुधारवादी रचनाएं तो लिखी गई लेकिन उनमें जाति व्यवस्था के उच्छेद का कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मलखान सिंह, श्योराज सिंह बेचैन, विपिन बिहारी और कँवल भारती जैसे रचनाकारों ने इन विषयों पर बहुत खुलकर लिखा है। यहाँ जयप्रकाश कर्दम की आरक्षण कविता द्रष्टव्य है :

तुम्हें खटकता है/सरकारी नौकरियों में मेरा आरक्षण/ मेडिकल या इंजीनियरिंग कॉलेजों में/मेरा एडमिशन/ आग लगती है तुम्हें/मेरी उपलब्धियों से और/अनुचित लगता है तुम्हें मेरा प्रमोशन/क्या कैपिटेशन फीस/यानी रिश्वत देकर एडमिशन लेना उचित है ?/ क्या मंदिरों की मोटी कमाई पर/ब्राह्मणों का एकाधिकार उचित है ?/ क्या गैर सरकारी संस्थानों में/केवल सवर्णों का नियोजन उचित है ?/ क्या यह सब आरक्षण नहीं है ?

जयप्रकाश कर्दम भली भांति जानते हैं कि आरक्षण के कारण दलितों वंचितों की जो भागीदारी लोकतंत्र में बढ़ी है, उसके कारण से वर्चस्वशील तवके का मनोबल कमजोर हुआ है। वह कभी भी नहीं चाहता कि यह आरक्षण दलितों वंचितों को पूरा मिले। इस आरक्षण के कारण ही उसका पितृसत्तात्मक व्यवहार टूट रहा है, उसका सामंतीपन घट रहा है। उसकी ब्राह्मणवादी शक्तियां क्षीण हो रही हैं, इसलिए लगातार वह आरक्षण के सवाल को भटकाने की कोशिश करता रहता है। वह कभी आरक्षण को आर्थिक उन्नतिकरण तक ही सीमित कर देता है और कहता है कि दलितों वंचितों को कभी भी आरक्षण नहीं मिलना चाहिए क्योंकि इससे वे आर्थिक रूप से सक्षम हो रहे हैं और हमारी आँख से आँख मिला रहे हैं।

अभी कुछ दिनों पहले ही एक प्रोफेसर से जो जन्मना सवर्ण है आरक्षण के मुद्दे पर बात हो रही थी। उनका मानना था कि रिजर्वेशन से देश का बहुत नुक्सान हो रहा

है। उनका तर्क था कि अभी आईआईटी के सात निदेशकों ने मोदी सरकार को लिखकर दिया है कि इन संस्थाओं में आरक्षण नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे उनकी गुणवत्ता घट रही है। बात साफ़ है इन्हें ही आधुनिक मनु कहा जा सकता है। द्रोणाचार्य और शुक्राचार्य यही हैं। इनमें से एक भी दलित, पिछड़े, आदिवासी समुदाय का नहीं होगा यह मेरा दावा है। इसको इस तरह से भी समझा जा सकता है कि देश के 789 विश्वविद्यालयों में पंद्रह भी वंचित समुदायों के लोग प्रशासक नहीं है। वहां किसी प्रकार का आरक्षण भी नहीं है जिसमें एक कुलपति एवरेज 200 लोगों को अपने जीवन काल में नियुक्त कर लेता है।

विवि की नियुक्तियों का जाति क्रम से अध्ययन हो तो इन माननीयों की असलियत सामने आ जाए पर करे कौन भाई ? चोर, सिपाही, जज जब एक ही समुदाय हो तो भी न्याय को काली पट्टी बांधनी ही पड़ेगी। नियुक्त प्रोफेसर जो पाठ्यक्रम बनाते और पढ़ाते हैं उस पर और पाठ्यपुस्तक की राजनीति पर स्वतंत्र लिखा जाना अपेक्षित होगा। अब सोचिये जिन प्रोफेसरों को लगता है कि आरक्षण से देश का नुक्सान हो रहा है वे अपने वंशजों में आखिर यही जहर नहीं घोलते होंगे तो क्या करते होंगे? तुर्रा यह कि उन्हीं के नब्बे प्रतिशत भाई-भतीजे प्रोफेसर हैं। उन्हें संविधान का भी मान नहीं। उन्हें आरक्षण की अवधारणा तक पता नहीं। वे आरक्षण को मनरेगा समझकर आर्थिक सशक्तिकरण का टूल मानते हैं। भाई आरक्षण मनरेगा नहीं प्रतिनिधित्व का मामला है। तब आखिर जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता 'आरक्षण' में आखिर क्या गलत लिखते हैं?।

वस्तुतः यह कोई नई बात नहीं है। वह अच्छी तरह से जानता है कि जो भेदभाव तो हमारे समाज की जड़ों में है। संविधान प्रदत्त संवैधानिक अधिकारों के कारण दलितों वंचितों को जो आरक्षण मिला हुआ है वह आरक्षण जब तक रहेगा तब तक सवर्णों का भला नहीं हो सकता। इसीलिए इस सांस्कृतिक और सामाजिक सवाल को अपनी कविता में जयप्रकाश कर्दम बहुत ही सशक्त ढंग से उठाते हैं। जयप्रकाश कर्दम की यह कविता हिंदी कविता वरिष्ठ दलित कवि मलखान सिंह की कविता 'सुनो ब्राह्मण' की कविता का विस्तार लगती है, क्योंकि इस कविता में भी जयप्रकाश कर्दम तथाकथित सवर्ण तबके को कहते हैं कि आप हमारे साथ श्रम करो मेहनत मजदूरी करो, नालियां साफ करो, इस तरह के काम अगर तुम करोगे तब हमारी पीड़ा को समझ पाओगे और जब तक तुम इस पीड़ा को नहीं समझते तब तक तुम हमारा अधिकार हमें नहीं दे सकते।

फिर मेरे आरक्षण का विरोध क्यों ?/ सब कुछ तुम्हारे लिए हो तो उचित है/लेकिन मेरा भी हिस्सा हो तो अनुचित है/यानी हर जगह तुम्हारा आरक्षण उचित है/मेरा अनुचित/ तुमको हराम का हलवा उचित है/मुझको ईमानदारी और मेहनत की रोटी भी अनुचित है/नहीं, तुमको सारा मक्खन और मुझको छाछ भी नहीं/यह सब नहीं चलेगा/अब हर क्षेत्र में होगी समान रूप से हिस्सेदारी/शासन प्रशासन से लेकर/ मैला ढोने, जूती गांठने/ और झाड़ू लगाने तक के काम में भी/बांटनी होगी समानता

(आरक्षण, गूंगा नहीं था मैं, पृष्ठ 17-18)

जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता 'आरक्षण' में उस शाश्वत प्रश्न को पुनः उजागर करते हैं जिस पर लगातार बहस नहीं होती है। जिससे अधिकांश सवर्ण सिर्फ घृणा करते हैं और इसे अपनी हकमारी मानते हैं। जो आरक्षण बाबा साहब अंबेडकर ने पूना पैक्ट के परिणाम स्वरुप मुआवजे के रूप में हासिल किया था, उस आरक्षण के होते हुए वे अमीर के अमीर बने हुए हैं। वे आज भी यह मानते हैं कि आरक्षण के कारण ही उनके बच्चे नौकरी से वंचित हो रहे हैं और देश का विकास रुका हुआ है। हालाँकि सच कुछ और ही है। आरक्षण कोई आर्थिक तरक्की का नजरिया नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य सामाजिक भागीदारी था। दलित वंचित पिछड़ी जातियों के लोग और महिलाओं की जितनी समावेशी भागीदारी होगी यह लोकतंत्र उतना ही समुन्नत होगा, लेकिन आरक्षण लागू होने के कुछ वर्षों बाद ही तथाकथित संभ्रांत तबके के लोग इस बात पर आपत्ति दर्ज करने लगे कि आखिर जाति पर आधारित आरक्षण क्यों दिया जा रहा है?

आजादी का सपना देश के हर नागरिक का यूटोपिया था। आजादी के पहले दलित समाज के लोगों के लिए पढ़ने का अवसर नहीं था। अंग्रेजों के आने से शिक्षा में उन्हें थोड़ा अधिकार मिला। आजादी मिली लेकिन दलितों के लिए वह मात्र सत्ता का हस्तांतरण मात्र बनकर रह गई। दो तरह की शिक्षा नीति बनाई गईं। एक तो इस बात पर आधारित थी कि इतिहास में जो वर्ग शिक्षा से वंचित रहे हैं उन्हें आरक्षण के माध्यम से मुख्यधारा में आने का अवसर दिया जाए। इसे उनकी जनसंख्या के आधार पर तय किया गया। इसके साथ ही उन्हें छात्रवृत्ति, किताबें और अन्य तरह की आर्थिक मदद देने का संकल्प कई सरकारों ने लिया। उनके लिए हास्टल बनाये गए, उनका ड्रापआउट कम हो इसका ख्याल रखा गया पर स्थिति फिर वही ढ़ाक के तीन पात वाली रही।

'वर्णवाद का पहाड़ा' जयप्रकाश कर्दम की एक दूसरी महत्वपूर्ण कविता है। कवि लिखता है :

मास्टर जी !/हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने/हमें पढ़ाया/जाहिल से आदमी बनाया/एक पूरी उम्र तुमने हमको पढ़ाने में लगाई/एक नहीं दो नहीं हमारे गांव की तीन पीढ़ियां तुमने पढ़ाई/ पढ़ाई-लिखाई के अलावा दुनियादारी की बहुत सी बातें भी तुमने सिखाई/मास्टर जी! तुम नहीं जानते/तुम्हारे लिए हमारे मन में कितनी श्रद्धा थी/ कितना सम्मान था/तुम हमारे कितने 'बड़े' थे/तुम्हारी सेवा को हम अपना धर्म समझते/ 'मास्टर जी का काम कौन पहले करेगा'/इस बात पर हम आपस में झगड़ते/तुम्हारे कहने भर की देर होती/ हम खुशी-खुशी तुम्हारा हुक्का मांजते/ तुम्हें चिलम भर कर देते

(वर्णवाद का पहाड़ा, गूंगा नही था मैं, पृष्ठ 23-25)

कई कानून होने के बावजूद दलित बच्चों की शिक्षा में समुचित भागीदारी नहीं हो पा रही है। दलित बच्चों को विद्यालय छोड़कर घरेलू कार्यों में संलग्न होना पड़ता है। स्कूल का दूर होना, यातायात की अनुपलब्धता, घरेलू काम, छोटे भाई-बहनों की देखरेख, आर्थिक व विभिन्न सामाजिक समस्याएं आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जो शिक्षा की राह में बाधा हैं। शौचालय की कमी, कमरे की कमी, टीएलएम की कमी, कौशल से युक्त शिक्षक की कमी, पानी की कमी के बावजूद दलित स्कूल जाना चाहते हैं। स्कूलों के अंदर छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयां दूर हो सकें और सभी परिवार बिना किसी भय व संकोच के अपने घर की बच्चों को स्कूल भेज सकें। ग्रामीण इलाकों में चल रहे स्कूलों में अधोसंरचना एवं संसाधनों की कमी है। अधिकतर सरकारी विद्यालयों में मात्र एक पूर्णकालिक योग्य शिक्षक है। अन्य सुविधाएं जैसे पृथक शौचालय, चहारदीवारी, कक्षा भवन आदि की कमी है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली निर्धनता उनकी शिक्षा एवं कौशल विकास के लिए सबसे बड़ा अवरोध है।

यह कविता वर्णवाद की शिक्षा से उपजी जातिवादी समाज में शिक्षक की भूमिका को रेखांकित करती है। जो परम्परा में घृणा हम प्राप्त करते हैं उसे पढ़ने लिखने के बावजूद भी हम चाहकर भी अलग नहीं कर पाते। यह कविता बाल मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण कविता है जो किसी भी भारतीय का दिल छलनी करने का माद्दा रखती है।

तुम्हारे लोटे में/पानी भरने को भी हम लालायित रहते/किंतु तुमने पानी पीने के/अपने पीतल के लोटे को/हमारा हाथ कभी नहीं लगने दिया/लोटे में पानी सदैव सवर्ण छात्रों से ही भरवाया/मास्टर जी ! हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने हमें पढ़ाया/ प्रगति का रास्ता दिखाया/लेकिन समता के मार्ग पर तुम/खुद नहीं चल पाए/ हमने रखा तुम्हें/ वर्ण और जाति से ऊपर नहीं उठ पाए तुम अपनी/जाति अहमन्यता की संकीर्णता से/तुमने सुनाई हमें/प्रेम की कहानियां/सिखाया भाईचारे का सबक/जगाए तुमने राष्ट्रीयता के भाव भी/हमारे भीतर/लेकिन, नहीं चूक पाए तुम/पढ़ाने से/वर्णवाद का पहाड़ा

(वर्णवाद का पहाड़ा, गूंगा नही था मैं, पृष्ठ 23-25)

जयप्रकाश कर्दम अपनी इस कविता में भारतीय समाज के अंतर्द्वंद को रेखांकित करते हैं। जिसमें एक पढ़ा लिखा व्यक्ति भी कैसे वर्ण और जाति के फेरे में फंसा हुआ रहता है। शिक्षण के पेशे को अमूमन जाति और धर्म से निरपेक्ष माना जाता रहा है। लेकिन जयप्रकाश कर्दम इस बात को अपनी कविता में सवर्ण समाज की सोच को झुठलाते हैं। भारतीय शिक्षक अपने दलित छात्रों के साथ भेदभाव का व्यवहार करता है यह जग जाहिर है। एक मासूम के मन पर इस तरह के वर्णवाद का पहाड़ा कितना घातक असर करता है इस कविता की संवेदना में ठीक से देख समझ नही सकता। इस पीड़ा को समझने के लिए एक दलित का हृदय ही आवश्यक है। वही सच्चे अर्थों में इसका साधारणीकरण कर सकता है।

आत्मकथा 'जूठन' के प्रकरण में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने मास्टरों के बारे में इसी तरह का वितान हम पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। लगभग सभी दलित कवियों, कथाकारों ने उपन्यासकारों, ने अपने साथ हुए हिंसक व्यवहारों को अपनी रचनाओं में तरजीह दी है। जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता में इसी वर्ण के पहाड़े को हम पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

'बेमानी है आजादी' जयप्रकाश कर्दम की एक दूसरी कविता है जो लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के चलते आजादी जैसे दुनिया के सबसे सुन्दर शब्द के होने पर सवाल उठाता है। कवि के ही शब्दों में ही हम देखते हैं यह बानगी :

नहीं निकल सकता जो आज भी/पहनकर नए कपड़े/कितने ही गांव में/नहीं निकल सकती जिनकी घोड़ी पर बारात/जूझता है जो पेट जिसकी क्षुधा से/ रात-दिन कमाकर भी/ विवश है काटने को कभी-कभी/फाके की रात/नहीं बैठ सकता जो आज भी/सवर्णों के सामने खाट पर/ नहीं कर सकता मुंह उठाकर बात/साठ साल का बूढ़ा भी/दुधमुहे बच्चे तक को मिमीयाकर कहता है बाप/बंधुआ

है जो आज भी/खेत, भट्ठों और खानों में/नहीं कर सकता/अपनी इच्छा और पसंद का काम/छोटे से कर्ज के बदले लिख देता है/कई पीढ़ियों की जिंदगी/साहूकार के नाम/

(बेमानी है आजादी, गूंगा नहीं था मैं, पृष्ठ 30)

दैहिक आजादी तो कब की मिल चुकी थी, बात मानसिक आजादी की थी। लेकिन यह आवाज अब धीमी पड़ती जा रही है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी अगर जयप्रकाश कर्दम को यह कविता 'बेमानी है आजादी' लिखनी पड़ रही है तो कहीं ना कहीं यह किसी गहरे निहितार्थ की तरफ इशारा है। हमारे लोकतंत्र में चूक अवश्य हुई है। वैसे तो हमारे लोकतंत्र को सत्तर वर्षों का दीर्घ समय भी मिला है। लेकिन आज भी आम आदमी को दैनिक जीवन की सहूलियत नहीं मिल पा रही है। बाबा साहब भीमराव अंबेडकर जैसे महान व्यक्तित्व को अंग्रेजों के रहते वर्णवादियों से पानी के लिए आंदोलन करना पड़ा। इसिहास इसका गवाह है। मंदिर जैसी निकृष्ट जगह में प्रवेश के लिए उनका लंबा संघर्ष चला। क्योंकि यह आम आदमी के भागीदारी का सवाल था। वह मनुष्य को मनुष्य का दर्जा दिलाने के लिए संघर्ष करते रहे।

गांव की पंचायत है जिसकी सुप्रीम कोर्ट/सिपाही, अमीन और पटवारी हैं/जिसकी सरकार/जी रहा स्वराज्य में भी/गुलामों सी जिंदगी/झेल रहा है हिंसा और/वर्जनावो के प्रहार/ पिलाकर दारू/थमा कर दस-पांच रूपये/ या दिखाकर बंदूक का भय/ नहीं फटकने दिया जाता जिसे/पोलिंग बूथ तक/नहीं देखा जिसने आज तक मतपत्र/नहीं दिया कभी मतदान/ निषिद्ध है जिसके लिए शासन और सत्ता के प्रतिष्ठान/बीमारी नहीं उसके लिए/आजादी और लोकतंत्र की बातें/व्यर्थ हैं संसद और संविधान/नहीं चाहिए उसे/नीति और धर्म की शिक्षा/नहीं चाहिए अध्यात्मिका ज्ञान उसे/ उसे चाहिए रोटी और सम्मान

(बेमानी है आजादी, गूंगा नहीं था मैं, पृष्ठ 30-31)

बाबा साहब अंबेडकर का यह संघर्ष एक समय बाद बहुत सारे लोगों की आवाज बना। लेकिन आजादी के बाद भी जो ग्रामीण परिवेश है, जो शहरी व्यवस्थाएं हैं, जो संपत्ति और साहित्य, संस्कृति की भागीदारी है उसमें भी दलितों वंचितों को उसका हिस्सा नहीं मिल पाया और यह आजादी बेमानी ही रही। इस बेमानी आजादी में आम आदमी आज भी संकटग्रस्त है। 'गूंगा नहीं था मैं' जयप्रकाश कर्दम की सिग्नेचर कविता है। अपनी कविता में जयप्रकाश कर्दम भारतीय जनता की पीड़ा को निर्ममता के साथ उघाड़कर सामने ला देते हैं :

इसलिए, जब किसी बात पर बेटे को/मूँछ पर तान गुर्राते देखता हूँ/मुझे गुस्सा आता है/साथ ही साथ डर भी लगता है/क्योंकि गुर्राने का सीधा-सपाट अर्थ/बग़ावत है/और बग़ावत/महाजन की रखैल नहीं/ जिसे जी चाहा नाम दे दो-रंग दे दो/और न ही हथेली पर पुआ/ जिसे, मुँह खोलो-गप्प खा लो।

(मुझे गुस्सा आता है, सुनो ब्राह्मण-पृष्ठ 71-72)

जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता में लिखते हैं :

'गूंगा नहीं था मैं/कि बोल नहीं सकता था/जब मेरे स्कूल के मुझसे कई क्लास छोटे/बेढंगे से एक जाट के लड़के ने/मुझसे कहा था/अरे ओ मोरिया ! ज्यादे बिगड़े मत/कमीज कूं पेंट में दबाकर मत चल/ और मैंने चुपचाप अपनी कमीज पेंट से बाहर निकाल ली थी/गूंगा नहीं था मैं/न अक्षम, अपाहिज या जड़ था/ कि प्रतिवाद नहीं कर सकता था/उस लड़के के इस/अपमानजनक व्यवहार का लेकिन अगर मैं बोल जाता/जातीय अहम् का सिंहासन डोल जाता/सवर्ण छात्रों में जंगल की आग की तरह/यह बात फैल जाती/ढेढ़ों का दिमाग चढ गया है/ मिसल गढ़ी का एक चमार का लड़का/काजीपुरा के एक जाट के छोरे से अड़ गया है/आपसी मतभेदों को भुलाकर/तुरत-फुरत स्कूल के सारे सवर्ण छात्र/गोलबंद हो जाते और/ खेल अध्यापक से हांकिया ले लेकर/ दलित छात्रों पर हल्ला बोल देते/इस हमले में कई दलित छात्रों के हाथ पैर टूटते कईयों के सिर फूट जाते/ और फिर/ स्कूल परिसर के अंदर झगड़ा करने के जुर्म में/हम ही स्कूल से' रेस्टीकेट' कर दिए जाते।

'लाठी' जयप्रकाश कर्दम की नास्टेल्जिक कविता है। लाठी जहाँ स्वरक्षा का उपाय है वहीं पर दमन का साधन भी है। यह निर्भर करता है कौन इसका किस निहितार्थ के लिए प्रयोग करता है। जो लाठी सदियों ने दलितों वंचितों की जानवरों से रक्षा करती रही आखिर वही लाठी मनुष्य रूपी जानकार के आगे क्यों नहीं उठी। अगर यह लाठी प्रतिक्रिया में उठी होती तो जयप्रकाश कर्दम को यह कविता लिखने की जरूरत नहीं पड़ती। जानवरों को जानवरों की भाषा ही पसंद आती है। पर जयप्रकाश कर्दम जानते हैं कि हिंसा कभी भी उनकी प्राथमिकता नहीं रही। कर्दम अपनी कविता में लिखते हैं कि :

पानी का वार हमारा था/लेकिन मढैया का वदनी जाट/काट ले गया था पानी जबरन/अपने खेत में/ प्रतिकार

किया था मेरे पिता ने/तो उनकी कमर पर पड़ी थी लाठी/बहुत दिन तक/उस लाठी की चोट से/मेरे पिता और परिवार की/कमर दुखती रही/ विवशता की कील रह-रहकर/ कलेजों में चुभती रही/जब जब भी पुरवाई हवा चलती/मेरे पिता की कमर दर्द करती/वह आक्रोष से कसमसाते/पर सांप का फन मार कर रह जाते/दबाव के चलते/पुलिया के पास वाला वह खेत बिक गया/और पिताजी भी मरते मर गए/पर मरते दम तक/ उनकी कमर से उस लाठी का दर्द नहीं गया/पिताजी को मरे अब बीस बरस हो गए हैं/इस बीस वर्षों में जिंदगी को मिले बहुत से जख्म भी भर गए हैं/पर आज भी/जब जब पुरवाई चलती है/मेरे पिताजी की कमर में लगी वदनी जाट की वह लाठी/मेरे सीने में कसकती है।

(लाठी, गूंगा नहीं था मैं, पृष्ठ 54)

यहां पर जयप्रकाश कर्दम लाठी के माध्यम से उस वेदना को प्रकट करते हैं जो दलितों की पीठ पर सदियों से पड़ती आई है और वह पीढ़ी दर पीढ़ी उस लाठी के दर्द को अपनी पीढ़ियों की पीठ पर लगता देखता रहता है। कवि स्वयं से पूछता है कि आखिर वह इसका प्रतिकार क्यों नहीं कर पाता है?

'आज का रैदास' रैदास को याद करती उनकी स्मृति को आधुनिक रैदास से तुलना करती यह बेहतरीन कविता है। यह कविता जाति और पेशे के अटल सम्बन्ध को पाठकों के सम्मुख रखती है। मध्यकाल के रैदास पर तो लाखों बंदिशें थी पर क्या तथाकथित स्वतंत्रता प्राप्ति के युग में रैदास की स्थिति पर कोई फर्क पड़ा है? जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता में लिखते हैं कि :

'शहर में कॉलोनी/कॉलोनी में पार्क/पार्क के कोने पर/ सड़क के किनारे/जूती गाँठता रैदास/पास में बैठा है उसका आठ वर्ष का बेटा पूषन/ फटे पुराने कपड़ों में लिपटा/उसके कुल का भूषण/चाहता है वह खूब पढ़ना/पढ़ लिख कर आगे बढ़ना/लेकिन लील रही है/उसे दरिद्र और दीनता घर करती जा रही है/उसके अंदर हीनता/यूँ उसका नाम सरकारी स्कूल में दर्ज है/लेकिन वहां का भी/ क्या कम खर्च है/कभी किताब का भी कापी/ कभी कपड़ों के अभाव में/नहीं रह पाता पूषन प्रायः स्कूल/आ बैठता है यहां/ अपने पिता के पास/टाट की छांव में/ यहीं पर आकर रूकती हैं/कई पब्लिक स्कूल की बसें...

अपनी इस कविता में जयप्रकाश कर्दम आज के रैदास का चित्रण करते हैं। रैदास की जो परिस्थितियां मध्यकाल में थी आधुनिक काल में भी परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं आ पाया है। वह पीढ़ी दर पीढ़ी जूता ही गाँठ रहा है और जूता गाँठते हुए वह सामाजिक विडंबनाओं को झेल रहा है। तेज धूप और गर्मी में उसके मन मस्तिष्क में छलनी कर देने वाले भाव और विचार आते हैं। लाचारी और बेबसी के शूल उनकी आंखों में हमेशा चिपके रहते हैं। अभाव और उत्पीड़न की एक टीस उनके मन में हमेशा रहती है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ सा कभी हंसते खिलखिलाते स्वयं को नहीं देख पाता है। वह देखता है कि सामंतों के बच्चों पीठ पर चमड़े का बैग टंगा हुआ है, उसके जूते पॉलिश हैं। वह बेटे को देखता है और अपनी बेबसी लाचारी को कोसता है। ग्लानि और क्षोभ में भरकर व्यवस्था के जूते में आक्रोश की कील ठोक देता है।

कविता की सारी परिभाषाएं हमेशा कविता से छोटी होती हैं। हर कवि अपनी वैचारिकी के साथ कविता का वितान रचता है। कविता को कुछ तबके सदियों से वैचारिकी का टूल मानकर सौंदर्यबोध और आनंद की वस्तु मानते हैं। वे कविता में एक अच्छे किंतु संवेदनहीन इंजीनियर होते हैं। उनकी कविता में सब होता है पर कविता से वास्तविक मनुष्य दूर होता चला जाता है। वंचित समुदायों से आने वाले लेखक इसी मनुष्य के पक्ष में लिखते हुए उसी अंतिम मनुष्य को बचाने की बात करते हैं। कवि अपनी कविता में लिखता है :

आदमी और कविता/क्यों नहीं चलते साथ-साथ/आदमी और कविता जहां कविता है वहां आदमी नहीं है/जहां आदमी है वहां नहीं है कविता/दोनों के बीच बनी रहती है दूरी/कब तक खड़े रहेंगे अवरोध बनकर/कविता और आदमी के बीच/भारी-भारी सिद्धांत, विचार और शब्द/बनाते रहेंगे शुष्क और संवेदनहीन आदमी को/कहीं तो कोई जगह हो/वादों, विवादों की इस दुनियां में/जहां एक आदमी कर सके संवाद/दूसरे आदमी से/समझें वे एक-दूसरे की संवेदना बाटें एक-दूसरे का दर्द/वर्ण, जाति और सम्प्रदाय से ऊपर उठ/केवल आदमी बनकर/मनुष्यता के आवेग और/संवेदना के संवेग से अलग और क्या है कविता /फिर क्यों नहीं जुड़ते परस्पर/कविता और आदमी/आदमी और कविता?

जयप्रकाश कर्दम ने व्यंग्य भरी व्यंजनापरक कवितायें भी लिखी हैं। सच को सच की तरह बोलने के बहुत सारे खतरे हैं। कोई भी रचनाकार इस तरह के खतरे लेता है। वह एक ऐसे भारत की कल्पना करता है जहाँ पर सब सुखी, समृद्ध, न्यायप्रिय और समता, बंधुता और बराबरी का साथ देने वाले हों पर कवि की कल्पना कभी भी पूरी नहीं हो पाती। कवि जानता है कि कविता में वर्णित सारी

चीजें मनुवादी व्यवस्था में संभव है। कवि के सपनों से उलट वर्चस्ववादी लोग एक ऐसी दुनिया बनाते हैं जो अपनी कविता में कवि वर्णित कर रहा है :

आओ, नया भारत बनाएं/ऐसा भारत जहां बेकारी हो/भुखमरी हो, लाचारी हो/ऊंच-नीच और छुआछात की बीमारी हो/जहां भ्रष्टाचार का साम्राज्य हो/ईमानदारी और नैतिकता त्याज्य हो/इंसानियत की निर्मम हत्या/हैवानियत का नंगा नाच हो/जहां सच बोलना जुर्म हो/न्याय की कोताही हो अभिव्यक्ति की आजादी न हो /सोचने की मनाही हो/जहां बुद्धिजीवी सत्ता के गुलाम हों.../ अंतरजातीय विवाह करने वालों को /फांसी परा लटकाया जाए/अस्पृश्यता और विभेद/हमारे जीवन का मूल मंत्र हो।

मनुष्य ने अपना भौतिक विकास तो किया है और आर्थिक उन्नति के रास्ते पर भी उसने कदम बढ़ाए हैं। लेकिन इससे कहीं न कहीं मनुष्यता प्रभावित हो रही है। रिश्तों में उस तरह की बॉन्डिंग नहीं रह गई है जैसे पहले के समय में हुआ करती थी। कवि जीवन की संभाव्य चीजों को अपनी रचना का विषय बनाता है। जाति, धर्म, मजहब, में फंसा हुआ इंसान जानवर से भी बदतर जिन्दगी जीने को मजबूर हो रहा है। यहाँ जातियां है और जातियों का वर्चस्व है, अगर गायब हो रही है तो वह है मनुष्यता :

सुना है अब वहां पर रात होती नहीं है/लड़ाई रौशनी से कभी होती नहीं है इस तरह शांति है अहिंसा की गली में/किसी की अब किसी से बात होती नहीं है खड़ी थीं कल तलक जो हवेली की बगल में/कोई भी झोंपड़ी अब वहां होती नहीं है कुलबुलाने लगे थे जो मुर्दे कल यहां पर/कोई हलचल अब उनमें कहीं होती नहीं है बात की बात में जो बात होती कभी थी/बात की बात में अब बात होती नहीं है जाति के जंगलों में आग ऐसी लगी है/आदमी नाम की अब जाति होती नहीं है।

दलित कवियों के यहाँ भौतिक प्रेम के वे रूप दिखाई नहीं देते जो गैर दलित रचनाकारों में दिखाई देता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि प्रेम और भ्रातित्व जैसी भावना दलितों के यहाँ कम है। इस तरह की कवितायें बहुत कम हाईलाईट हो पायी इसका कारण था कि सवर्ण आलोचक दलित कविताओं को सिर्फ आक्रोश तक सीमित कर देना चाहते थे। भाव और शिल्प से ओतप्रोत उद्दात्त भावचित्र की यह कविता जयप्रकाश कर्दम के कोमल व्यक्तित्व का निदर्शन भी करती है। कविता द्रष्टव्य है :

आज तलक यादों के फेरे कभी हुए ना बैरी मेरे /डूब चला यौवन का सूरज कब तक इंतजार करूं मैं। कितनी बार सजाए वंदन कितनी बार भुलाए बंधन/तेरे आने की आहट सी होती कितनी बार चिरंतन संदेशा तेरा ले-लेकर आती है जब-जब पुरवाई/उमड़ पड़े अखियों का सागर कैसे प्रतिकार करूं मैं।

रिटायरमेंट के बाद भी कवि की सक्रियता कहीं कम नहीं हुई है। वे आज भी उन युवा पीढ़ियों के प्रेरणास्रोत हैं जिन्होंने दलित साहित्य के लिए अपना जीवन समर्पित किया है। हाशिये पर कहा जाने वाला लेखन अब मुख्यधारा का लेखन बन चुका है तो उसमें जयप्रकाश कर्दम जैसे पहली पीढ़ी के लेखकों का योगदान है जो अपनी नयी पीढ़ियों से लगातार संवादी हैं।

डा. कर्मानंद आर्य
सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग, बिहार
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बिहार

पारंपरिक चेतना के चितेरे : नागबोडस

–प्रो. कुसुमलता मलिक

नागबोडस स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी नाटककारों में विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक को लोक भाषा से जोड़ने का सराहनीय प्रयास किया है। यह लोक उनका अपना देखा-भाला तथा अनुभव से गुजरा हुआ है। इसलिए इसमें प्रामाणिकता की भी पूरी संभावना है। हम जानते हैं कि यह प्रामाणिकता हिन्दी जगत में किस प्रकार अलग-अलग विमर्शों की उत्स रही है।

ग्रामीण परिवेश, लोकोक्तियों, मुहावरों, दृष्टांतों तथा कहावतों से समृद्ध लोक भाषा, अधपढ़े, अनपढ़े लोगों की मानसिक बनावट व बुनावट, स्त्री-पुरुष संबंधों की गहराई तथा विच्छेद के कारणों को बड़े ही मनोयोग के साथ प्रस्तुत करने में नागबोडस को महारत हासिल है। उन्होंने अपनी अधिकांशतः नाट्य कृतियों में इन्हीं विषयों को आधार बनाया है। शहरी निम्नवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग जो प्रायः गरीबी और बदहाली की स्थिति में गुजर-बसर करता है और ग्रामीण परिवेश को भी अपने आसपास बनाए रखता है, उस पर नागबोडस अच्छी पकड़ रखते हैं।

इनके नाटक 'खबसूरत बहू', 'कृति विकृति', 'नर-नारी', 'अम्मा तुझे सलाम' इसका प्रमाण हैं। 'खबसूरत बहू' तथा 'नर-नारी' हिन्दी प्रेक्षक समाज में अत्यंत लोकप्रियता को प्राप्त कर सके हैं। 'अम्मा तुझे सलाम' ने 'अस्मिता' जैसे नाट्य समूह के प्रदर्शनों के माध्यम से काफी लोकप्रियता हासिल की है।ततपश्चात 'अम्मा तुझे सलाम' पदबंध संगीतकार रहमान ने फ़िल्म संगीत में प्रयुक्त किया जिसने खासी लोकप्रियता हासिल की इन नाटकों की लोकप्रियता का आधार विषय वस्तु तथा रंग शिल्प का संयोजन ही नहीं रहा, वरन् गीत-संगीत-नृत्य, सहज-सरल भाषा व शैली, रोचक एवं मनोरंजक स्थितियाँ रंग कर्म की सादगी भी है। जिसके कारण इन नाटकों के मंचन में निर्देशकों को विशेष कठिनाई नहीं होती और न ही विशेष भौतिक सामग्री की आवश्यकता ही पड़ती है। खबसूरत बहू 1992 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंग मंडल द्वारा प्रस्तुत इस नाटक के अनेक प्रदर्शन हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में किए गए। यह नाटक 18 दृश्यबंधों में बंधा है। कथा बाल विधवा चाची तथा उसके भतीजे हरि के वात्सल्यपूर्ण संबंधों पर आधारित है। चाची चाहती है कि वह हरि के लिए गाँव की बहुओं से अधिक सुन्दर खूबसूरत बहू लेकर आए। संयोगवश ऐसा हो भी जाता है। चाची की पड़ोसन आगरे वाली की नजर हरि की सम्पत्ति तथा एकछत्र आधिपत्य पर थी। वह चाची से अपने मामा की बेटी के संबंध की

सिफारिश करती है। चाची लड़की को देखकर हामी भर देती है। ग्रामीण परिवेश में विवाह सम्पन्न होता है। अब सारी कथा इसी खूबसूरत बहू के इर्द-गिर्द घूमती है।

यह 'खबसूरत बहू' 15-16 वर्षीया सुमन नामक युवती है, जिसने 8वीं कक्षा तक पढ़ाई की है। अनपढ़ महिलाओं की भीड़ में यह अधपड़ बहू अपने शारीरिक सौन्दर्य तथा टूटी-फूटी अंग्रेजी के कुछ शब्दों के माध्यम से अंधों में काना राजा' के समान सिद्ध होती है। गाँव के दो-चार लफंगे आवारा किस्म के युवक सदा ऐसी युवतियों की फिराक में रहते हैं। किन्तु सुमन उनसे अपनी फिल्मी साहसिकता के बल पर सदैव स्वयं को बचाती है। गाँव की स्त्रियों को आपसी ईर्ष्या, द्वेष तथा प्रतिशोध की भावना को भी लेखक ने बहुत ही सूक्ष्मता से चित्रित किया है। साथ-साथ बाल विधवा चाची की मानसिक डाह तथा भोलेपन की कथा भी निरंतर चलती है।

चाची सुमन को इतना अधिक प्यार करती है कि दिन-रात अपने से चिपकाए रखती है। हरि वैवाहिक जीवन का सुख भोगने के लिए तरसता रहता है, किन्तु चाची से कुछ भी कह नहीं पाता। अंततः सुमन की बहन आगरे वाली चाची को भला-बुरा कहती है। चाची को अपनी गलती का अहसास होता है। अतः कहानी का सुखद अंत होता है।

18 दृश्यबंधों में स्यूत यह कथा यथार्थवादी सैट व पारंपरिक सैट दोनों ही पर सफलतापूर्वक मंचित की जा सकती है। सूत्रधार तथा कोरस की योजनाएं पारंपरिक चेतना के अनुरूप हैं। जिसके कारण यह नाटक एक सफल संगीत फॉर्म बन सका है। गीतों की योजना ने कहीं-कहीं पर नाट्यानुभूति को सीधे संप्रेषित करने में मदद की है। उदाहरण के तौर पर :

आगरे बारी ने खबरी करायो मेरे भाई!
आगरे बारी ने खबरी करायो !!

इसके विपरीत इस नाटक में कुछ सरस लोक गीत भी विद्यमान हैं जो सहज ही मन को छू लेते हैं। हालांकि उनकी संख्या अत्यल्प है। उदाहरणार्थ :

गौरी! घूमने न जाओ दुपहरिया में,
वहाँ छेड़ेंगे लोग बजरिया में।
जोबन कैसे नार छिपावेगी,
तेरे पीछे पड़ो लंगूरिया रे!

इस नाटक के संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व नाट्य भाषा है। ग्वालियर के आसपास प्रचलित बुंदेली तथा ब्रज के मिश्रण से बनी लोक बोली में लिखा यह नाटक हिन्दी बोलियों में निहित नाटकीयता को खोलता है। 'द टाइम्स ऑफ इंडिया (12-05-1992) की नाट्य समीक्षा में सजग रंग समीक्षक नेमिचन्द्र जैन ने लिखा था ''शहरों में बसे हिन्दी के नाटककार अपने नाटकों में आमतौर पर किसी बोली का प्रयोग करने से कतराते हैं जिस कारण हिन्दी में केवल बोली में ही लिखी गई पांडुलिपियाँ नगण्य हैं। 'खबसूरत बहु' इस दृष्टि से इस दिशा में एक स्वागत योग्य कदम है।''

दरअसल यह नाटक मनोरंजन की ओर अधिक झुका हुआ है। नाट्य वस्तु में सामाजिक सरोकार की व्यापकता न होने के कारण इसे हिन्दी रंगमंच का कोई श्रेष्ठ नाटक नहीं कह सकते तथापि अपने कुछ लोक प्रयोगों के कारण यह पारंपरिक चेतना की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

नाटककार ने बुंदेलखंडी तथा ब्रज के मिश्रित भाषिक रूप का प्रयोग तो किया है लेकिन यह रंगभाषा किसी सशक्त जीवंत रंगानुभूति को झंकृत नहीं कर सकी, बहुत से दृश्य नाटक में ऐसे हैं जो नाट्य-संयोजन में व्यर्थ प्रतीत होते हैं, और जिनसे कहानी का फिल्मीकरण किया हुआ-सा प्रतीत होता है। न तो ये दृश्य किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं और न ही इनसे कोई स्वस्थ मनोरंजन ही होता है। रतीला, चम्पतिया, अमरसिंह, गल्लू इत्यादि पात्रों द्वारा तीसरे दृश्य में बेवजह की नाटकीयता को विस्तार दिया गया है। जिसका मूल कथा विकास से किसी भी दृष्टि से कोई संबंध नहीं है।

संभवतः नागबोडस जी ने इस नाटक को लोक भाषा के प्रयोग हेतु ही लिखा है ऐसा प्रतीत होता है विशेष तौर पर हम यह भी कह सकते हैं कि इसकी नाट्य योजना, रंगमंचीय विधान सादा व सरल है। अतः इसे सरलता से मंचित भी किया जा सकता है। फिर भी नाटककार से जिस सामाजिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा रहती है उसका इसमें अभाव है। 'नर-नारी' -खबसूरत बहू' के सफल प्रस्तुतिकरण के 3 वर्षों के उपरान्त 1995 में नागबोडस का अगला नाटक रा.ना.वि. द्वारा मंचित किया गया। इस प्रस्तुतिकरण को 'थैंकू बाबा लोचनदास' नाम दिया गया था। नौटंकी शैली में प्रस्तुत यह नाटक कई सफल प्रदर्शन दे सका। 'सीमोन द बोउआ' की पुस्तक 'द सैकेण्ड सैक्स' की मूल अनुभूति से लेखक इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसी की छानबीन में यह नाटक लिख डाला। नाटककार पर इसके प्रभाव को इस नाट्य कृति में सर्वत्र देखा जा सकता है।

यह नाटक कुल 10 दृश्यों में निबद्ध है। शायद ही

कोई दृश्य हो जिसमें नर-नारी संबंधों को लेकर किसी पात्र के मुँह से कुछ विशेष सुनाई न पड़े।उदाहरण के तौर पर देखिए :

दिलावरी :

आदमी कहाँ तक—और लहंगा कहाँ से?
आदमी में औरत! और औरत में आदमी।
मैं मच्छर नहीं, मच्छर का अंडा, पर
मेरे सवाल ऐरावत जैसे।

गुल्लो :

देखो कैसे आराम से मुझे छोड़ गया मेरा आदमी!
मेरा खसम मगर यह आदमी की जात ही हरामी।

कान्ता :

औरत का भेस रखना बहुत-बहुत मुश्किल काम है।

व्यक्ति-3 :

औरत को तो मगर अपनी मर्यादा में रहना चाहिए।

कांतिलाल :

जब मैं बनता हूँ एक औरत, तब अपने अंदर के आदमी को साबित करता हूँ पूरा झूठा ! और जब रहता हूँ आदमी तो अपने अंदर की औरत को तुममें देखने की कोशिश करता हूँ।

इन उदाहरणों के आधार पर 'सीमोन द बोउआ' के प्रभाव तथा प्रभावजनित रचनात्मक लेखन को देखा जा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस नाटक का कथ्य (रंगानुभूति) औरत और आदमी के अंदरूनी स्वभावगत फर्क को चित्रित करती है।

नर-नारी के अबूझ रहस्य सुलझाने के रोचक प्रयास के रूप में यह नाटक नाट्यानुभूति की दृष्टि से अत्यंत गंभीर बन गया है। अपनी इसी विषय-वस्तु के कारण यह नाट्य - जगत में काफी चर्चित हुआ । नागबोडस के पिछले दोनों (खबसूरत बहू , कृति विकृति) नाटकों की अपेक्षा 'नर-नारी' कथा एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ नाटक है।

यह नाटक (नर-नारी) अत्यंत तीव्रगति से चलता है। इस नाटक में नौटंकी शैलीबद्ध जीवंत दृश्य प्रवाह का आद्यंत निर्वाह करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। नौटंकी शैली की छन्द वैधानिक त्रुटियाँ इसमें प्रायः नहीं हैं। नाटक के मंचविधान में प्रयुक्त गीत-संगीत एवं नृत्य प्रभावशाली ही नहीं हैं, वरन् कथा को विकास देने वाले घटनाक्रम पर टिप्पणी करने वाले भी हैं। उनका गुथाव कथा के साथ बहुत कौशल से किया गया है।

किन्तु नाटककार नागबोडस द्वारा अपने पिछले नाटकों में की गई त्रुटियाँ लम्बे-लम्बे संवाद, क्रियाशून्य कथाशैली अतिनाटकीयता इस नाटक में भी कुछ स्थलों पर देखने को मिलती है। प्रथम दृश्य में कमला एवं दिलावरी का संवाद कथात्मक है। नाट्यात्मक भाषा जिसमें क्रिया द्वारा कथन की पारदर्शिता निहित होती है. इस संवाद में नहीं है।

दिलावरी के रूप में औरत तथा आदमी के संबंधों को लेकर लंबा व्याख्यान, कांता और दिलावरी, कांता और चमेली के परस्पर संवाद दूसरे तथा तीसरे दृश्य में क्रियाशून्य स्थिति उत्पन्न करते हैं। पाँचवें दृश्य में गुल्लो का लम्बा संवाद भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है इस प्रकार जब गुल्लो अपने विवाह का प्रसंग दिलावरी को सुनाती है तब नाटकीय व्यापार रुक जाता है और कहानीपन का अहसास बढ़ जाता है।

रंग कर्म की गहरी समझ और पकड़ रखनेवाले निर्देशकों के लिए नागबोडस के नाटकों की ये समस्त त्रुटियाँ कोई अपरिहार्य दोष नहीं है। वे नाटक की कहानी में चित्रात्मकता के योग से रचनात्मक प्रयोग कर सकते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि इस नाटक का मंचन असंभव है। मंचन तो रा.ना.वि. बहुत बार कर चुका है। सवाल है नाटक को मंचन की जीवन-प्रक्रिया से जोड़कर आगे ले जाने का। इसके लिए सुधी निर्देशकों को अपनी सोच में लचक पैदा करनी होगी।

'नर-नारी' में नागबोडस जी ने स्त्री-पुरुष संबंधों के रहस्य को खोलने का जो खुला प्रयास किया है उसकी सराहना भी उन्मुक्त भाव से की जानी चाहिए। लेखक ने नारी के शक्ति रूप को बहुत ही क्रांतिकारी, यथार्थोन्मुखी ढंग से चित्रित किया है। नौटंकी की साली साहिबा तथा ग्रामीण गुल्लो दोनों ही स्त्री-पात्र अपने अपने ढंग से पुरुष के पौरुष को धता बताकर यह साबित कर देती हैं कि समय आने पर निर्णय लेने की क्षमता पुरुष की अपेक्षा नारी में कहीं अधिक होती है। इसलिये सुख-सुविधाओं के विरुद्ध भी निर्णय ले सकती है।

अपनी संप्रेषणीयता, नाट्य योजना, काव्यात्मकता, नौटंकी शैलीबद्धता में यह नाटक अत्यंत प्रभावशाली बन पड़ा है। आदमी द्वारा औरत का वेष धारण करने की परंपरा भले ही काल्पनिक प्रतीत हो परन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें अनंत सामाजिक बिन्दु समाहित हैं जो अपना स्पष्ट सामाजिक सरोकार रखते हैं। इन्हीं सामाजिक सरोकारों को उभारने की कोशिश में लिखा यह नाटक सशक्त सामाजिक पकड़ के साथ सामने आता है।

शहरी वातावरण में स्त्री-पुरुष संबंधों को बहुत से यथार्थवादी नाटककारों ने अपने नाट्य लेखन का विषय

बनाया है। मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्शी, मुद्राराक्षस इत्यादि लेखकों के रचनात्मक नाट्य प्रयोगों में शहरी निम्न मध्यवर्ग तथा मध्यवर्ग ही नहीं अपितु उच्च वर्ग के भी स्त्री-पुरुष संबंध अभिव्यक्त हुए हैं, किन्तु ग्रामीण मानसिकता में ग्रामीण परिवेश के भीतर स्त्री-पुरुष संबंधों को चित्रित करने वाला ऐसा अन्य कोई नाटक हिन्दी नाट्य-जगत में प्रायः दृष्टिगत नहीं होता। इस दृष्टि से भी नर-नारी के रूप में रचनाकार का प्रयास महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय है।

अस्मिता नाट्य समूह, दिल्ली ने सबसे पहले नागबोडस के समक्ष अपनी जोरदार प्रस्तुति 'अम्मा तुझे सलाम' श्रीराम सेंटर में प्रदर्शित की। नागबोडस ने इस प्रस्तुति को देखकर कहा था- एक नाटककार जब एक स्क्रिप्ट पर एक नाटक तैयार करता है तब उसके मन में उतने आयाम नहीं खुलते जितने एक निर्देशक के मन में खुलते हैं जब वह किसी नाटक को प्रस्तुत कर रहा होता है। अरविंद जी ने मेरे नाटक में बहुत से नए आयाम खोले हैं। यही इस प्रस्तुति की सफलता है। भिखारी समाज को लेकर मेरे भीतर एक अजीब-सी बैचौनी थी। इस नाटक को लिखकर मुझे कुछ राहत का अनुभव हुआ था। किंतु अरविंद की यह प्रस्तुति देखकर फिर से एक नई बेचैनी अनुभव कर रहा हूँ।शायद यही रंगमंच की चुनौती भेजने वाली अदा है।"

'अम्मा तुझे सलाम' में लेखक ने भिखारी समाज की न केवल बेबसी को चित्रित किया है वरन् उनकी इच्छाओं, आकांक्षाओं, स्वाभिमान, समर्पण, मनुष्यता, पाश्विकता, ओछेपन, दृढ़ता इत्यादि सभी को उभारने की कोशिश की है। अस्मिता ने अपनी प्रस्तुति में भिखारी कोई क्यों बनता है? या समाज किसी को भिखारी बने रहने पर क्यों और कैसे विवश करता है? और धीरे-धीरे कैसे समाज का एक स्वस्थ मानसिकता वाला नागरिक भिखारी की निर्लज धृष्टता को प्राप्त कर लेता है इत्यादि को पूर्णता से उभारा था। अरविंद ने कुछ मुद्दों पर अधिक जोर दिया है।

कल कारखानों में असहनीय स्थितियों में काम करने वाला व्यक्ति यदि दुर्भाग्य से दुर्घटना का शिकार हो जाता है तो कैसे कल कारखाने का मालिक कचरे के समान उसे बाहर निकाल फेंकता है। यह अपने आप में बहुत ही पीड़ादायक स्थिति होती है। अनुत्पादक व्यक्ति रूपी बोझ को परिवार अपने कंधों से बिना किसी सामाजिक झिझक के उतार फेंकता है। किन्हीं संकुचित परिस्थितियों में हाथ, पैर, आँख या कोई अन्य अंग दुर्घटना में खो देने वाले व्यक्ति के पास भिखारी बनने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता।

ऐसा व्यक्ति जब भिखारी समाज में प्रवेश करता है तब उसमें उतना साहस नहीं होता कि वह खुले चौराहों पर भीख मांग सके या पहले से भीख मांग रहे झुंडों का विरोध सह सके। यह प्रक्रिया भी अपने आप में अत्यधिक दर्दनाक और मर्मांतक होती है।

अरविंद के निर्देशन में इस नाटक के सैंकड़ों प्रदर्शन हो चुके हैं। अपने हर अगले प्रदर्शन में अरविंद ने पिछले प्रदर्शन की अपेक्षा कुछ न कुछ नया जोड़ा ही है। इस निरंतर अभिवृद्धि से यह नाटक पूरे सामाजिक ढांचे को बुनियादी कमजोरियों का खाका पेश करने और विचारणीय तथ्यों पर सोचने के लिए मजबूर करने वाला एक समर्थ नाटक बन गया है। अरविंद की सोच दर्पण की तरह है। जिसमें समाज अपने पूरे पूरे सत्य को पकड़ सकता है भले ही वह सोच कितनी ही अमानवीय क्यों न हो।

संदीप श्रीवास्तव की मुख्य भूमिका और सपना खटाना की भिखारिन की भूमिकाएं सदैव सराहनीय रही हैं। इन भूमिकाओं में भी निरंतर अभिनय का एक स्वाभाविक विकास दिखाई देता है। पिछले दस वर्षों में 'अस्मिता' के लगभग हर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम का यह नाटक अनिवार्य सबक रहा है। जिससे इस नाटक की सामाजिक महत्ता पता चलती है।

इस नाटक के बारे में एक बात और उल्लेखनीय है। प्रकाश योजना और संवाद रचना में लगभग हर नई प्रस्तुति में नए तात्कालिक मुद्दे भी मुखरित होते. रहे हैं। 'अस्मिता' ने बेबाकी से अपनी बात मंच पर कही है चाहे उसे सुनने वाले पाँच ही दर्शक क्यों न रहे हों।

यह नाटक हमें सोचने पर विवश करता है कि क्यों हम कभी धर्म, कभी अज्ञानता को अपनी ढाल बनाकर समाज की नई तस्वीर गढ़ने से वंचित रह जाते हैं या डरते हैं या हमारी स्वार्थपरता हम पर हावी हो जाती है। कोई भी कानून तब तक कागजी ही रहेगा जब तक कि समाज के व्यवहार में उसका पालन अनिवार्यतया नहीं होगा।

समाज की मुख्यधारा में बैठे लोगों को हाशिये पर पड़े भिखारीवर्ग के विषय में भी बिना नाक भौंह सिकोड़े सोचना होगा अन्यथा समाज का पूर्ण विकास कदापि संभव न होगा। सरकारी तथा गैर सरकारी योजनाएं व सुविधाएं जब तक समाज के अंतिम व्यक्ति तक न पहुंच जाएं तब तक खुशहाली की बातें करना बेमानी है। 'अम्मा तुझे सलाम' ऐसा ही नाटक है जो समाज को याद दिलाता है कि जिनकी ओर हम देखकर भी नहीं देखते, जिन्हें हम गंदगी और दुर्गंध के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते, वे हमारी ही बीमार मानसिकता के परिणाम हैं। उन्हें मुख्यधारा में लाकर हम अपना ही उपकार करेंगे।

'अस्मिता' ने मंचन में पारंपरिक रूप से रेल की पटरियों के किनारे विकसित होने वाली गंदी भिखारी बस्तियों को भी बहुत ही कौशल से प्रस्तुति में उभारा । अस्मिता के मंचन की यह भी खूबी रही है कि पर्यावरण के मुद्दे भी सहजता से उद्‌भासित हो गए हैं जिनके चलते आज शहरों में सहज जीवन जीना दूभर होता जा रहा है। रंगमंच की दुनिया में इस प्रकार की प्रस्तुतियों की सर्वदा ही जरूरत रहती है। अम्मा तुझे सलाम इस जरूरत की पूर्ति करता है।

संदर्भ ग्रंथ -

- खूबसूरत बहू - नागबोडस
- नर- नारी (नाटक)- नागबोडस
- अम्मा तुझे सलाम - नागबोड़स
- नैमिचन्द जैन का लेख (द टाइम्स ऑफ इंडिया)

प्रो. कुसुमलता मलिक
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

विनोबा का आर्थिक चिन्तन : भूदान आन्दोलन

डा. सीमा रानी
कमल सिंह

सन् 1948 को मार्च के प्रारम्भ में सेवाग्राम के सम्मेलन में विनोबा जी द्वारा 'सर्वोदय-समाज' की स्थापना की गयी। जवाहरलाल जी की इच्छा पर विनोबा दिल्ली गये और पंजाब के गुड़गाँव जिले के मुसलमानों की उन्होंने काफी सेवा की। विनोबा जी पुनः अपने आश्रम पर पवनार पहुँच गये और वहाँ अपने कांचन-मुक्ति-समाज को पैसे की गुलामी से छुड़ाने के प्रयोग में जुट गये। 07 अप्रैल, 1951 में हैदराबाद के शिवरामपल्ली में सर्वोदय सम्मेलन का आयोजन किया गया। उस समय तेलंगाना में साम्यवादी कम्युनिस्टों का आन्दोलन चल रहा था। 18 अप्रैल को वे मोचमपल्ली गाँव में पहुँचे। यह गाँव हरिजनों की ही बस्ती थी। दरिद्रता, भुखमरी और कुपोषण से उनका बुरा हाल था। इनके पहुँचते ही 40 हरिजन-परिवारों ने उन्हें घेर लिया और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें कुछ जमीन मिल जाय, ताकि उस पर मेहनत-मजदूरी करके वे अपना गुजर-बसर कर सकें। विनोबा जी को इतनी शीघ्र इस समस्या के समाधान की आशा न थी, किन्तु रामचन्द्र रेड्डी नामक व्यक्ति के माध्यम से समस्या का हल हो गया था। और उन्हें कार्य आगे बढ़ाने की एक नई दिशा मिल गई थी। लोगों के ध्यान में यह बात भी आ रही है कि जो लोग सबसे ज्यादा पिछड़े हुए हैं, उन्हीं पर हमें सबसे ज्यादा ध्यान देना चाहिए। विनोबा जी को तेलंगाना यात्रा के दौरान समाज के कमजोर तत्वों की सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का प्रत्यक्ष अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ।

प्रस्तावना

भूदान आन्दोलन सन्त विनोबा भावे द्वारा सन् 1951 में आरम्भ किया गया था। यह स्वैच्छिक भूमि सुधार आन्दोलन था। विनोबा जी की कोशिश थी कि भूमि का पुनर्वितरण केवल सरकारी कानूनों के माध्यम से नहीं हो, बल्कि एक

आन्दोलन के जरिए इसकी सफल कोशिश की जाए। उन्होंने तथा उनके साथियों ने यह कठोर व्रत ले लिया कि आश्रम की जमीन में जो भी अनाज पैदा होगा, वही खायेंगे और वहीं की कती-बुनी खादी भी पहनेंगे और श्रम के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का दान नहीं लेगें। 08 मार्च, 1951 को उन्होंने हैदराबाद जाने के लिए पदयात्रा शुरू कर दी। मार्ग में पड़ने वाले गाँवों का दौरा करते, लोगों की समस्याएं सुनते-सुलझाते हुए वे 07 अप्रैल को हैदराबाद के शिवरामपल्ली में पहुँच गये।

यद्यपि विनोबा जी साम्यवाद के ही पक्ष में थे और कम्युनिस्ट भी, तथापि विनोबाजी का साम्यवाद दर्शन पूरी तरह अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित था, जबकि कम्युनिस्ट हथियारों के बल पर साम्यवाद लाने के पक्ष में थे। ''कम्युनिस्टों की तरह हम नहीं मानते कि 'क्रान्ति के लिए हिंसा के साधनों से काम लेना ही चाहिए, हिंसा के सिवा क्रान्ति हो ही नहीं सकती' हमारा विश्वास है कि भारत जैसे देश और लोकतंत्रात्मक राज्य में हिंसक साधनों का अवलम्बन किए बिना केवल बैलेट-बॉक्स के बल पर राज्य-क्रान्ति की जा सकेगी। उसके लिए लोकमत तैयार करने में 20-25 साल लग जाएं तो भी कोई हर्ज नहीं, हम धैर्य के साथ लोकमत तैयार करते रहेंगे।''[1]

सर्वोदय सम्मेलन के पश्चात् विनोबा जी ने इस क्षेत्र में घूमने की इच्छा जाहिर की। यहाँ अपनी सुरक्षा के लिए पुलिस या फौज की मदद लेने से उन्होंने इन्कार कर दिया। 18 अप्रैल को उन्होंने मोचमपल्ली गाँव में प्रवेश किया। यह गाँव हरिजनों की ही बस्ती थी। उनकी दशा बड़ी दयनीय नजर आती थी। इनके पहुँचते ही 40 हरिजन-परिवारों ने उन्हें घेर लिया और उनसे प्रार्थना की कि उन्हें कुछ जमीन मिल जाए, ताकि उस पर मेहनत-मजदूरी करके वे अपना गुजर-बसर कर सकें। विनोबा जी को कुछ सूझ नहीं रहा था कि हरिजनों की यह माँग कैसे पूरी करें ? पहले तो उन्हें लगा कि वे सरकार से ही कहें कि वह इनकी माँग पर विचार करें, पर अचानक और बिना किसी प्रकार की कल्पना के केवल कुतूहल के रूप में उन्होंने अपने श्रोताओं के सामने ही यह सवाल पेश कर दिया और पूछा कि क्या आप लोगों में कोई ऐसा व्यक्ति है, जो हरिजनों की इस जरूरत को पूरी कर सके? उसी समय एक युवक हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और विनोबा जी से विनती करने लगा कि वह एक सौ एकड़ जमीन देना चाहता है। बाबा उसे स्वीकार कर लें। यह देखकर सारे लोग आश्चर्य और आनन्द से स्तब्ध हो गए। विनोबा की आँखों से तो आनन्द के आँसुओं की धारा बहने लग गई। इसमें उन्हें ईश्वर की कृपा का चमत्कार दिखाई दिया। हरिजनों से पूछा गया कि उन्हें कितनी जमीन की जरूरत है। उन्होंने आपस में सलाह करके बताया कि 80 एकड़ जमीन उनके लिए काफी होगी। शाम की प्रार्थना सभा में विनोबा ने भरे हृदय और गद्‌गद् कन्ठ से इस पहले 'भूदान' की घोषणा कर दी। इस प्रकार भारत में 'भूदान' की गंगोत्री का आविर्भाव हुआ।

भूदान यात्रा

तेलंगाना यात्रा के दौरान उन्हें लगभग 12000 एकड़ भूमि दानस्वरूप मिल गई। इस भूमि को उन्होंने एक समिति गठित करके भूमिहीनों को देने का निर्णय किया। भूदान की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए एक बार बिनोवा जी ने कहा था- ''भूदान यज्ञ के द्वारा वातावरण तैयार हो रहा है, लोगों को नैतिक मूल्यों का अनुभव हो रहा है, सामाजिक अन्याय असह्य प्रतीत हो रहा है और उससे मुक्त होने की भावना का निर्माण हो रहा है। लोगों के ध्यान में यह बात भी आ रही है कि जो लोग सबसे ज्यादा पिछड़े हुए हैं, उन्हीं पर हमें सबसे ज्यादा ध्यान देना चाहिए। मैं इसी को प्रजासूय यज्ञ कहता हूँ, इसी को धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से पुकारता हूँ और इसी को मैंने किसान-मजदूरों का राज्य कहा है। इन सब बातों से तुलना करते हुए केवल जमीन का प्रश्न हल करना मुझे विशेष महत्वपूर्ण कार्य नहीं मालूम होता।''[2] उन्होंने आगे कहा ''चालीस साल पहले अपने विद्यार्थी-जीवन में मैं देश की हालत के बारे में पढ़ता रहता था और हमारी गुलामी तथा भयंकर गरीबी का हाल पढ़कर बड़ा दर्द होता था। आज 40 वर्ष बाद भी उसमें कोई अंतर नहीं पड़ा है- बल्कि हालत और भी बिगड़ गई है।''[3]

विनोबा जी ने लोगों का ध्यान भूदान के अतिरिक्त स्वावलम्बन की ओर दिलाते हुए कहा कि ''यह वे अपने गाँवों में ग्रामोद्योग की स्थापना द्वारा ही कर सकते हैं। किसान के पास केवल जमीन हो और कोई ग्रामोद्योग न हो तो काम नहीं चल सकता। किसान अपने-आपको तभी जिन्दा रख सकेंगे, जब वे अपने गाँवों में पैदा होने वाले कच्चे माल से तैयार माल भी बना सकेंगे।''[4]

तेलंगाना में उनकी दिनचर्या कुछ अलग ही प्रकार की थी। ''सुबह चार बजे से भी पहले वे उठ बैठते और प्रार्थना के पहले-पहले कुछ स्वाध्याय कर लेते। पाँच बजे के करीब उनकी पदयात्रा शुरू हो जाती। नौ बजे तक दस से बारह मील चलकर वे अगले मुकाम पर पहुँचते। वहाँ स्नान और सादा भोजन करके कुछ आराम करते। इसके बाद दो घण्टे अखबार पढ़ने और पत्र-व्यवहार में चले

जाते। अब एक घंटा चरखा चलाते। चार बजे मुलाकात शुरू हो जाती और पाँच बजे प्रार्थना। प्रार्थना के बाद प्रवचन। फिर कुछ समय मिलना-जुलना होता और नौ बजे सो जाते।''[5]

विनोबा की यह ऐतिहासिक पदयात्रा 51 दिन चली, 200 गाँवों से गुजरे और बेजमीन मजदूरों के लिए इस यात्रा में उन्हें लगभग 12000 एकड़ जमीन मिली। ''कोदण्डराम रेड्डी, लक्ष्मीबाई संगम और केशवराव इन तीन आदमियों की एक कमेटी बना दी गई, जिसके संयोजक केशवराव थे। इस कमेटी का नाम उन्होंने रखा ''शून्य-समिति''। भाव यह कि तीन कार्यकर्ता नम्रता और सेवा की भावना से काम करेंगे। इस शान्ति-यात्रा में विनोबा ने करीब पाँच सौ झगड़ों का समाधान किया और दो लाख लोगों में भाषण दिया। ऐसा एक भी गाँव नहीं था, जहाँ वे ठहरे हों और कोई जमीन न मिली हो।''[6] भूदान की प्रतिदिन की औसत 240 एकड़ रही। निजाम बड़े कंजूस माने जाते थे। परन्तु उन्होंने भी कुछ जमीन विनोबा को दी। खासतौर पर उल्लेखनीय बात तो यह है कि इस यात्रा का तेलंगाना के वातावरण पर इतना असर पड़ा कि विनोबा के तेलंगाना से विदा होने के बाद भी स्थानीय कार्यकर्ता 1,00,000 एकड़ जमीन प्राप्त कर सके।

जब विनोबा जी तेलंगाना के दौरे से लौटे, उन्हें नेहरू जी का पत्र मिला, जिसमें उन्हें दिल्ली आने के लिए निमन्त्रित किया गया था। उन दिनों पहली पंचवर्षीय योजना तैयार की जा रही थी। नेहरू जी आर्थिक संयोजन के बारे में विनोबा के विचारों से प्रभावित थे, इसलिए वे चाहते थे कि इस चर्चा में राष्ट्रीय योजना आयोग के सदस्यों के साथ विनोबा भी नई दिल्ली में रहें। विनोबा ने दिल्ली जाना मन्जूर तो किया, लेकिन लिखा कि इस बार भी वे 800 मील फिर पैदल ही जायेंगे। शुरू-शुरू में लोगों का मत था कि तेलंगाना में विनोबा को जमीन मिली, उसका कारण साम्यवादियों का आतंक था। लेकिन पवनार से दिल्ली की पदयात्रा ने सिद्ध कर दिया कि भूदान की प्रेरणा किसी खास इलाके तक ही सीमित नहीं थी।

जैसे ही उन्होंने भाषण समाप्त किया, विनोबा को स्थानीय ग्रामीणों ने तत्काल 75 एकड़ जमीन दे दी। दूसरे दिन दिल्ली के लिए रवाना हो गए। प्रतिदिन वे 12 से 16 मील चलते थे। 15 सितम्बर को नागपुर पहुँचने पर उन्होंने यों अपना दिल उड़ेल दिया ''जब तक भगवान इस शरीर में शक्ति कायम रखेगा, मैं देश में घूमता रहूँगा और बेजमीनों के लिए जमीन माँगता रहूँगा। हवा और जल के समान ही जमीन भी है उस पर किसी की अपनी व्यक्तिगत मालिकी नहीं हो सकती। वह तो केवल भगवान की है। वह सब सम्मिलित जायदाद है और उसका बटँवारा न्याय के साथ होना चाहिए।''[7]

13 नवम्बर को अर्थात् ठीक दो महीने में विनोबा दिल्ली पहुँचे। इस यात्रा में उन्हें 19000 एकड़ जमीन और मिल गई। पहले की भाँति इस बार भी वे राजघाट पर एक छोटी सी कुटिया में ठहरे। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, केंद्रीय मंत्री, तथा योजना- आयोग के सदस्य सब उनसे सलाह-मशविरा करने और मिलने के लिए आने लगे। पहले दिन ही प्रार्थना के बाद विनोबा ने कहा- ''यद्यपि गाँधी जी का पार्थिव शरीर नहीं रहा, फिर भी मुझे लगता है कि उनकी आत्मा मेरे साथ है। जब-जब भी मैं कोई गलती करने लगता हूँ, वे मुझे सही रास्ता दिखा दिया करते हैं।''[8]

दिल्ली- निवासियों के सामने अपने- आपको पौराणिक वामन का नया अवतार बिनोबा ने बताया। वामनावतार ने तीन पाँव में सारी पृथ्वी को घेर लिया था। इसका उल्लेख करते हुए विनोबा ने कहा- ''मैं भी आपसे तीन कदमों की माँग करता हूँ। पहला कदम यह है कि आप अपनी जमीन में से कुछ का त्याग करें। दूसरा कदम यह कि आप अपने-आपको गरीबों की सेवा में लगा दें और तीसरा यह कि गरीबों की सेवा में सब कुछ अर्पण कर दें।''[9]

24 नवम्बर को विनोबा जी ने उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में प्रवेश किया। एक दिन विनोबा साइकिल की चपेट में आ गये और उनके पैर में कुछ चोट आ गयी। परन्तु उन्होंने अपनी पदयात्रा को धीमी करने से इन्कार कर दिया। 02 दिसम्बर को वे देवबन्द में थे। यह इस्लामी संस्कृति और विद्या का केन्द्र है। अरबी पर विनोबा का अधिकार और कुरान का ज्ञान देखकर यहाँ के उलेमाओं को बहुत आश्चर्य हुआ।

उत्तर प्रदेश की यात्रा में भूदान की दैनिक औसत 371 एकड़ रही। तेलंगाना की दैनिक औसत 240 एकड़ और दिल्ली- यात्रा की 300 एकड़ थी। जिला मुरादाबाद के एक गाँव में एक अन्धा रामचरण अपने साथ परिवार के ही एक बच्चे को लेकर आधी रात के बाद विनोबा के पड़ाव पर पहुँचा। सब लोग नींद में थे। संयोग से एक व्यक्ति की नींद खुल गई और उसने इस अन्धे को नमस्कार किया। अन्धे ने कहा ''मैंने सुना है, यहाँ कोई बाबा आया है, जो गरीबों के लिए जमीनें दान में लेता है। मैं उनको अपनी बारह बीघा जमीन देना चाहता हूँ।''[10] कार्यकर्ता ने दान-पत्र भरा और ईरामचरण के अंगूठे का निशान भी लगवा लिया। यह करके दाता वहाँ से अपने गाँव पर छह मील लौट गया। दूसरे दिन सुबह इस दान के समाचार सुनकर विनोबा ने

कहा-''लोग कहते हैं, रामचरण अन्धा था। असल में अन्धे तो हम हैं। हमको जान लेना चाहिए कि इस रामचरण के रूप में भगवान राम के चरण इस आन्दोलन को आशीर्वाद देने के लिए आये थे।''[11]

12 अप्रैल को विनोबाजी सेवापुरी पहुँचे। वाराणसी से यह स्थान 14 मील पर है। 13 से 16 अप्रैल तक यहाँ चौथा सर्वोदय- सम्मेलन हुआ। अध्यक्ष थे श्रीकृष्णदास जी जाजू। पुरुषोत्तम टण्डन तथा आचार्य कृपलानी आदि महत्वपूर्ण लोग भी उपस्थित थे। सम्मेलन के सचिव शंकरराव देव ने परिषद् में प्रस्ताव द्वारा कार्यकर्ताओं से भूदान के लिए संकलित 5 करोड एकड़ जमीन की पहली किस्त के रूप में दो वर्ष में 25 लाख एकड़ जमीन एकत्र करने की अपील की, ताकि देश में सत्य और अहिंसा के आधार पर वर्ग-विहीन और शोषण-विहीन समाज की स्थापना की जा सके। अपने एक प्रार्थना-प्रवचन में विनोबा ने कहा- ''आपसे प्रार्थना है कि आप सब इस प्रजासूय यज्ञ में अपना- अपना हविर्भाग अर्पण करके उस यज्ञ को सफल करें और यह सिद्ध कर दें कि अहिंसा के द्वारा समाज में आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं। इस कार्य की दिशा सही है, इसके लिए मेरे पास तीन कारण हैं। एक तो यह कि यह भारत की सांस्कृतिक परंपरा के अनुकूल है। दूसरे, इसके अन्दर आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले बीज भरे पड़े हैं और तीसरे, समस्त संसार में शान्ति की स्थापना करने में यह मददगार साबित हो सकता है।''[12]

23 मई को विनोबा ने जिला हमीरपुर में प्रवेश किया और इटौलिया ग्राम में अपना पड़ाव डाला। भूदान-हलचल में यह दिन स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य बन गया। मंगरौठ यहाँ से दो मील पर है। नाश्ते के समय यहाँ के लोग आये और उन्होंने 101 एकड़ जमीन विनोबा को भेंट कर दी। इसे स्वीकार करते हुए विनोबा ने कहा- ''सबै भूमि गोपाल की''। मंगरौठ के निवासी विनोबा के इस मंत्र पर विचार करने के लिए अपने घर लौट गए। सौभाग्य की बात है कि उनके जमींदार दीवान शत्रुघन सिंह एक निष्ठावान रचनात्मक कार्यकर्ता थे। उनकी पत्नी भी ऐसी ही भावनाशील थीं। लोग उन्हें प्रेम से रानी साहिबा कहते। पति-पत्नी दोनों जिले में पैदल घूमकर जनता को सर्वोदय का तत्वज्ञान समझाते और गाँवों में खादी के उत्पादन और बिक्री को बढ़ाने की कोशिश करते। दीवान ने एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए अपनी सारी जमीन का दान विनोबा को करने की घोषणा की। और एक-दो को छोड़कर सारे ग्रामीणों ने भी उन्हीं का अनुसरण करने का निश्चय प्रकट कर दिया। इस प्रकार मंगरौठ को देश में पहला ग्रामदानी गाँव बनने का सौभाग्य मिल गया।

मंगरौठ में कुल 107 परिवार थे और जनसंख्या 585। इनमें जमीन तो केवल 65 परिवारों के पास ही थी। शेष बेजमीन थे। ग्रामदान की घोषणा के बाद जमीन का मालिक पूरा ग्राम बन गया। अतः सब परिवारों ने मिलकर काम करके उत्पादन का उपभोग भी मिलकर करने का निश्चय किया। गाँव में अनाज, सब्जी वगैरह क्या-क्या और कितनी जमीन में बोये जायें, इसकी योजना गाँव की पंचायत करने लग गई, ताकि गाँव इन बातों में स्वावलम्बी बन जाए। खाद्यान्नों को धन कमाने वाली फसलों के मुकाबले में तरजीह दी जाने लगी। कपड़ों की पूर्ति के लिए गाँव में खादी भी बनने लगी। जरूरत की दूसरी चीजें मुहैया कराने के लिए गाँव में एक सहकारी भण्डार कायम करने का निश्चय किया गया, ताकि अन्य बिचौलियों की जरूरत न रहे। जूते और चड़स बनाने जैसे अन्य ग्रामोद्योग भी शुरू करने थे, ताकि गाँव के लोगों को पूरा काम मिल सके। गाँव की उपज को बेचने के लिए एक सहकारी समिति की स्थापना भी करना जरूरी था, जिससे ग्रामीण शोषण से बचें और उनको अपने माल की पूरी कीमत मिले। सुरुचिपूर्ण मनोरंजन के लिए भजन-कीर्तन-मंडल स्थापित करने का निश्चय भी किया गया। ग्राम-पंचायत ने निश्चय किया कि वह अपनी सारे निर्णय सर्वानुमति से ही करेगी, ताकि बहुमत का शासन न हो और ग्राम-विकास के लिए उसने अपना स्वतंत्र विकास- कोष स्थापित करने का निश्चय किया, ताकि साहूकारों के पंजे से बच सकें। बाद के वर्षों में मंगरौठ ने अपने दिशाओं में उल्लेखनीय प्रगति कर ली। यह मुख्यतः दीवान शत्रुघ्न सिंह जी के बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व के कारण बन सका।''[13]

11 सितम्बर, सन् 1952 को उनका 58 वाँ जन्मदिवस था। उस दिन उन्होंने अपना निश्चय जाहिर कर दिया कि जब तक अहिंसा के द्वारा भारत में जमीन का सवाल हल नहीं हो जायेगा, वे परमधाम- आश्रम, पवनार नहीं लौटेंगे। प्रार्थना प्रवचन में उन्होंने 'रामकाज किन्हें बिनु मोहि कहाँ विश्राम' की घोषणा की। उत्तर प्रदेश की यात्रा में विनोबा अल्मोड़ा को छोड़कर सब जिलों में गए। 257 गाँवों में उन्होंने विश्राम किया। 3750 मील की यात्रा करके 12000 दाताओं से 2,95,028 एकड़ जमीन प्राप्त की। अब तक देश में कुल मिलाकर भूदान में चार लाख एकड़ जमीन मिल चुकी थी।

14 सितम्बर को विनोबा जी ने उत्तर प्रदेश की यात्रा पूर्ण करते हुए कर्मनाशा नदी का पुल पार करके बिहार प्रदेश में प्रवेश किया। विनोबा जी ने अपनी यात्रा बरसात

में भी जारी रखी। वे पश्चिम बंगाल के दो जिलों बांकुड़ा और मिदनापुर से होते हुए उड़ीसा गये। विनोबा जी उड़ीसा से आन्ध्रप्रदेश गये। उन्होंने जोर देकर कहा कि इस समय गरीब से गरीब जनता के पास पहुँचकर उसकी गरीबी और पिछड़ेपन को मिटाने की जरुरत है। इस भाव से उन्होंने लगभग सभी प्रदेशों का भ्रमण किया।

उपसंहार

जो जैसे चाहे हवा और पानी ले सकता है, वैसे ही जमीन भी सबको मिलनी चाहिए। सौ साल पहले हिंदुस्तान में ऐसा ही था। गाँव की कुल जमीन गाँव की ही होती थी। कुछ लोग खेती करते, कुछ बढ़ईगिरी करते, कुछ कुम्हारी, चमारी या लुहारी का काम करते थे। उन्हें अपने काम के लिए पैसा नहीं मिलता था। वे हर घर का काम करते थे। किसान के बुलाने पर बढ़ई उसके घर पर जाकर काम कर देता। किसी घर से किसी साल ज्यादा काम मिलता तो वह ज्यादा काम करता और कम मिलता तो कम करता। और कभी कोई नहीं बुलाता, तो नहीं भी जाता। इसके लिए उसे पैसा नहीं मिलता था, लेकिन फसल का एक हिस्सा मिलता था, ज्यादा फसल आने पर ज्यादा। इस तरह गाँव के सुख-दुख में वह शरीक होता था। इसका अर्थ यही हुआ कि जमीन सबकी है। लोग यह विचार समझेंगे, तो आज समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा और हिंदुस्तान की आर्थिक उन्नति का मार्ग खुल जायेगा। अर्थात भारत की आर्थिक विषमता का समाधान हो सकेगा।''[14]

ऐसा शोधार्थी का विश्वास है।

सन्दर्भ

1. विनोबा (2010) 'तीसरी शक्ति' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 21
2. राजस्वी एम.आई. (2011) 'विनोबा भावे' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 92
3. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 16
4. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 169
5. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 169
6. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 169
7. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 182
8. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 183
9. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 184
10. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 188
11. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 189
12. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 190
13. श्रीमन्नारायण (2010) 'ऋषि विनोबा' सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 192
14. विनोबा (2010) 'ग्राम स्वराज्य सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, पृ. 44

डॉ. सीमा रानी
शोध निर्देशक
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, शिक्षा विभाग, डी. ए. के. कॉलेज, मुरादाबाद (उ.प्र.) भारत

कमल सिंह
शोधार्थी, मेवाड़ विश्वविद्यालय, गंगरार, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) भारत।

भारत में लैंगिक असमानता, वर्तमान परिदृश्य एवं भविष्य की सम्भावनाएं : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

—सीता पाण्डेय
—डा. मनोज गुप्ता

किसी भी समाज की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि उस समाज में महिला पुरूष समानता का स्तर क्या है और महिलाएं कितनी सुरक्षित है। जब बात यह हो रही हो कि आज मुद्दा महिलाओं के विकास का नहीं बल्कि महिलाओं के नेतृत्व वाले विकास का है तो ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या उन्हें व्यावहारिक रूप में समान अवसर प्राप्त हैं या जेंडर सम्बन्धी असमानता समाज में व्याप्त है ? ग्रामीण और नगरीय महिलाओं में जेंडर सम्बन्धी कोई भिन्नता तो नही है, समाजीकरण, शिक्षा तथा व्यवसाय के चयन करने तक उनके साथ कोई भेद-भाव होता है या वे इन स्तरों पर स्वयं निर्णय लेती है, परिवार में अपने विचार रखने तथा नीतिगत निर्णय लेने में क्या वे पुरूष सदस्य के समान स्वतन्त्र है ? इस परिप्रेक्ष्य में नारी की प्रस्थिति के संदर्भ में परिपक्व वैचारिक एवं सैद्धान्तिक संवाद, उसकी प्रस्थिति में परिवर्तन के लिए प्रकार्यात्मक रूप से आवश्यक है। नर-नारी के सामाजिक व सांस्कृतिक विभेदीकरण की स्थिति, जो कि सार्वभौमिक रही है, स्वतंत्रता एवं सामाजिक समानता के विचारों के उदय के पश्चात क्या परिवर्तित हुए हैं? प्रस्तुत शोध-पत्र भारतीय समाज में लैंगिक असमानता के इन्ही आयामों के विश्लेषण पर आधारित है।

यह एक अनुभवात्मक अध्ययन है, अध्ययन से यह तथ्य सामने आये हैं, कि महिलाओं के मामलों में आदर्श और वास्तविकता के बीच अभी भी विरोधाभास है।

मुख्य शब्द : लैंगिक असमानता, प्रस्थिति, सामाजिक वास्तविकता, सामाजिक व सांस्कृतिक संरचना, श्रम विभाजन, समाजीकरण, भेदभाव एवं पुरुषवादी मानसिकता।

भारत में लैंगिक भिन्नता पुरुषों और महिलाओं के बीच स्वास्थ्य, शिक्षा, आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं को

सन्दर्भित करती है। लैगिंक (जेंडर) असमानता के विश्लेषण में जेंडर एवं सेक्स में अन्तर करना आवश्यक है। जेंडर एक सामाजिक सांस्कृतिक अवधारणा है, समाज एवं संस्कृति के सापेक्ष होती है, इसका सम्बन्ध पुरूषोचित व स्त्रियोचित गुणों, उनको प्राप्त प्रस्थिति व भूमिकाओं तथा व्यवहार प्रतिमानों से है जबकि लिंग (सेक्स) एक जैविक अवधारणा है। जेंडर सम्बन्धी यह अवधारणा मानव निर्मित है जबकि सेक्स की अवधारणा प्राकृतिक या जैविक है। जेंडर सम्बन्धी धारणा या दृष्टिकोण को जागरूकता व अन्य विधियों से परिवर्तित किया जा सकता है जबकि सेक्स को सरल ढ़ंग से बदला नहीं जा सकता, विज्ञान व तकनीकी के माध्यम से कुछ प्रयोग चल रहे हैं।

लैंगिक असमानता को विश्लेषित करने के लिए हमें यह समझना आवश्यक है कि सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं की सहभागिता का स्तर क्या है ? स्वयं के जीवन के प्रति महिलाओं की धारणा क्या है ? अपने चतुर्दिक घटित हो रही घटनाओं के प्रति, संपत्ति सम्बन्धी निर्णयों में, शादी-विवाह सम्बन्धी निर्णयों में महिला और पुरूष के दृष्किोण का विकास कितना हुआ है तथा क्या धर्म जेंडर सम्बन्धी असमानता को बढ़ाते हैं ? इन पहलुओं का मूल्यांकन आवश्यक है।

भारत के संदर्भ में लैंगिक असमानता यहाँ की सामाजिक सांस्कृतिक संरचना की उपज है। महिलाओं की शारीरिक संरचना को पुरूष प्रधान समाज ने एक भिन्न सांस्कृतिक अर्थ प्रदान किया है। नारी शरीर का निर्माण पुरूष की सोच, कल्पना व अपेक्षाओं के अनुरूप निर्मित हुआ। यह प्रक्रिया सामाजीकरण व संस्कारगत व्यवहार मूल्यों के आधार पर पुनरूत्पादित होती रही। नारी की चाल-ढ़ाल, आदतें, तौर तरीके, अंग-प्रत्यंग की साज सज्जा, श्रृंगार प्रसाधन, वस्त्र आभूषण, नैतिकता एवं सौन्दर्य के मानदण्ड पुरूषों के द्वारा निर्धारित थे। इसी सोच को नारी ने स्वीकार करके स्व-शरीर को अपेक्षित स्वरूप में ढालने की प्रक्रिया अपनायी। इस प्रकार स्त्री की सामाजिक व सांस्कृतिक संरचना में धर्म, साहित्य, परम्पराएं, लोक ज्ञान का प्रभाव रहा है।

परिवार अथवा घर के अन्दर ही लैंगिक सम्बन्धों में अनेक प्रकार की मौलिक असमानताएँ पाई जाती हैं। समाज में प्रत्येक परिवार में कुछ ऐसे कार्य हैं जिनके लिए सिर्फ स्त्री ही सर्वथा योग्य मानी जाती है। परिवार के सदस्यों की देख रेख करना, घर की साफ-सफाई करना, खाना पकाना, घर का बजट तैयार करना, किफायती दरों पर वस्तुओं की खरीदारी करना, कपड़ा धोना, कचरे का निष्कासन, परिवार के सदस्यों की इच्छा के अनुसार भोजन तैयार करना तथा बच्चों का समाजीकरण एवं संस्कार से शिक्षा तक का समस्त दायित्व स्त्रियों का होता है। अधिकांश देशों में पुरुष इन कार्यों में स्त्रियों की किसी प्रकार की सहायता नहीं करते हैं। पुरुषों का कार्य घर से बाहर काम करना माना जाता है। स्त्रियों का गृहस्थ कार्य अनुत्पादक माना जाता है जबकि पुरूषों का घर से बाहर का कार्य ही उत्पादक माना जाता है। यह एक ऐसा श्रम-विभाजन है जो स्त्रियों को पुरुषों के अधीन कर देता है।

लैंगिक असमानता उन परम्परागत एवं रूढ़िवादी धारणा की उपज भी है जो पुरूषोचित एवं स्त्रीयोचित गुणों में भेद करती है। इस धारणा के अनुसार विवकेशीलता या तर्कशीलता, आत्मनिर्भरता, पोरुष (कठोर), कम संवेदनशीलता, निर्णय क्षमता, साहसी, निडर तथा धैर्यवान पुरूषोचित गुण हैं जबकि इसके विपरीत भावुकता, पराश्रितता, विनम्र स्वभाव, निर्णय निर्माण की प्रक्रिया से दूर, संवेदनशील तथा कम धैर्यवान एवं साहस की कमी स्त्रीयोचित गुण हैं।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में लैंगिक रूढ़िवादिता जटिल रूप से अभी भी विद्यमान है। वैदिक साहित्य से हमें यह पता चलता है कि वैदिक युग में लड़कियों का भी उपनयन संस्कार होता था और वह भी लड़कों के समान ही आश्रमों में शिक्षा के लिए जाती थी लेकिन समय के साथ धीरे-धीरे उसे शिक्षा से दूर किया जाता रहा। प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर स्त्रियों के बीच पढ़ाई छोड़ने की दर भी बहुत ऊंची है। घरेलू काम-काज में सहायता देना, अपने छोटे बहन-भाइयों की देख रेख करना, परम्परागत रूप से स्त्री की शिक्षा एक फिजूलखर्चा समझा जाना, घर से स्कूल तक यातायात के साधन की समस्या, उनकी सुरक्षा का प्रश्न इत्यादि ऐसे मुद्दे है जो शिक्षा में लैंगिक असमानता को बढ़ावा देते हैं। उच्च शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण में आर्थिक लैंगिक पक्षपात स्पष्टतया देखा जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि उन आंकड़ों से होती है जो यह बताते हैं कि दुनिया के दो तिहाई से अधिक देशों में विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित जैसे विषयों में लड़कियों की हिस्सेदारी केवल पंद्रह फीसद है। यह रूढ़िगत मान्यता व्याप्त है कि विज्ञान और गणित जटिल विषय हैं, इसलिए यह महिलाओं के लिए नहीं हैं जबकि लैंगिक अंतर विज्ञान के कारण नहीं, बल्कि सामाजिक मानदंडों की उपज है।

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत में कुल लगभग 40 करोड़ कार्यकारी जनसंख्या है, जिसमें 12.5 करोड़ से अधिक महिलायें हैं। चूँकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ लगभग 75 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है अतः यहाँ पर कृषि कार्य में सक्रिय भूमिका निभाती हुई स्त्रियाँ प्रारम्भ से ही अर्थव्यवस्था का आधार रही हैं, लेकिन पुरूष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की आर्थिक गतिविधियों को हमेशा से ही उचित रूप से मूल्यांकित नही किया गया। राष्ट्र के निर्माण में स्त्रियों का सबसे बड़ा योगदान घर एवं परिवार को सभालने में हमेशा रहा है। अगर श्रम विभाजन के दृष्टिकोण से देखा जाय तो घर, परिवार एवं बच्चों को संभालना एक महत्वपूर्ण दायित्व है लेकिन आज भी अधिकांश भारतीय नारियाँ आर्थिक दृष्टि से पुरूषों पर आश्रित बनी हुई हैं।

विश्व में लगभग 130 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रहे हैं, जिसमें 70 प्रतिशत महिलाएं है। यह श्रम बाजार एवं परिवार में उनकी निम्न स्थिति को इंगित करता है। यद्यपि महिला साक्षरता दर में दो-तिहाई वृद्धि हुई है लेकिन श्रमिकों में इनकी वृद्धि केवल 4 प्रतिशत ही हुई है। महिलाओं को बैंकों से ऋण लेना भी मुश्किल होता है क्योंकि ऋण के लिए उनके पास कोई संपत्ति नहीं होती और मजदूरी में भी इनके साथ भेदभाव किया जाता है। महिला मजदूरी एवं पुरूष मजदूरी में अन्तर भी रखा जाता है। महिलाओं को पुरूषों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है और महिला बेरोजगारों की संख्या भी अधिक होती है, केवल 14 प्रतिशत महिलायें प्रशासनिक पदों पर हैं और 10 प्रतिशत संसद विधानसभा सदस्य है। कानूनी दृष्टि से यह असमानता है।

भारत के संदर्भ में धार्मिक समुदायों के निजी कानून जो विवाह, तलाक, उत्तराधिकर और बच्चों के अभिभावात्मक जैसे मुद्दों पर महिलाओं के साथ भेदभाव करते है। इतना ही नहीं, वरन् आदर्श और व्यवहार में भी बहुत अन्तर है।

हाल ही में विश्व आर्थिक मंच ने वर्ष 2022 के लिये अपने वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक में भारत को 146 देशों में से 135वें स्थान पर रखा है। वर्ष 2021 में भारत 156 देशों में 140वें स्थान पर था अर्थात भारत का समग्र स्कोर 0.625 (वर्ष 2021 में) से बढ़कर 0.629 हो गया है, जो पिछले 16 वर्षों में सातवाँ उच्चतम स्कोर है।

सामाजिक न्याय हमारे संविधान की नीव का पत्थर है। यह भारतीय समाज की विडंबना ही है कि वो अब भी समाज में मौजूद भेदभाव और बराबरी के लिए संघर्ष कर रहा है। विकास एवं न्याय के दो पक्षों के मद्देनजर सरकार को मुख्य जिम्मेदारियों को नहीं भूलना चाहिए। हमारे देश में सामाजिक आर्थिक विकास और सशक्तीकरण के लिये समूह आधारित उपागम को स्वीकार किया गया। स्वाधीनता के पश्चात् हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव ने स्त्रियों को अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक बनाया। महिला स्वतंत्रता का केवल इतना प्रभाव दिखाई पड़ता है कि जो महिलाओं के क्षेत्र गिने जाते थे, उसमें अकुशल के बदले कुशल एवं प्रशिक्षण प्राप्त महिलाओं को स्थान दिया जा रहा है। परम्परा से, जो व्यवसाय पुरुषों के व्यवसाय के रूप में अलग माने जाते थे, उन्हें छेड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। यद्यपि इधर कुछ समय से परम्परागत पुरुष क्षेत्र में महिलाओं का कुछ अस्तित्व दिखाई पड़ता है। आज बहुत सी बालिकायें विभिन्न महाविद्यालयों में स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में कला, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित जैसे विषयों में शिक्षा एवं पी-एच. डी. की डिग्री प्राप्त कर रही हैं।

पुरूष लैंगिक असमानता में मुख्य भूमिका अदा करता है। लगभग सभी समाजों में पुरूष जीवन के हर पहलू में अपना निर्णय सर्वोपरि रखता है। पुरूष को यह जिम्मेदारी महिला को भी सौंपनी चाहिए। लैंगिक समानता के उद्देश्य को हासिल करना जागरूकता कार्यक्रमों के आयोजन और कुछ जागरूकता पोस्टर चिपकाने तक ही सीमित नहीं है। यह मूल रूप से किसी भी समाज के दो सबसे मजबूत संस्थानों परिवार और धर्म की मान्यताओं को बदलने से सम्बन्धित है। आज की इक्कीसवीं सदी में भी स्त्रियों और पुरुषों की समानता की बाते कितनी सत्य है, इसकी हकीकत क्या है? यह तो स्त्रियाँ ही जानती हैं। स्त्री यदि स्त्री-पुरूष समानता के विचार भी प्रकट करे तो उसे पुरूषवादी मानसिकता से ग्रसित पुरूष कभी भी सहज नही लेते।

भारत में अदालती कानून की अपेक्षा प्रथागत कानूनों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। अतः कानूनी प्रावधान ही महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए पर्याप्त नही हैं, बल्कि लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। बुद्धिजीवियों को इस मुद्दे पर गहन-गंभीर और निष्पक्ष चिंतन करने की आवश्यकता है लेकिन असफल, रूढ़िवादी और समानता विरोधी विचारों से मुक्ति पहली जरूरत है।

संदर्भ ग्रन्थ

- ओमन, टी. के., 1998, *प्रोटेस्ट एण्ड चेंज.* नई दिल्ली : सेज।
- आहूजा, राम, 1997, क्राइम अगेन्ट वीमेन, जयपुर : रावत पब्लिकेशन
- ग्रान्ट, जुडिथ, 1993, फण्डामेन्टल फेमिनिज्म, न्यूयार्क : रूटेज
- फायरस्टोन, एस. 1979. द डाइलेक्टिक आफ सेक्स. लन्दनः द विमेन प्रेस
- बर्जर, पी.एण्ड थामस लुकमन, 1967, द सोशल कन्सट्रकशन आफ रियलिटि, लन्दन : एलेन लेन
- बोउवा, सीमोन द, 1964, द सेकेण्ड सेक्स, न्यूयार्क : बेंटम बुक्स
- नसरीन, तसलीमा, 1998, औरत के हक़ में, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
- दुबे, श्यामाचरण 2001 *भारतीय समाज,* नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट।

वैश्विक लैंगिक अंतराल सूचकांक - 2022, विश्व आर्थिक मंच।

सीता पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

डॉ. मनोज गुप्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग,
रमाबाई राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय,
अकबरपुर, अम्बेडकरनगर (उ.प्र.)

श्रीमद्भगवद्गीता शिक्षक और शिक्षार्थी के जीवन में तनाव प्रबन्धन की मार्गदर्शिका के रूप में

—डा. सीमा रानी
—अभिनव शर्मा

सार

शिक्षा उस बीमा के समान है, जो हमें सहजतापूर्वक, सम्मानजनक, आरामदायक जीवन जीने की गारंटी प्रदान करती है। शिक्षा मूल्यों, ज्ञान, विश्वासों के अधिग्रहण की प्रक्रिया है जो वास्तव में व्यक्ति और समाज के पूर्णरूपेण विकास के लिए उत्तरदायी है। यह सर्वदा सत्य है कि किसी राष्ट्र की क्षमता, योग्यता एवं गुणवत्ता उस देश के नागरिकों की क्षमता, योग्यता एवं गुणवत्ता पर निर्भर करती है। यदि शिक्षण पूर्ण रूप से ऊर्जावान, निष्ठावान तथा मानसिक रूप से स्वस्थ्य एवं सक्षम होंगे तो शिक्षकों द्वारा प्रदत्त शिक्षा सही दिशा में प्रदान की जायेगी। जिसका लाभ विद्यालय, समाज और राष्ट्र को होगा। आज के युग में कोई भी व्यक्ति संसार में तनाव मुक्त नहीं है, शिक्षक और विद्यार्थी सभी इंसान हैं, और वह भी विभिन्न कारणों से तनाव ग्रस्त हैं। तनाव यदि एक सीमा को पार कर दे तो अत्यंत विकट समस्या है। शिक्षकों एवं विद्यार्थियों में भावनात्मक या शारीरिक तनाव यदि है तो अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं इसलिए उन्हें समय पर सुलझाना अत्यंत आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता ऐसी पवित्र पुस्तक है, जो ज्ञान का सागर होने के साथ-साथ संसार में विद्यमान समस्त प्राचीन, वर्तमान एवं भविष्य में घटित होने वाली समस्याओं का समाधान अपने में समाहित किये हुए है। उसमें विद्यमान ज्ञान की किरण आधुनिक जीवन की सभी समस्याओं विशेष रूप से तनाव का सामना करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस पेपर के माध्यम से वर्तमान में शिक्षण प्रक्रिया के विशेष पक्ष शिक्षक एवं शिक्षार्थी को तनाव से मुक्त होने में सहायता प्रदान करने हेतु श्रीमद्भगवद्गीता के निहितार्थ खोजने का एक को शिक्षण प्रक्रिया में तनाव से निपटने के लिए पवित्र पुस्तकें जैसे वेद, भगवद गीता, उपनिषद, कुरान और बाइबिल को ज्ञान का सागर माना जाता है क्योंकि उनमें वर्णित ज्ञान आशाओं की नई किरणें हैं, जो आधुनिक जीवन की समस्याओं विशेष रूप से तनाव का सामना करने

के लिए आवश्यक हैं। अन्य की तरह धार्मिक पुस्तकें भगवद गीता को एक महत्वपूर्ण पुस्तक के रूप में संदर्भित किया जाता है जिसका शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान पेपर सामान्य रूप से लोगों और विशेष रूप से शिक्षकों के बीच तनाव से निपटने में शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में श्रीमद्भगवद्गीता के निहितार्थ को खोजने का एक विनम्र प्रयास है।

मुख्य बिन्दु : तनाव, भय, चिंता, ईर्ष्या, संकट, दुःख, संतुलित जीवन, अभिमान।

प्रस्तावना

शिक्षा प्रत्येक मनुष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यह मनुष्यों को संसार में सम्मानपूर्वक जीवित रहने हेतु योग्यता एवं कौशल प्रदान करती है। शिक्षा मनुष्य में आत्मविश्वास का संचार करती है तथा आत्मनिर्भर बनाने का कार्य करती है जिससे वह स्वयं स्वतन्त्र होकर निर्णय ले सके। यदि हमारी शिक्षा प्रणाली प्रगतिशील, भविष्यवादी और चुनौतीपूर्ण होगी, तो यह समाज को विकास की ओर ले जाएगी। शिक्षा की गुणवत्ता कुशल योजनाकारों, शिक्षाविदों और प्रशासन पर निर्भर करती है। हालांकि इन सभी के बीच सबसे महत्वपूर्ण कारक विद्यार्थी की महत्ता एवं शिक्षक की गुणवत्ता है। इसका अर्थ यह है कि उत्कृष्ट शिक्षक राष्ट्र निर्माण का कार्य करते हैं तो कुशल विद्यार्थी राष्ट्र के भाग्य को बदल सकते हैं। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-1953) की रिपोर्ट में वर्णित है-''हमें विश्वास है कि चिंतन किए गए शैक्षिक पुनर्निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण कारक शिक्षक, उसके व्यक्तिगत गुण, उसकी शैक्षिक योग्यता, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण और वह स्थान है जो वह समुदाय में रखता है।'' शिक्षक का कार्य न केवल विद्यार्थियों को पढ़ाना है बल्कि छात्रों का मार्गदर्शन करना, कर्तव्यों का बोध कराना, राष्ट्र के भावी निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका हैं और वह राष्ट्र के कर्णधार हैं। छात्रों में कल्पनाशीलता और दूरदर्शिता का विकास करना भी शिक्षक का महत्वपूर्ण कार्य है। शिक्षक की हमारे समाज के मार्गदर्शन में बहुत महत्वपूर्ण और अग्रणी भूमिका निभाते हैं। शिक्षक सही मायनों में समाज के पथप्रदर्शक होते हैं। मनुष्य की हर समस्या का समाधान हमारे धार्मिक ग्रन्थों में है जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान सर्वोपरि है, केवल उनके अध्ययन करने की आवश्यकता है। समस्याओं का प्रत्यक्ष समाधान भले ही न हो लेकिन अप्रत्यक्ष समाधान और रास्ते उनमें दिए गए हैं। कभी-कभी, मनुष्य अपनी बुद्धि के स्तर से यह नहीं समझ पाता कि उनकी पवित्र पुस्तकों में क्या खजाना है। श्रीमद्भगवद्गीता का प्रत्येक श्लोक का शिक्षा पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव है। गीता का शाब्दिक अर्थ है ईश्वर द्वारा गाया। श्रीमद्भगवद्गीता भगवान कृष्ण एवं अर्जुन के मध्य एक ऐसा संवाद है जो न केवल मनुष्य जाति वरन् संसार के समस्त जीवों के लिए राह दिखाने वाला है। श्रीमद्भगवद्गीता भीष्म पर्व का एक भाग है और महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाकाव्य है। ईश्वरन (1997) के अनुसार, ''जीवन में ऐसी कोई भी समस्या नहीं है जिसे पूर्ण समाधान के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में संदर्भित नहीं किया जा सकता है''। हाल ही के वर्षों में, श्रीमद्भगवद्गीता को मनोचिकित्सा जैसे कई क्षेत्रों में ज्ञान के एक सतत स्रोत के रूप में मान्यता दी गई है।

तनाव

तनाव अत्यधिक भावनात्मक या मानसिक दबाव में होने की स्थिति है। किसी भी प्रकार का दबाव तब तनाव का रूप ले लेता है जब मनुष्य उसका सामना नहीं कर सकता। तनाव का निर्माण किसी विशेष घटना पर प्रतिक्रिया है। किसी चुनौती के लिए ध्यान, शक्ति, सहनशक्ति तथा कठिन परिस्थिति का सामना करने की तैयारी करने वाला शारीरिक तरीका है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने तनाव को अलग-अलग प्रकार से परिभाषित किया है।

''तनाव एक गतिशील स्थिति है जिसमें एक व्यक्ति को अवसर की कमी का सामना करना पड़ता है, वह जो चाहता है उससे संबंधित आदेश और उसके परिणाम को अनिश्चित और महत्वपूर्ण दोनों माना जाता है''(शूलर, 1980)। सेली (1956) के अनुसार, ''तनाव शारीरिक और मनोवैज्ञानिक मांगों के लिए शरीर की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है।'' आईजेंक (2001) की राय में, ''तनाव तब होता है जब किसी स्थिति की कथित मांगें उन मांगों को संभालने के लिए व्यक्ति की क्षमता से अधिक हो जाती हैं।''

''तनाव उन घटनाओं का अनुभव करने के लिए संदर्भित करता है जिन्हें किसी के शारीरिक या मनोवैज्ञानिक कल्याण को खतरे में डालने के रूप में माना जाता है। इन घटनाओं को आमतौर पर तनाव के रूप में जाना जाता है और लोगों की प्रतिक्रियाओं को तनाव प्रतिक्रिया कहा जाता है।'' डैश (2004) की राय में, ''तनाव किसी भी समायोजन की मांग को संदर्भित करता है जिसके लिए हमें और अनुकूल प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है।''

उपरोक्त वर्णित परिभाषाओं के आधार पर, हम कह सकते हैं कि तनाव शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्षेत्रों में अनुभव किया जाने वाला दबाव है, जो पर्यावरणीय

घटनाओं की प्रतिक्रिया के रूप में माना जाता है, जिन्हें खतरनाक माना जाता है। लगातार तनाव कई समस्याओं का कारण बन सकता है और जब तक इसे संभाला नहीं जाता है, तब तक यह दूसरी स्थिति के तनाव को बढ़ा सकता है।

शिक्षण प्रक्रिया में तनाव

शिक्षकों के महत्व पर जोर देते हुए, राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने कहा कि, ''शिक्षक की स्थिति समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक लोकाचार को दर्शाती है। ऐसा कहा जाता है कि कोई भी व्यक्ति शिक्षकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है।'' परिणामों से पता चला है कि माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों पर तनाव पैदा करने वाले कारक जिस हद तक तनाव का कारण बनते हैं, वह बहुत अधिक है। कौर (2011) ने निजी और सरकारी स्कूलों के शिक्षकों के बीच उनकी उम्र, लिंग और शिक्षण अनुभव के संबंध में व्यावसायिक तनाव की तुलना की। विजयदुरई और वेंकटेश (2012) ने कॉलेज स्तर पर महिला शिक्षकों के बीच तनाव के स्तर को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न कारकों की खोज की। परिणामों से पता चला कि यह महत्वपूर्ण है कि तनाव की समस्याओं के लिए कार्यस्थल की लगातार निगरानी की जा रही है। एककुंडायो और कोलावोले (2013) ने विभिन्न जांच की। राज्य में माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के बीच तनाव के स्रोत। इसने तनाव के साथ इन शिक्षकों की मुकाबला करने की रणनीतियों की भी जांच की। अध्ययन से पता चला कि खराब काम करने की स्थिति, अधिकारियों के साथ खराब संबंध और शिक्षकों के वेतन का देर से भुगतान शिक्षकों के बीच तनाव के प्रमुख स्रोत थे। जयराज (2013) ने विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों में रहने वाले सरकारी और सहायता प्राप्त उच्च माध्यमिक विद्यालय के शिक्षकों के व्यावसायिक तनाव स्तर की जांच की। परिणामों से पता चला कि जिन शिक्षकों ने अधिक तनाव की सूचना दी, वे शिक्षण से कम संतुष्ट थे, अनुपस्थिति की अधिक आवृत्ति और कुल दिनों की अधिक संख्या में अनुपस्थित थे, उनके शिक्षण (कैरियर के इरादे) को छोड़ने की अधिक संभावना थी और फिर से एक शिक्षण कैरियर लेने की संभावना कम थी। नागरा (2013) ने शिक्षक-शिक्षकों के बीच व्यावसायिक तनाव का अध्ययन किया। अध्ययन से पता चला कि शिक्षकों ने मध्यम स्तर के व्यावसायिक तनाव का अनुभव किया। रानी (2013) ने शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में भगवद गीता के प्रभाव की खोज की। वह वर्तमान में चल रही शिक्षा की स्थिति को ऊपर उठाने के लिए शिक्षा के दर्शन से संबंधित ज्ञान के कुछ अनमोल रत्नों को आकर्षित करती है। शर्मा (2014) ने भगवद्गीता का अध्ययन संज्ञानात्मक व्यवहार चिकित्सा के लिए एक मानार्थ उपकरण के रूप में किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सीबीटी को आसान बनाया जा सकता है यदि रोगी को गीता में वर्णित उसके गुणों के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। इसी प्रकार, इस पुस्तक में बताए गए आचरण से आत्म-अहंकार को अलग करने से व्यक्ति को सभी प्रकार की नकारात्मक सोच और मन के आलस्य से छुटकारा मिल सकता है। गीता निर्देश देती है कि चिकित्सक के प्रति पूर्ण समर्पण और उनके शब्दों के अनुसार कार्रवाई इलाज के अधीन है। सिंह और रानी (2015) ने स्व-वित्तपोषित कॉलेज में कॉलेज के शिक्षकों के बीच काम के तनाव का अध्ययन किया। परिणाम तनाव के प्रमुख कारकों जैसे नौकरी की असुरक्षा, छात्रों के खराब व्यवहार और उनके नकारात्मक रवैये, विभाग स्तर/प्रबंधन की राजनीति में अप्रभावी नेतृत्व, प्रेरणा की कमी, सहकर्मियों का नकारात्मक रवैया, अत्यधिक अतिरिक्त कर्तव्यों, गैर-शिक्षण कर्तव्यों में भागीदारी, अनुसंधान की कमी के प्रमुख कारकों को दर्शाते हैं।

तनाव प्रबंधन और श्रीमद्भगवद्गीता दृष्टिकोण

अपनी तर्कपूर्ण शिक्षाओं और प्रकाशपूर्ण प्रेरणाओं के कारण श्रीमद्भगवद्गीता को वैश्विक ग्रंथ की मान्यता प्राप्त है। वर्तमान की तनावपूर्ण परिस्थितियों में गीता स्ट्रेस मैनेजमेंट की अत्यन्त कारगर कुंजी साबित हो रही है। देश-विदेश के नामचीन मैनेजमेंट गुरु भगवद्गीता के प्रबंधन सूत्रों का लाभ उठा कर उल्लेखनीय उपलब्धियां हासिल कर रहे हैं। गीता के प्रबंधन सूत्रों को अपने प्रतिष्ठानों में लागू करने वाली देशभर की नामी-गिरामी कम्पनियां इनके नतीजों से काफी उत्साहित व प्रसन्न हैं। एचआर(ह्यूमन रीर्सोसेज) प्रबंधकों की मानें तो भागमभाग और गलाकाट प्रतिस्पर्धा के वर्तमान दौर में इस ग्रन्थ को मानव जीवन की सर्वोत्कृष्ट आचार संहिता कहें तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित तनाव प्रबंधन के सूत्रों का अनुसरण कर कोई भी व्यक्ति सहज ही स्वयं की उन्नति और विकास कर सकता है। गीता कहती है, ''योगः कर्मसु कौशलम'' अर्थात कार्यफल में समता रूपी निपुणता प्राप्त कर लेना। किसी कार्य में समग्र रूप से निमग्न हो जाना ही योग है। कार्य के संग अनासक्त भाव ही निष्काम कर्म है। आसक्ति ही कर्म का बंधन बनती है। हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे निहित उद्देश्य ही कर्मफल के

रूप में हमारे सामने आता है और हमें उस भोग को भोगना ही पड़ता है। मगर गीता के सूत्रों पर पूरी निष्ठा से अमल करने से लक्ष्यसिद्धि सहज प्राप्त की जा सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता के इन्हीं दिव्य सूत्रों के नतीजों से उत्साहित होकर आज पूरी दुनिया में गीता का प्रशासकीय प्रबंधन के ज्ञान भंडार के रूप में अध्ययन-अध्यापन तथा मनन किया जा रहा है। इसमें वर्णित व्यावहारिक ज्ञान न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी शैक्षिक प्रक्रिया में तनाव प्रबंधन का अचूक मंत्र साबित हो रहा है। देश-विदेश की कई शैक्षिक संस्थाएँ श्रीमद्भगवतगीता के श्लोकों का प्रयोग कर शिक्षक, शिक्षार्थी में नई ऊर्जा का संचार करने के लिए कर रही हैं। शैक्षिक प्रक्रिया में गीता का ज्ञान देने के लिए बाकायदा मोटिवेशनल ओरेटर-लेक्चरर और धर्मगुरुओं को आमंत्रित किया जा रहा है। सुप्रसिद्ध मोटिवेशनल ओरेटर विवेक बिंद्रा के मुताबिक सर्वेक्षण में पाया गया है कि आज विभिन्न कम्पनियों में काम करने वाले 80 फीसद से अधिक कर्मचारी अपनी दक्षता के अनुरूप काम नहीं कर पाते, सिर्फ दस फीसद कर्मचारी ही कम्पनी को आगे ले जाने के लिए अपना पूरा योगदान देते हैं। ऐसे में नकारात्मक कार्यस्थितियों तथा कर्मचारियों की काम के प्रति अरुचि जैसे कारणों से ज्यादातर कम्पनियों की उत्पादकता घट जाती है। इन समस्याओं का समाधान गीता के बहुत सुंदर सूत्रों में दिया गया है। गीता के पहले अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण जिस तरह शांत भाव से अर्जुन की सारी बात सुनते हैं, उसी तरह कम्पनी के वरिष्ठों को भी अपने अधीन कर्मचारियों की बात पूरी गहराई से सुननी व समझनी चाहिए। ऐसे ही दूसरे अध्याय के श्लोक ''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनकृ''निष्काम कर्म का उपदेश देता है तथा छठा अध्याय तनाव कम करने का। जैसी मनुष्य की मनःस्थिति होती है, उसी के अनुरूप वह काम करता है। यह फॉर्मूला घर-बाहर, हर जगह लागू होता है। यदि कंपनी नुकसान झेल रही है तो गीता में इसका सरल उपाय है- पहले आचार फिर विचार एवं अंत में प्रचार।

विभिन्न संस्थानों ने गीता के इन्हीं प्रबंधन सूत्रों को लागू कर अपने कर्मचारियों की कार्यक्षमता व कौशल बढ़ाने में आशातीत सफलता पाई है। मारुति सुजुकी इंडिया के प्रोजेक्ट निदेशक एल.के. गुप्ता का कहना है कि गीता के प्रबंधन सूत्रों का कंपनी के सभी कर्मचारियों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। उनमें ना केवल नई ऊर्जा का संचार हुआ बल्कि हमारा सक्सेस रेट भी 80 फीसद के ऊपर पहुंच गया। ''रिलैक्सो'' के मैनेजिंग डॉयरेक्टर आर.के. दुआ भी कहते हैं कि उनके कर्मचारियों की दक्षता बढ़ाने में गीता के सूत्र बहुत मददगार साबित हुए हैं। ''एसोटैक रिएलटी'' के मैनेजिंग डायरेक्टर नीरज गुलाटी का भी कहना है कि गीता के सूत्रों पर अमल से उनकी कंपनी के कर्मचारियों की कार्यदक्षता में 60 से 70 फीसद की बढ़ोतरी हुई है। ब्योम नेटवर्क के चीफ मैनेजर उमंग दास और रोटरी इंटरनेशनल के सुधीर मंगला की मानें तो गीता की शिक्षाओं ने उनकी कंपनी के कर्मचारियों में सकारात्मक ऊर्जा का संचार किया है। वस्तुतः गीता सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान नहीं बल्कि समग्र जीवन दर्शन है जो समूची विश्व वसुधा को ''सर्वे भवन्तु सुखिनः' का पाठ पढ़ाता है। इसलिए आज दुनियाभर के कई उच्च शिक्षण-प्रबंधन संस्थान और स्कूल गीता को पाठ्यक्रमों का हिस्सा बना रहे हैं। अमेरिका, जर्मनी व नीदरलैंड जैसे कई विकसित देशों ने अपने देश के शैक्षिक पाठ्यक्रम में शामिल कर रखा है। अमेरिका के न्यूजर्सी स्थित सैटानहॉल विश्वविद्यालय में तो हरेक छात्र को गीता का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ना अनिवार्य है।

इसके पाठ्यक्रम में शामिल होने से नई पीढ़ी को न सिर्फ जीवन मूल्यों की शिक्षा मिलेगी वरन् उनके व्यक्तित्व का भी संतुलित विकास होगा। यही वजह है कि देश के सभी विश्वविद्यालयों में योग के साथ यूजीसी की ओर से तैयार पाठ्यक्रम में गीता को सम्मिलित किया गया है। इस बाबत एक दिलचस्प जानकारी यह है कि राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा व गुजरात आदि कुछ राज्यों ने भी गीता के सूत्रों के बहुआयामी लाभों को समझकर अपने राज्य के शैक्षिक पाठ्यक्रम में गीता के साथ ही रामायण के प्रबंधन सूत्रों को शामिल कर सराहनीय कार्य किया है। भारत की सबसे धनी मुम्बई नगरपालिका ने भी अपने विद्यालयों में गीता की पढ़ाई शुरु कर एक प्रशंसनीय कदम उठाया है। मगर इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि वोटों की राजनीति के चलते देश के कई राज्यों में यह स्थिति अब तक नहीं बन पायी है। शिक्षा के भगवाकरण का आरोप लगाने वाले संकुचित मानसिकता वाले लोग केन्द्र सरकार के इस कदम लाख का विरोध करें, मगर देश का बुद्धिजीवी वर्ग इस पहल का खुलेदिल से स्वागत कर रहा है। बताते चलें कि हरियाणा व मध्यप्रदेश सरकार के मुताबिक स्कूली पुस्तकों को समावेशी बनाने की दृष्टि से पाठ्यक्रम में गीता के कुछ अंशों के साथ ही विभिन्न धर्म-संप्रदायों के विषय भी विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धन के लिए शामिल किये गये हैं। इनमें पैगम्बर हजरत मोहम्मद की जीवनी, वाकया-ए-कर्बला और गुरु नानक देव, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, जीजस क्राइस्ट का जीवन दर्शन व शिक्षाएं भी शामिल हैं। बात साफ है। इनमें से कोई भी

पाठ अपनी प्रकृति में धार्मिक या साम्प्रदायिक नहीं है। इनसे न किसी का धर्म बिगड़ता है, न किसी धर्म का प्रचार होता है। दूसरी बात, इसे अनिवार्य बनाने की किसी मंशा का आरोप भी इसी बात पर खत्म हो जाता है कि जिन कक्षाओं की उर्दू पाठ्य-पुस्तकों में इन पाठों को शामिल किया गया है, उनमें परीक्षा के आधार पर कक्षा में रोकने का भी प्रावधान नहीं है। फिर भी यदि किसी छात्र-छात्रा को इन पाठों के पढ़ने में रुचि न हो तो वे इन पाठों को वैकल्पिक विषय मान सकते हैं।

उल्लेखनीय है कि जनवरी 2012 में जब मध्यप्रदेश के स्कूलों में गीता-सार पढ़ाए जाने के शासन के निर्णय के विरुद्ध जब कैथोलिक बिशप कौंसिल द्वारा मध्यप्रदेश हाईकोर्ट में एक याचिका दायर की गयी थी तो तथ्यों का अवलोकन करने के बाद कोर्ट ने यह व्यवस्था दी थी कि गीता मूलतः भारतीय दर्शन की पुस्तक है न कि भारत के हिन्दू धर्म की। इस दृष्टि से गीता के व्यवहारिक जीवन में उपयोगी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए इससे जुड़े जो पाठ स्कूल की नैतिक शिक्षा की पुस्तकों में शामिल किये गये हैं, उन्हें धार्मिक या साम्प्रदायिक नजरिए से देखना गलत है। बताते चलें कि मध्यप्रदेश में वर्ष 2011-12 से गीता के व्यवहारिक एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित विभिन्न पाठ्य सामग्री, कक्षा 1 से 12 की भाषा की पुस्तकों में समाहित है। ये पुस्तकें शासकीय पाठशालाओं के साथ ही अनुदान प्राप्त मदरसों में भी चल रही हैं और इस सम्बंध में अभी तक किसी प्रकार की कोई आपत्ति सामने नहीं आयी है।

गौरतलब हो कि देश में परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम के जनक डा. होमी जहांगीर भाभा का कहना था कि वैज्ञानिकों को ऐसा रास्ता चुनना चाहिए जिसमें वैज्ञानिक कर्मों के साथ आध्यात्मिकता की पावन संवेदना भी निहित हो। उनकी प्रिय पुस्तक थी श्रीमद्भगवदगीता और उनकी प्रेरणा का मूलस्रोत था महाभारत की युद्धभूमि का वह चित्र जिसमें योद्धावेश में सुसज्जित भगवान श्रीकृष्ण विषादग्रस्त अर्जुन को गीता का ज्ञान दे रहे हैं। उंगली में प्रज्वलित चक्र है, तनी हुईं त्योरियां मगर ओठों पर शांत मुस्कान। भीत अर्जुन उनके पांवों को पकड़े हैं। उनका कहना था कि यह चित्र हमारे परमाणु ऊर्जा सम्पन्न समर्थ व विकसित राष्ट्र का है। गांधी जी भले ही हमारे राष्ट्रपिता हैं मगर मेरी दृष्टि में श्रीकृष्ण हमारे राष्ट्र के आदि पिता हैं। उनके हाथों में प्रज्वलित सुदर्शन चक्र ऐसा लगता है मानो उन्होंने इस चक्र के रूप में प्रचंड परमाणु ऊर्जा को धारण कर रखा हो। उनकी तनी हुई त्योरियां आक्रांता शत्रुओं के लिए साहसिक प्रत्युत्तर हैं जिसे देख शत्रु भयभीत एवं आतंकित हैं। साथ ही उनके ओंठो की मुस्कान इस सत्य का आश्वासन है कि हम शांति के पक्षधर हैं और अर्जुन के रूप में वे देश की कायरता और क्लीवता को अपने पांवों की ठोकर से प्रचंड पौरुष एवं महापराक्रम में रूपांतरित कर रहे हैं। श्रीकृष्ण मुझे इसलिए प्रेरित करते हैं क्योंकि वे विश्व के महानतम अध्यात्मवेत्ता व दार्शनिक होने के बावजूद महाशस्त्र ''प्रज्वलित चक्र'' थामे हैं जो उनके सतत कर्मशील होने का परिचायक है। जरा विचार कीजिए! गीता के प्रणेता के इस चित्र की कितनी अद्भुत व्याख्या की है डा. भाभा ने। वे ''श्रीमद्भगवदगीता'' की अमूल्य शिक्षाओं की अहमियत को भलीभांति जानते थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने आजादी के कुछ ही समय बाद गीता को राष्ट्रीय पुस्तक घोषित करने की मांग की थी। वे सही मायने में गीता के निस्पृह कर्मयोगी थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने जब उन्हें कैबिनेट मंत्री पद देने का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने अति विनम्रता से भगवान श्रीकृष्ण की वाणी का स्मरण कराया-

''श्रेयान्स्वधमा विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधम निधनं श्रेयः परधर्मा भयावहः॥''

अर्थात स्वयं के कर्तव्य का पालन कमतर होते हुए भी दूसरे के कर्तव्य से श्रेष्ठ है। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मरना भी कल्याणकारक है, लेकिन दूसरे का कर्तव्य तो भय देने वाला है। उनकी इस आध्यात्मिक निःस्पृहता के सामने शास्त्री जी जैसे त्यागमूर्ति भी नतमस्तक हुए बिना न रह सके थे। अपनी मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व डा. भाभा ने अपने सहयोगियों से कहा था कि देश के लोग जिस दिन वैज्ञानिक अध्यात्म के महत्व को पहचान लेंगे, उस दिन से अपना राष्ट्र पुनः विश्वगुरु बन जाएगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

- गोयन्दका जयदयाल, 'गीतातत्वविवेचनी', गीताप्रेस, गोरखपुर
- गोयन्दका जयदयाल, 'परम शान्तिक मार्ग', गीताप्रेस, गोरखपुर
- गोयन्दका जयदयाल, 'भक्ति योग का तत्व', गीताप्रेस, गोरखपुर
- गुप्ता, एस.पी. व गुप्ता अलका, उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान-सिद्धान्त एवं व्यवहार, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
- दीक्षित हृदयनारायण (2017), 'भगवद्गीता' लोकहित पब्लिकेशन, लखनऊ
- नेगी पूनम (2017), श्रीमद्भगवद्गीता-तनाव प्रबन्धन की कारगर कुँजी(Retrived 14 June 2019 from http://www.krantidoot.in/2017/11/gita-is-the-key-of-stress-anagement.html.
- पण्डया पी. (सं.), दिसम्बर 2013, अखण्ड ज्योति, मथुरा,

जनजागरण प्रेस अंक-12 पृ. 5-7
- रामसुखदास, स्वामी : 'साधक-संजीवनी', गीताप्रेस, गोरखपुर
- Sharma Sonal and Shakir Mohd. (2017). Stress Management among Teachers: The Bhagavad Gita's Approach. An Int. J. of Education and Applied Social Science, 8(2): 671-680,https://ndpublisher.in/admin/issues/EQv8n35.pdf.
- 'श्रीमद्भगवद्गीता', गीताप्रेस, गोरखपुर।
- सिंह, अरूण कुमार, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में शोध विधियाँ, श्री जैनेन्द्र प्रेस, दिल्ली।
- तिलक, लोकमान्य बाल गंगाधर (1568), श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, नारायण पेठ, पूना पृ. 1।
- Verma Nidhi and Singh Ajay (2014). Stress management and coping embedded in the Bhagwad Gita. Indian Journal of Health and Wellbeing, 5(4), 520n/522. https://www.researchgate.net/publication/262414333
- वालिया जे. एस. (1998) आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ, पाल पब्लिशर्स, जालंधर (पंजाब)।
- wikipedia.org.(june26; 2019) Retrivedfrom : https://hi.wikipedia.org/wiki/ श्रीमद्भगवद्गीता
- योगी अरविन्द (1931), 'कृष्णांक', गीताप्रेस, गोरखपुर।

शोध निर्देशक डॉ. सीमा रानी
प्रोफेसर, शिक्षा विभाग,
दयानन्द डिग्री कॉलेज, मुरादाबाद,
वर्तमान में सदस्य, अधीनस्थ सेवा चयन आयोग,
उत्तर प्रदेश

अभिनव शर्मा
शोधार्थी, एम. जे .पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय,
बरेली

प्रशिक्षुओं की शैक्षिक निष्पत्ति पर प्रशंसा एवं निंदा के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

–प्रोफेसर (डॉ.) डी.पी. मिश्रा
–गौरव शर्मा

सारांश

कक्षा में शिक्षण, प्रशिक्षण एवं शैक्षिक वातावरण के निर्माण हेतु शिक्षक की भूमिका अहम होती है। अनुसंधायक ने कक्षा में शिक्षकों की निम्नलिखित भूमिकाओं को सन्दर्भित किया जो : एक सामान्य कक्षा के निर्माण हेतु, अनुकूल है। शिक्षकों की भूमिकाओं में से एक है कक्षा प्रबंधन, पाठयोजना, पाठ्यक्रम और कक्षा प्रारूप की योजना तैयार करना। इसलिए कक्षा में शिक्षकों द्वारा किए जाने वाले शैक्षिक कार्यों में से एक कक्षा का प्रभाव पूर्ण प्रबंधन की क्षमता है, ताकि शिक्षक की भूमिकाएं निर्विवाद रूप से और प्रभावी ढंग से चल सकें। कक्षा प्रबंधन शिक्षकों को शैक्षिक लक्ष्यों के निर्माण हेतु उपयुक्त वातावरण स्थापित करने और व्यवस्थित रखने में मदद करता है। उपरोक्त कार्यों के संचार हेतु कुछ बाहरी तत्व भी सहायता करते हैं, प्रशंसा एवं निंदा।

प्रशंसा एवं निंदा के विशेष कार्य हैं : छात्रों के ध्यान में सकारात्मकता लाना, छात्रों की प्रेरणा बढ़ाना, छात्रों के व्यवहार को संशोधित करना और सीखने की प्रक्रिया के दौरान छात्रों की सकारात्मक सोच का आर्विभाव करना। इसके विपरीत, निंदा का कार्य नकारात्मक कार्यों को नियमित और नियंत्रित करना है। कक्षा को अधिक प्रवाहकीय, उत्पादक, सक्रिय, छात्रों का नकारात्मक व्यवहार कम रखने और छात्रों के अधिक अनुशासित बनाने के लिए होता है। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रशंसा और निंदा दोनों ही छात्रों को प्रेरित कर सकते हैं और कक्षा में छात्रों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रशंसा एवं निंदा के प्रस्ताव से पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने के लिए प्रशंसा एवं निंदा हेतु अलग-अलग स्वनिर्मित मापनी तथा शैक्षिक निष्पत्ति प्राप्त करने के लिए स्वनिर्मित निष्पत्ति मापनी का निर्माण किया

जाएगा। अध्ययन केवल हरदोई जनपद की सरकार द्वारा स्थापित परिषदीय तथा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त अर्द्ध-सरकारी जूनियर हाई विद्यालयों में कक्षा 8 के अध्ययनरत् 490 विद्यार्थियों पर किया गया।

समंकों का संकलन किया गया तथा संकलित समंकों के लक्ष्यानुसार वर्गीकृत एवं सारणीबद्ध करके विश्लेषण हेतु प्रतिशत अनुपात माध्यिका तथा परिकल्पना परीक्षण हेतु टी-परीक्षण प्रयुक्त किया गया। निष्कर्षों के आधार पर हमें संज्ञान हुआ कि विद्यालय में प्रशंसा और निंदा शैक्षिक दृष्टिकोण से दोनों ही आवश्यक हैं। प्रशंसा एवं निंदा से विद्यार्थियों के व्यवहार में सकारात्मकता मिली है। जो शिक्षक सही शिक्षण विधि को जानता है उनकी कक्षा में विद्यार्थियों की सीखने का सामर्थ एवं अभिरूचि अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अच्छी रहती है। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या भी अपेक्षाकृत अच्छी रहती है। परन्तु इनके लिए चरणबद्ध कार्य होना चाहिए। पहली बार में चेतावनी दूसरी बार में दोहराने पर मौखित दण्ड तीसरी बार में छात्र को उसकी गलती के अनुसार दण्ड देना अपेक्षित हो तो, दण्ड देने का प्रावधान होना चाहिए।

मुख्य बिन्दु : *प्रशिक्षु, प्रशंसा, निंदा, शैक्षिक निष्पत्ति एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन।*

प्रस्तावना

शैक्षिक प्रक्रिया में प्रशंसा एवं निंदा का अपना विशेष परिदृश्य है। मौखिक पुरस्कार को प्रशंसा तथा मौखिक दंड को निंदा कहा जाता हैं। सही अनुक्रिया या प्रतिपुष्टि हेतु छात्र को प्रशंसा प्रस्तावित है और गलत अनुक्रिया या प्रतिपुष्टि हेतु निंदा। इनका स्पर्श अधिगम पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। आरम्भ में प्रशंसा तथा निंदा का प्रभाव शिक्षण प्रक्रिया में समान रूप से प्रकट होता है। परन्तु, बाद में प्रशंसा अधिक प्रभावी सिद्ध होती है। इस प्रकार शिक्षण के लिए प्रशंसा शक्तिशाली एवं सहायक उत्तेजना पुष्ट हुई है।

प्रो. ई.बी. हरलॉक (1925) ने कुछ प्रशिक्षुओं पर एक अध्ययन किया जिसके अन्तर्गत आयु, लिंग, बुद्धि एवं शिक्षा आदि में सभी प्रशिक्षु समान थे। उन्हें प्राय : चार वर्गों में विभाजित किया गया- (1) प्रशंसित समूह (2) ऋनदित समूह (3) उपेक्षित समूह तथा (4) नियंत्रित समूह सभी प्रशिक्षुओं को कतारों को अतिशीघ्र मिलाने के लिए बोला गया। इस प्रयोग के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त हुए।

औसत प्राप्तांक
(Average Scores)

वर्ग	*प्रथम दिन*	*द्वितीय दिन*	*चतुर्थ दिन*	*पंचम् दिन*	*छष्ठम् दिन*
प्रशंसित समूह	11.81	16.59	18.85	18.81	20.22
निन्दित समूह	11.85	16.59	14.30	13.29	14.19
उपेक्षित समूह	11.84	14.19	13.30	16.92	11.38
नियंत्रित समूह	11.81	12.34	11.65	10.50	12.35

अध्ययन के आधार पर श्रीमान हरलॉक ने कुछ निष्कर्ष प्राप्त किए- प्रथम, कि प्रशंसा अथवा निंदा दोनों पक्षों से अधिगम प्रेरणा अधिगत होती है, अतैव प्रशंसित एवं निंदित वर्ग के प्रशिक्षुओं का प्राप्तांक उपेक्षित एवं नियंत्रित वर्ग की अपेक्षा मात्रा व गुण में उत्तम था। द्वितीय, कि आरम्भ में प्रशंसा एवं निंदा का स्पर्श शैक्षिक प्राप्तांक समान प्राप्त हुए, अपितु बाद में प्रशंसा अधिक प्रबल सिद्ध हुई, क्योंकि निंदा का प्रभाव अस्थाई है अर्थात अल्प समय तक ही प्रभावशील रहने वाला, जबकि प्रशंसा का प्रभाव स्थाई होता है। प्राप्तांकों से बोधित है, कि दूसरे दिन के पश्चात् प्रशंसित समूह के शैक्षिक प्रतिमान प्रभावी हो गये। तृतीय कि, जो प्रशिक्षु अन्य प्रशिक्षुओं को प्रशंसित या निन्दित होते अनुभव करते हैं तो वह भी सीखने की ओर प्रखर होकर सीखने के प्रति अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करते हैं। यह तथ्य उपेक्षित एवं नियंत्रित वर्गों के शैक्षिक शक्तियों की मापन से परिलक्षित होता है।

श्रीमान **चेज (1932)** ने प्रशंसा तथा निंदा के प्रभाव के नैतिक सम्बन्धो के दृष्टिगत अनेक प्रयोग किए और निष्कर्ष निकाले कि प्रशिक्षुओं में निंदा, प्रशंसा की तुलना प्रभावी है। चेज महोदय के अध्ययनों से यह सिद्ध है कि प्रशंसा का स्पर्श प्रखर बुद्धि के प्रशिक्षुओं की अपेक्षा औसत तथा मंदबुद्धि के बालकों पर स्पर्श ज्यादा होता है। **(Kennedy and Willent, 1964; Anderson et al; Lord 1994)** ने इसी प्रकार छात्रों के जैसे ही छात्राओं

पर प्रशंसा का प्रभाव प्रेरणा पर पड़ता है। प्रशंसा तथा निंदा का प्रभाव व्यक्तित्व के शील गुणों पर भी पड़ता है। **कोलाडारकी (1955)** ने अपने अध्ययन में पाया कि बहिर्मुखी छात्रों की प्रशंसा करने पर एवं अंतर्मुखी छात्रों पर निंदा का अनुकूल विभाव पड़ता है, जिससे उनकी शैक्षिक प्रगति सकारात्मक होती है।

सम्बन्धित साहित्य का ग्रन्थावलोकन (Survey of Related Literature) : प्रशंसा एवं निंदा की प्रभावकारिता को प्रशिक्षुओं की बुद्धि, आयु व लिंग आदि के सन्दर्भ में आंकलन करना चाहिए। शिक्षकों को यह विज्ञ होना चाहिए की प्रशंसा एवं निंदा का उपयोग कहाँ, कब और कैसे होना है। **व्हीट** ने प्रशंसा तथा निंदा की नैतिक प्रयुक्ता को स्पष्ट करते हुए बताया कि, **''अविवेकी प्रशंसा तथा निंदा की तुलना, प्रगति हेतु प्रशंसा और विफलता हेतु निंदा प्रभावी है।''**

शिक्षक प्रशंसा एवं निंदा का उपयोग प्रशिक्षु के वांछनीय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु करते हैं, अपितु क्या प्रशंसा एवं निंदा समान रूप से उपयोगी हैं? विद्यमान अध्ययन द्वारा अनुसधायक यह स्पष्ट करने का प्रयास करेगा कि प्रशंसा एवं निंदा प्रशिक्षुओं की शैक्षिक निष्पत्ति पर क्या प्रभाव डालते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन से पूर्व भी इस क्षेत्र में कुछ अनुसंधायकों ने कार्य किया है जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है–

नदीम इकबाल, साजिद इकबाल, जबीन व हैदर (2015), विद्यार्थियों के अधिगम व्यवहार में पुरस्कार और दण्ड का पारस्परिक सह-सम्बन्ध का विश्लेषण।

उद्देश्य : हमें विद्यार्थियों के अधिगम व्यवहार पर पुरस्कार और दण्ड के प्रभाव का पता लगाना है।

प्रतिदर्श : उपरोक्त सर्वे अध्ययन है। जिसमें पुरस्कार एवं दण्ड स्वतंत्र चर और अधिगम व्यवहार आश्रित चर है। समंकों के संग्रहण के लिए प्रश्नावली का उपयोग हुआ है। अध्ययन में 50 लोगों को चुना गया है। जिसमें शिक्षक, सहकर्मी, पर्यवेक्षी कर्मचारी और छात्र शामिल हैं।

साँख्यिकीय प्रविधि : आँकड़ों को सामान्य और क्लस्टर विधि से संकलित किया गया है। निर्वचन हेतु पैरामीट्रिक प्रणाली को लिया गया है। जिसमें टी-परीक्षण शामिल है।

एन.जी. ईल्डीज (2017), विद्यालयी प्रबन्धन एवं छात्र उन्नति : कक्षा पाँच तक प्राथमिक विद्यालयों का अध्ययन।

उद्देश्य : विद्यमान अध्ययन का लक्ष्य सामान्य शिक्षक कक्षाओं को दिए कक्षा शिक्षकों के स्वभाव की व्याख्या करना और इन स्वभावों और छात्र उन्नति के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करना है।

प्रतिदर्श : इन्डोनेशिया में कक्षा पाँच के प्राथमिक विद्यालयों के 136 विद्यार्थियों को अध्ययन में सम्मिलित किया गया। अमुक अध्ययन वर्णनात्मक और सम्बन्धपरक अध्ययन के रूप में परिणित किया गया है।

प्रतिधि एवं उपकरण : समंकों के संग्रह के उपकरण में, शिक्षक स्वभाव की पहचान हेतु कक्षीय संकेतों का प्रयोग किया गया था और विद्यार्थी की उन्नति चिन्हित करने हेतु विद्यालय में उपलब्धि परीक्षण का प्रयोग किया गया। शिक्षक के स्वभाव की पहचान हेतु कक्षा संकेतों का उपयोग करने हेतु अनुसंधायक हेतु अवलोकन प्रपत्र निर्मित किया गया।

आई.पी. एक्यूनो (2019), शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय के प्रशिक्षुओं के शैक्षणिक प्रदर्शन पर पुरस्कार एवं दण्ड के प्रभाव का अध्ययन।

उद्देश्य :

1. विद्यार्थियों के शैक्षणिक प्रदर्शन का अध्ययन करना।
2. पुरस्कार और दण्ड के प्रभावों पर छात्रों की धारणा का अध्ययन करना।
3. पुरस्कार और दण्ड के प्रभावों पर अध्यापकों की धारणा का अध्ययन करना।
4. छात्रों के दो समूहों की अवधारणाओं में अन्तर का अध्ययन करना।
5. छात्रों के शैक्षणिक प्रदर्शन, पुरस्कार एवं दण्ड के कथित प्रभावों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करना।

पुटरी एवं रेफिनॉल्ड (2020), इंडोनेशिया के सन्दर्भ में (विदेशी भाषा) अंग्रेजी पढ़ाने में अध्यापक द्वारा प्रस्तावित पुरस्कार और दण्ड का अध्ययन।

उद्देश्य : इंडोनेशिया के सन्दर्भ में (विदेशी भाषा) अंग्रेजी पढ़ाने में अध्यापक द्वारा प्रेषित पुरस्कार एवं दण्ड का अध्ययन करना।

प्रतिदर्श : इस अध्ययन में वर्णनात्मक, गुणात्मक प्रविधि का उपयोग हुआ है। इसमें घटनाओं, गतिविधियों और परिस्थितियों जैसे किसी तथ्य को देखना या उसकी व्याख्या करना, इस अध्ययन के निष्कर्षों को एक अनुसंधान रिपोर्ट में वर्णित किया जा सकता है।

अनुसंधायक ने पुरस्कार एवं दंड के प्रभाव के बारे में शिक्षकों एवं छात्रों के विचारों का अध्ययन किया। इन अध्ययनों में से अधिकांश अध्ययन विदेशों में संपन्न हुए हैं अतः शोधकर्ता ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में इस अध्ययन को करने का प्रयास किया है।

1. समस्या कथन (Statement Problem) : ''प्रशिक्षुओं का शैक्षिक निष्पत्ति पर प्रशंसा एवं निंदा के प्रभाव का

मनोवैज्ञानिक अध्ययन।''

2. समस्या का परिभाषीकरण (Definition of the Problem)

(क) प्रशिक्षुओं (Student) : विद्यमान अध्ययन में प्रशिक्षुओं से अभिप्राय हरदोई जनपद के हिंदी माध्यम के सरकारी तथा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त जूनियर हाई स्कूलों में पढ़ रहे कक्षा 8 के विद्यार्थियों से है।

(ख) शैक्षिक निष्पत्ति (Educational Achievement) : विद्यमान अध्ययन में प्रशिक्षुओं द्वारा निर्धारित समय में अध्ययन करने के बाद प्राप्त निष्पत्ति को शैक्षिक निष्पत्ति बताया गया है।

(ग) प्रशंसा (Praise) : मौखिक पुरस्कार को प्रशंसा कहते हैं। प्रशंसा एक सकारात्मक उद्दीपक है। यदि किसी विद्यार्थी के अच्छे कार्यों की प्रशंसा होती है, तो उसके द्वारा उस के कार्य करने की संभावना बढ़ती है। उचित समय एवं स्थान पर दी जाने वाली प्रशंसा निःसंदेह अभिप्रेरणा का एक अत्यंत उपयुक्त स्रोत है। विद्यमान अध्ययन में शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों को अच्छे कार्य करने हेतु जो प्रशंसा की जाती है, उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाएगा।

(घ) निंदा (Reproof) : मौखिक दंड को निंदा कहते हैं। निंदा एक ऋणात्मक अभिप्रेरणा है। निंदा के डर से विद्यार्थी स्वभाव में सकारात्मकता लाते हैं। विद्यमान अध्ययन में विद्यार्थी के अवांछित स्वभाव की समाप्ति हेतु गुरू द्वारा जो निंदा की जाती है, उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाएगा।

3. अध्ययन के उद्देश्य (Objectives of Study) :

1. विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति पर प्रशंसा के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना।
2. विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति पर निंदा के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना।

4. परिकल्पनाएं (Hypotheses) :

1. विद्यार्थियों (छात्र एवं छात्रा) के शैक्षिक निष्पत्ति पर प्रशंसा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
2. विद्यार्थियों (छात्र एवं छात्रा) के शैक्षिक निष्पत्ति पर निंदा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

5. शोध सिद्धान्त (Research Method) : विद्यमान अध्ययन सर्वे विधि पर आधारित है इसके अंतर्गत हरदोई जनपद के नगर क्षेत्र एवं प्रत्येक 19 विकासखंडों में सरकार द्वारा स्थापित परिषदीय जूनियर हाई स्कूल तथा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त अर्द्धसरकारी जूनियर हाई स्कूलों का चयन होगा। जनपद में विद्यालयों की कुल संख्या 2260 है, जिसमें हमने 10 प्रतिशत दैव निर्दशन प्रतिचयन विधि द्वारा 226 विद्यालयों का चयन किया। चयनित विद्यालयों में कक्षा 8 में अध्ययनरत कुल विद्यार्थियों का पंजीकरण 4901 था। जिसमें से प्रशंसा पाने वाले अथवा निंदा पाने वाले, 10 प्रतिशत कुल 490 विद्यार्थियों का चयन, दैव निर्दशन प्रतिचयन विधि द्वारा किया। अध्ययन में प्रशंसा एवं निंदा के परिणाम स्वरुप पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन हेतु प्रशंसा एवं निंदा हेतु अलग-अलग स्वनिलमत मापनी तथा शैक्षिक निष्पत्ति प्राप्त करने हेतु स्वनिर्मित निष्पत्ति मापनी का उपयोग किया गया।

स्वनिर्मित मापनियों की विश्वसनीयता हेतु एस.पी. एस.एस. सॉफ्टवेयर के क्रॉनबैक अल्फा परीक्षण का प्रयोग किया। परीक्षण में हमने 490 विद्यार्थियों पर परीक्षण किया जिसके प्रथम परीक्षण में क्रॉनबैक अल्फा प्राप्तांक निम्नवत् प्राप्त हुए।

क्रॉनबैक अल्फा प्राप्तांक तालिका 1.1

क्रम सं.	*प्रभाव मापनी*	*प्राप्तांक*
1.	शैक्षिक निष्पत्ति मापनी	0.724
2.	प्रशंसा प्रभाव मापनी	0.717
3.	निंदा प्रभाव मापनी	0.919

प्रथम परीक्षण के ठीक तीन माह बाद प्रथम परीक्षण में सम्मिलित विद्यार्थियों पर पुनः द्वितीय परीक्षण किया गया जिसमें क्रॉनबैक अल्फा प्राप्तांक निम्नवत् प्राप्त हुए।

क्रॉनबैक अल्फा प्राप्तांक तालिका 1.2

क्रम सं.	*प्रभाव मापनी*	*प्राप्तांक*
1.	शैक्षिक निष्पत्ति मापनी	0.827
2.	प्रशंसा प्रभाव मापनी	0.779
3.	निंदा प्रभाव मापनी	0.983

प्रत्येक परीक्षणों में लगभग समान प्राप्तांक प्राप्त हुआ इससे यह प्रमाणित होता हैं कि हमारी मापनी विश्वसनीय हैं। इन मापनियों की विश्वसनीयता प्राप्त करने के बाद हमने मापनियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के अनुसार समंकों का संग्रहण किया तथा समंकों के लक्ष्यानुसार वर्गीकृत, सारणी बद्ध एवं विश्लेषित कर प्रतिशत अनुपात, माध्यिका तथा परिकल्पना परीक्षण हेतु टी-परीक्षण का प्रयोग किया गया।

प्रशंसा परिणाम तालिका 1.3

क्रम सं.	*परिकलित प्राप्तांक*	*पुरस्कार प्रभाव मापनी*	
1		*परिषदीय विद्यालय*	*अन्य विद्यालय*
2	माध्य	71.43	82.31
3	मानक विचलन	04.08	03.37
4	विद्यार्थियों की संख्या	253	77
5	प्रमाप विचलन	0.46	
6	माध्य अन्तर	10.88	
7	क्रान्तिक अनुपात (सी0आर)	23.56	
8	5% सार्थकता स्तर पर तालिका मान	1.96	

निंदा परिणाम तालिका 1.4

क्रम सं.	*परिकलित प्राप्तांक*	*निंदा प्रभाव मापनी*	
1.		*परिषदीय विद्यालय*	*अन्य विद्यालय*
2.	माध्य	63.76	56.55
3.	मानक विचलन	08.82	08.77
4.	विद्यार्थियों की संख्या	237	105
5.	प्रमाप विचलन	1.03	
6.	माध्य अन्तर	07.21	
7.	क्रान्तिक अनुपात (सी.आर)	6.995	
8.	5% सार्थकता स्तर पर तालिका मान	1.96	

6. निष्कर्ष (Conclusion) : अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है–

1. अधिकांश विद्यालयों के शिक्षकों द्वारा नियमित रूप से पुरस्कार और दण्ड को कक्षा में अपनाया जाता है।
2. विद्यालय के छात्र दण्ड के उपयोग के विरोध में हैं क्योंकि कक्षा में छात्रों पर शिक्षक ज्यादातर शारीरिक दण्ड का उपयोग करना पसन्द नहीं करते हैं।
3. शारीरिक दण्ड दिये जाने पर अधिकांश छात्र शिक्षक को पूरी तरह से नजर अन्दाज कर देते हैं या नापसन्द करते हैं। इसके विपरीत वे शिक्षकों को पसन्द करके सकारात्मक प्रतिक्रिया देने की सम्भावना रखते हैं, जब उन्हें मौखित पुरस्कृत या दण्डित किया जाता है।
4. विद्यालयों के छात्रों की राय है कि सजा नहीं होनी चाहिए बिल्कुल नहीं इस्तेमाल किया जाना चाहिए और इसके बजाय एक मित्रवत दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।
5. विद्यालय में पुरस्कार और दण्ड के लिए चरण में कार्य होना चाहिए पहली बार में चेतावनी दूसरी बार में दोहराने पर मौखिक दण्ड तीसरी बार में छात्र को उसकी गलती के अनुसार दण्ड देना अपेक्षित हो तो दिया जाना चाहिए।

प्राप्त निष्कर्षों से यह ज्ञात होता है कि प्रशंसा एवं निंदा से विद्यार्थियों पर सकारात्मक प्रभाव देखने को मिला है। जो शिक्षक इस शिक्षण विधि को जानते हैं उनकी कक्षा

में विद्यार्थियों की सीखने क्षमता एवं रूचि अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा अच्छी होती है। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या भी अपेक्षाकृत ज्यादा होती है। अधिकांश विद्यार्थियों में अपने कक्षा शिक्षक के प्रति सम्मान की भावना होती है। कक्षा का संचालन दोनों पक्षों के परस्पर सहयोग से होता है। शिक्षक को चाहिए कि पुरस्कार और दण्ड के प्रकार को भी समय-समय पर उनके प्रयोग और तरीकों में बदलाव होता रहे जिससे विद्यार्थियों में पुरस्कार और दण्ड के प्रति लालसा और डर दोनों ही निरंतर बना रहे। इस विधि से विद्यार्थी में नये प्रकार के पुरस्कार को पाने के प्रति इच्छा से वह अपनी क्षमता से अधिक पाठ याद करने की कोशिश करेगा और पुराने दण्ड के डर से, नया दण्ड जो पुराने दण्ड से और ज्यादा कष्ट दायक है, के डर से कोई भी नराकारात्मक व्यवहार करने से डरेगा।

References

- Agarwal, Mamta (2001); Punishment when and what the primary teacher NCERT New Delhi
- Iqbal Nadeem, Iqbal Sajid, Jabeen, Haider; International Letters of Social and Humanistic Sciences ISSN: 2300-2697, Vol. 59, pp 61-64. E-mail address: talhasaif22@gmail.com, sajid.edu@outlook .com
- Yildiz N.G.: Anadolu Journal of Educational Sciences International, 2017; 7(1): 155-183. Eskisehir Osmangazi University, Turkey E-mail address: antreh@gmail.com
- Aquino, I.P.International Journal of Advanced Research in Management and Social Sciences Vol. 8 | No. 6 | June 2019 ISSN: 2278-6236. Website://http//www.garph.co.uk
- Putri, Refnaldi: Journal of English Language Teaching Volume 9 No. 1, ISSN 2302-3198. available at Website://http://ejournal.unp.ac.id/index.php/jelt
- Fabes, R. A., J. Futtz, N. Eisenbery, T. May-Plumlee And F.S. Christopher (1989); Teacher use children's preferences of Rewards in elementary school. Psychology in the school 28 (2, Apr) : 175-181. E J 430 936.
- Fantuzzo, J. W., C. A.Rohrbeele, A. D. Hightower and W. C. Work (1991) High field, M and Pinset, A. (1952); A survey of Rewards and Punishment in school, London, Newnes.
- Lakshmi, Manohari, M. (1991); Punishment Patterns adopted by parents & teachers and children's reactions to the punishment with the special reference to elementary school years, M. Phil Home Sci. Sri Venkateswara University.
- Sharma, R. P. and Jain, D. M.; Indian Democracy and Educational Administration Ratan Prakashan Mandir, Agra.
- Putri, Refnaldi: Rreards And Puishments; Given By The Teacher In Teaching Enghish As Foreign Language In Indoesian Ccontext: Journal of English Language Teaching Volume 9 No. 1, ISSN 2302-3198. Available at Website://http://ejournal.unp.ac.id/index.php/jelt.
- Maag, J.W.; Rewarded by punishment: reflections on the disuse of positive reinforcement in schools; Early Intervention in Deaf Education Vol. 67, No. 2, pp.173-18 6. website//https://sienihan2fontbonne.edu
- Fuad, Mo., Azmi, Mo., Suyanto; Can 'Reward and Punishment' Improve Student Motivation? European Online Journal of Natural and Social Sciences 2021; Vol.10, No 1 pp. 165-171 www.european-science.comI
- Wahyuni, Sri: The Implemintation of Rewards and Punishments on Students In Teaching English Of Mukomuko School; State Institute of Islamic Studies of Bengkulu. https://scholar.google.com/scholar repository.iainbengkulu.ac.id
- Ching, Gregory S., Looking into the issues of rewards and punishment in Students, International Journal of Research Studies in Psychology: https://www.researchgate.net/publication/266890375
- Yakubu, Abdulkadir And Odinaka: Analysis Of Student's Perceptions And Attitude Towards The Application Of Punishment And Reward As A Strategy In Managing Classroom In Secondary Schools; International Journal Of Economics Education Research Vol. 2 Issue 1, 2019 ISSN: 2635-3504 (Print) 2635-3512 (Online) Website: https://iafee.org/ijeer

प्रोफेसर (डॉ.) डी.पी. मिश्रा
शिक्षा संकाय, के.एन.आई.पी.एस.एस.,
सुल्तानपुर, उ.प्र.

गौरव शर्मा
शोधार्थी, शिक्षा संकाय, शोध अध्ययन केन्द्र-
डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय,
अयोध्या (उ.प्र.)

नादिरा ज़हीर बब्बर के नाटकों में पुरुष पात्र

–अजीत कुमार सिंह
–डा. मधु कौशिक

प्रस्तावना

अभिनय द्वारा मंच पर व्यक्त जीवन ही नाटक है। आचार्य भरत ने नाटक को ''अबुधाना विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि''[1] कहा है। इसमें वैदुष्यं विदुषामपि अर्थात विद्वानों को अधिक विद्वान बनाने की बात तो साहित्य के अन्य अंगो पर भी लागू होती है, पर 'अबुधाना विबोधश्च' अर्थात मूर्खो को भी विशेष रूप से बोध कराने की बात तो केवल नाटक के दृश्य होने के कारण ही संभव हो पाती है। अतः अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह नाटक का महत्वपूर्ण होना स्पष्ट है। सुप्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक निकोल कहते हैं कि ''नाटक का अस्तित्व केवल लिखित या मुद्रित रूप में नही रहता।''[2] ''वस्तुतः नाटक तो रंगमंच पर ही जीवित रहता है, उससे हटकर वह पूर्ण प्रभावकारी रूप में प्रकट नही हो सकता है।''[3] ''नाटक लिखने का अर्थ ही है उसे रंगमंच पर अभिनीत करना।''[4] नाटक का रंगमंच पर प्रदर्शित होना ही काफ़ी नही है, बल्कि यह ज्यादा महत्वपूर्ण है कि नाटक का मंचन उत्कृष्ट पात्रों द्वारा हो रहा है कि नहीं। ऐसा इसलिए जरूरी है, क्योंकि श्रेष्ठ मंचन के बिना नाटक की कथावस्तु का संप्रेषण स्वाभाविक एवं सही रूप में नही हो पाएगा। इससे साधारणीकरण की प्रक्रिया बाधित होगी और इसका बाधित होना नाटक की असफलता का सूचक होगा, इसलिए सही पात्रों का चुनाव नाटक के मंचन के लिए बहुत जरूरी है। स्त्री-पुरुष या अन्य पात्रों का चुनाव करते समय बहुत ज्यादा सावधानी की जरूरत होती है, तथा इसके साथ-साथ यह भी उतना ही ज़रूरी होता है कि निर्देशक पात्रों के मनोभावों, उनके संदर्भगत व्यवहार और उनके मनोविज्ञान को कितना समझता है। इस संदर्भ में अगर हम नादिरा ज़हीर बब्बर के नाटकों को देखें तो स्पष्ट होता है कि, नादिरा ज़हीर बब्बर ने पात्रों का चुनाव बहुत ध्यान से किया है। इसके साथ-ही-साथ इन्होंने पात्रों के मनोविज्ञान को समझते हुए उनके डायलॉग को लिखा है, जो चरित्रों को विशेष तौर पर उभार कर सामने रखते हैं। इनके समस्त पात्र आईजेन्क के व्यक्तित्व के तीनो प्रकार, जो द्विध्रुवीय (bipolar) है, के मध्य

स्थित हैं। तात्पर्य यह है कि, अधिकांश स्त्री और पुरुष इन दोनों विमाओं के मध्य स्थित हैं। पुरुष पात्र भी न तो एकदम से देवता हैं ना दानव। हाँ, लेकिन कुछ पुरुष पात्र द्विध्रुवीयता के एकदम आखिरी छोर पर जरूर स्थित हैं। नादिरा जहिर बब्बर ने अपने पुरुष पात्रों में जीवंतता ला दी हैं। ये जीवंतता संदर्भगत संवाद योजना के कारण साफ़ तौर पर देखी जा सकती है । जिसके कारण नाटक मे सजीवता परिलक्षित होती है।

पुरुष-पात्र और मनोविज्ञान

किसी भी व्यक्ति में सेक्स मनोग्रंथि (sex complex) हो सकती है और तब ऐसी परिस्थिति में उसके मन में ज्यादातर सेक्स प्राप्ति संबंधित बाते आएँगी और उसका व्यवहार इसी से निर्धारित होगा। इस तरह से भिन्न-भिन्न ढंग से यह मनोग्रंथि यह निर्धारित करेगी कि व्यक्ति पर्यावरण का किस तरह से प्रत्यक्षण करता है। युंग ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, ''व्यक्ति में मनोग्रंथि नहीं होती है बल्कि मनोग्रंथि में वह होता है।''[5] जब व्यक्ति मे मनोग्रंथि का निर्माण हो जाता है तो फिर वह सिर्फ चेतन के अधीन न होकर चेतन के साथ बीच-बीच में रोक-टोक भी करने लगता है। इस तरह की मनोग्रंधि को हम 'सकुबाई' नाटक में मौजूद पात्र रूँगटा साहब और मिश्राइन में देख सकते हैं।

नादिरा ज़हीर बब्बर में मानव मनोविज्ञान की बहुत समझ है, तभी तो उनके नाटको के पात्र मैसलो के आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त (Maslow's Need Hierarchy Theory) के विभिन्न सोपानों पर व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर देखे जा सकते हैं; जैसे–'सुमन और सना' के आतंकवादी-1, आतंकवादी-2, सुमन, सना, मुहम्मद अली, शौकत, हरिकौल, नजमा, अमीना, और शांता आदि। तो वहीं, दूसरी ओर 'ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट' के कैप्टन कृष्णन, कैप्टन कंग, सुबेदार शरत, ले. हसनेन, मेजर गायकवाड़, हवलदार राठी, मातू और मोरेमी।

नादिरा जी के नाटकों मे फ्रायड के इदं (Id) से प्रभावित पात्र भी मौजूद है; जैसे–'जी जैसी आपकी मर्जी' मे हाकिम साहब हैं, जो अपने सौतेली बेटी का रेप करता है, तो वहीं 'सकुबाई नाटक में सकुबाई के मामा को इस संदर्भ मे देखा जा सकता है, जिसने बचपन में सकुबाई का रेप किया था जब अपने बुरे वक्त मे सकुबाई अपनी माँ के साथ उसके (मामा) के घर रहने आई थी। इसे हम सकु की माँ के कथन से समझ सकते हैं। सकु की माँ अपने छोटे भाई से कहती है–

अरे मेलया। तू शर्म से मर न गया ? ये तो तेरी बेटी जैसी थी न रवि ?'

सकु : मैंने कुछ नहीं किया आई। छोटे मामा ने मुझे बेहोश कर दिया आई।[7]

जेंडर के प्रश्न और पुरुष पात्र

जेंडर सामाजिक निर्मिति है। लिंग जहाँ जन्म से मौजूद होता है वहीं जेंडर समाज द्वारा संरचित है। नारीवादी विचारकों ने जेंडर की भूमिकाओं को सामाजिक गढ़न के रूप में देखा है। अन्ना ओकल (सेक्सः जेडर एण्ड सोसाएटी, 1972) के अनुसार, ''सेक्स का तात्पर्य, सेक्स के जैविकीय विभाजन से है तथा जेन्डर का अर्थ स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व के रूप में समानान्तर और सामाजिक रूप में असमान विभाजन से है।''[8] लिंग से संबंधित एक सर्वाधिक विशेषता हमें लिग-असमानता में देखने को मिलती है और यह विशेषता लगभग एक सार्वभौमिक विशेषता है। नादिरा ज़हीर बब्बर अपने नाटकों में लैंगिक असमानता को अपने पात्रों के माध्यम से लाती हैं, नाटक 'जी जैसी आपकी मर्जी' इस दिशा में एक प्रयास है। यह नाटक भारतीय समाज की मानसिकता को प्रतिबिम्बित करता है, चाहे तो धार्मिक मान्यताएँ हों, जो स्त्री का दम घोंट देती हैं या फिर रूढ़िवादी परंपराएँ। वहीं दूसरी ओर 'सकुबाई' पुरुषों के विभिन्न शेड्स द्वारा आदमी के कैरेक्टर को सामने लाती है और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तरीके से पुरुषों द्वारा स्त्रियों के मानसिक शोषण सामने आते हैं। सकुबाई जहाँ अपने संवादो में पूरे धमक के साथ मौजूद है, वहीं पुरुष पात्रों को सामान्य संवादों द्वारा दिखाया गया है। ये संवाद पुरुष पात्रों के संपूर्ण अभिव्यक्ति के प्रतिफल हैं, जिनको नादिरा जी ने गढ़ा है। 'सकुबाई' का व्यक्तित्व पुरुष पात्रों से दमदार दिखाई देता है, जो जगह-जगह अभिव्यक्त होता है-

सकुबाई : ए ऽ ऽ नाशपीटे।...हलकट।...बिजली का बिल कौन भरेगा...तेरा बाप...?[9]

अन्य सन्दर्भ में-

मैं बोली : वो आप मेरे ऊपर छोड़ दो। वो साली जाँडी को मैं सीधा कर दूँगी।[10]

वहीं नाटक 'ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट' पुरुष प्रधान होने के कारण संवादों में विविधता प्रस्तुत करता है, जो पुरुषों के व्यक्तित्व, ओहदे और सामाजीकरण के विभिन्न मानदण्डों से संरचित स्वरूप में अभिव्यक्त होता है; जैसे-

कै. कृष्णा : Rathi I am warning you. अपने अधिकारी से बात करने का Manner नहीं है।[11]

हव. राठी : मैंने ऐसा कुछ नही किया जो वार्निंग

मिले ।[12]

कै. कंग : shut up![13]

अन्य सन्दर्भ :

मे. गायकवाड़ : He is a joker.[14]

कै. कृष्णन : जोकर-वोकर कुछ नहीं lj... He is a Rascal.[15]

सुबे. शरत : Sir if you don't mind.[16]

कै. कंग : I mind yaar ! तू अपनी बोतल निकाल न ।[17]

पुरुष पात्र और यौनिकता

यौनिकता मनुष्य होने का एक केन्द्रीय आयाम है, जो जीवन भर मौजूद रहता है। सेक्स और जेंडर आधारित पहचान व भूमिकाएँ, यौनिक रूझान, कामुकता, आनंद, अंतरंगता व प्रजनन आदि सभी इसमें शामिल हैं। यौनिकता को विचारों, कल्पनाओं, कामनाओं, विश्वासों, रवैयों, मूल्यों, व्यवहारों, तौर तरीकों, भूमिकाओं और संबंधो में अनुभव से अभिव्यक्त किया जा सकता है। यों तो ये सभी आयाम यौनिकता का हिस्सा हो सकते है, पर इन सभी को हमेशा अनुभव या अभिव्यक्त नही किया जा सकता है। यौनिकता शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, सामाजिक, कानूनी, धार्मिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक कारकों से प्रभावित होती है। यौनिकता का अस्तित्व केवल सामाजिक रूपों और सामाजिक रचना के जरिए ही है। एलेन रॉस एवं रेनर रैप लिखते हैं, ''जिस तरह सामाजीकरण की प्रक्रिया रीति-रिवाजों, पहनावे या खान-पान के सापेक्ष होती है, उसी तरह उतना ही यौनिक सामाजीकरण भी हर संस्कृति के प्रति उतना ही सापेक्ष होता है।''[18] इस प्रकार यौनिकता की सामाजिक संरचना में मोटे तौर पर ये पाँच क्षेत्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कुटुंब और परिवार व्यवस्थाएँ, आर्थिक व सामाजिक ढाँचा, सामाजिक नियमन, राजनीतिक हस्तक्षेप और 'प्रतिरोध की संस्कृतियों का विकास।

इस संदर्भ में हम नादिरा ज़हीर बब्बर के नाटकों को लें तो यह स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है कि, पात्र अपनी संपूर्ण यौनिकता के साथ मौजूद रहते हैं, जिसके कुछ या अनेक आयाम विभिन्न संदर्भों में प्रकट होते हैं, जो नाटकों के स्वाभाविक विकास एवं गति के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। कोई भी नाटक लेखक और नाट्य-निर्देशक तभी सफल हो सकता है जब वह अपने नाटक के पात्रों को उनके जेंडर, यौनिकता, उसके मनोविज्ञान, परिस्थिजन्य क्रिया व्यवहार और विकास को सटीक तौर पर प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में नादिरा जहीर बब्बर को देखें तो, हम उन्हे बहुत हद तक सफल पाते हैं। उनके नाटक 'जी जैसी आपकी मर्जी, 'दयाशंकर की डायरी', 'सुकुबाई', 'सुमन और सना' और 'ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट' इन उपर्युक्त आयामों पर खरा उतरने की कोशिश करते हैं। पुरुष पात्रों के साथ स्त्री पात्र भी व्यापक संवेदना और समझ के साथ मौजूद हैं। पुरुष पात्र व्यक्तित्व विकास की द्वि-विमाओं में स्थित और विकसित होते हैं।

भाषा, पुरुष पात्र और अस्मिता

अस्मिता या पहचान का पद अक्सर मनुष्य की वैयक्तिकता या समुदाय/समूह के साथ उसके रिश्ते को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अस्मिता कोई फिक्स अवधारणा नही है। यह फ्लूड अवधारणा है, जिसमें संदर्भ एवं परिस्थिति में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह मान लेना की कोई स्त्री या पुरुष हर परिस्थिति में एक ही अस्मिता को धारण करता हैं, तो यह कहना गलत होगा। जार्ज हरबर्ट मीड ने 'मैं' और 'मुझे' की दो जुड़वा अवधारणाओं को प्रस्तुत किया, जो व्यक्ति की अस्मिता से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुडती हैं। मीड ने 'मैं' की अवधारणा का प्रयोग व्यक्तिगत अथवा सम्पूर्ण 'स्व' के उस भाग अथवा पक्ष को इंगित करने के लिए किया है जिसकी रचना स्वतः स्फूर्त चालकों तथा इच्छाओं द्वारा होती है। व्यक्तित्व के 'मैं' पक्ष को प्रत्यक्ष रूप में जानना और अनुभव करना एक व्यक्ति के लिए कठिन होता है। इसकी अनुभूति व्यक्ति को तभी होती है, जब वह किसी सामाजिक घटना के प्रति अपनी कोई व्यक्तिगत तथा अत्यन्त विशिष्ट प्रतिक्रिया करता है। 'मैं व्यक्तित्व-रचना के व्यक्तिपरक तथा रचनात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यह सामाजीकरण की उपज है और इसका विकास समुदाय के दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। हम कह सकते हैं कि 'स्व' की अविकसित अवस्था 'मैं' का और विकसित अवस्था 'मुझे' का प्रतिनिधित्व करती है। 'मुझे' सामाजिक रूप से निर्मित 'स्व' है जबकि 'मैं' जैविकीय 'स्व' को प्रकट करता है। इसमें भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका को निश्चित रूप से महसूस एवं व्यक्त किया जा सकता है। भाषा और अस्मिता के संबंधो को देखते हुए कह सकते हैं कि, व्यक्ति की व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय अस्मिता निर्माण में भाषा एक महत्वपूर्ण कारक है, जो प्राथमिक सामाजीकरण से होते हुए द्वितीय सामाजीकरण तक जाती है, और उससे आगे भी। यह सामाजीकरण व्यक्ति के सामाजिक संवादों और कार्यों के द्वारा अभिव्यक्त होता है और यह अभिव्यक्ति उसके

अस्मिता के स्वरूप को स्पष्ट करती है।

नाटक में, अगर हमें पात्रों की अस्मिता निर्मिति को देखना है, तो हम कैसे देखेंगे ? निश्चित रूप से पात्रों के मध्य निर्मित संवादो एवं इनके लिए दी गई जानकारी के माध्यम से। कोई भी नाट्य लेखक या नाट्य निर्देशक पात्रों को उनके स्वाभाविक विकास के साथ तभी दिखा सकता है जब वह उनके अस्मितामूलक तत्वों कों सही तरह से, सही संदर्भो में प्रस्तुत करे । नादिरा जहीर बब्बर ने भाषा के सही और सार्थक प्रयोग द्वारा अपने नाटकों में पुरुषों को हाशिए पर नही रखते हुए महत्वपूर्ण स्थान दिया है, जो उनके सामाजिक, भाषिक स्वरूपों में स्पष्ट है। अस्मिता के भाषायी तत्वों को कई आधारों पर देखा जा सकता है; जैसे–शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, भौगोलिक, जातीय और राष्ट्रीय आदि। लगभग ये सभी तत्व नादिरा ज़हीर बब्बर के नाटकों में देखे और महसूस किए जा सकते हैं।

पुरुष पात्र और सामाजिकता

सामाजिकता कही-न-कहीं जेंडरिंग से जुडी हुई है। व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार उसके पालन-पोषण, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, सामाजिक नियमों, धार्मिक ज्ञान और सत्ता के नियमों से निर्मित एवं संचालित होते हैं; सामाजीकरण की भूमिका भी इसमे महत्वपूर्ण है। गलत सामाजीकरण का ही प्रभाव है कि 'दयाशंकर की डायरी' नाटक का मुख्य पात्र दयाशंकर अपने सपने के पूरा न हो पाने के कारण टूट जाता है; वह यथास्थिति को स्वीकार नहीं कर पाता है और अंत मे पागल हो जाता है । नादिरा ज़हीर बब्बर के अन्य नाटकों के पुरुष पात्र इस सामाजिकता से इतर नही हैं; वे अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ मौजूद है, जिन्हें हम संवादों के माध्यम से समझ सकते हैं–

(ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट से)

मे.गायकवाड़ : sentimental बातें करने की जरूरत नही है।[19]

मोरोमी : sentimental बातें नहीं सर, मैंने प्रैक्टिकल देख लिया है। मैने जो बरसो से नही देखा, वो आज कुछ घण्टों में सीख लिया।20

(सुमन और सना से)

लड़का-2 : अगर मरना ही है तो अकेले नहीं दस को साथ लेकर मरेंगे।[21]

मुख्तार दादा : शाबाश! वो तुम्हे मारे तुम उनको मारो। वो तुम्हारी मस्जिदें तोड़ दें तो तुम उनके मंदिरों को आग लगा दो।[22]

'ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट' से संबंधित संवाद भारतीय जवानों के देश के प्रति उनके प्रेम को बताता ही है, साथ-ही-साथ इन वीर सैनिकों के इंसानियत पर भी प्रकाश डालता है। वहीं, दूसरा संवाद नादिरा जी के उपन्यास 'सुमन और सना' से है जो दंगे के शिकार हुए उन लोगों के बारे में है, जिन्हे अपने घरों को छोड़कर भागना पड़ा। ये दोनो संवाद पूरी तरह से अपने संदर्भो को जीवित कर देते हैं।

निष्कर्ष

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि नादिरा ज़हीर बब्बर ने अपने नाटकों मे पुरुष पात्रों को उनके व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तथा इसमे पुरुष पात्रों से संबंधित उनकी यौनिकता, भाषा, पहचान, मनोविज्ञान तथा जेंडर से संबंधित तथ्यों को प्रस्तुत करने में नादिरा ज़हीर बब्बर जी ने सफलता भी पाई है ।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, श्लोक-110
2. (a)...the drama may never be taken to exist as merely a written or a printed work of literature- & Theory of Drama: Nicole, p. 31
   (b) 'A drama is never really a story told to an audience, it is a story interpreted before an audience by a body of actors'n Theory of Drama: Nicol, p. 31.
3. Play truly Lives in Performance alone & Drama: Ashlay Dukes, p. 28
4. (a) 'A drama is written to be Performed-* & The Art of the Drama: Eades Bentley, p- 7
   (b) 'Drama is written for the theatre* &The Theory of Drama: Nicol, p. 72
5. अरूण कुमार, उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, बनारसी लाल पब्लिकेशन हाउस, दिल्ली, 2010, पृ. 967
6. नादिरा जहीर बब्बर, सकुबाई, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 31
7. नादिरा ज़हीर बब्बर, सकुबाई, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 31
8. हरीकृष्ण रावत उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश, रावत पब्लिकेशन हाउस, पृ. 203
9. नादिरा जहीर बब्बर, सकुबाई, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2018 पृ. 46
10. नादिरा जहीर बब्बर, सकुबाई, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 52
11. नादिरा ज़हीर बब्बर, ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट, वाणी प्रकाशन,

दिल्ली, 2008, पृ. 19
12. नादिरा ज़हीर बब्बर, ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 19
13. वही, पृ. 19
14. नादिरा ज़हीर बब्बर, ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 27
15. वही, पृ. 27
16. वही, पृ. 28
17. वही, पृ. 28
18. रंजीत अभिज्ञान और पूर्वा भारद्वाज (सं.) जेंडर और शिक्षा रीडर, वर्ष 2011, पृ. 151
19. नादिरा ज़हीर बब्बर, ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 58
20. वही, पृ. 58
21. नादिरा ज़हीर बब्बर, सुमन और सना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ. 54
22. वही, पृ. 54

अजीत कुमार सिंह
शोधार्थी (पीएच.डी)
दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध निर्देशक, डॉ. मधु कौशिक
एसोशिएट प्रोफेसर
रामानुजन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वंशानुगत व्यवसाय पर प्रहार करती कहानी 'मिट्ठू की विरासत'

—नेहा कन्नौजिया

हिन्दी दलित साहित्य की विचारक, कथाकार, कवयित्री, संपादक आलोचक एवं महिला मुद्दों की सशक्त हस्ताक्षर डॉ रजत रानी 'मीनू' जी ने सामाजिक मुद्दों को बहुत सूक्ष्मदर्शी के साथ कहानी में केंद्रित किया है। लेखिका का महत्वपूर्ण कहानी संग्रह हम कौन हैं? सन् 2012 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है। कहानी संग्रह में संकलित 'मिट्ठू की विरासत' कहानी भारतीय समाज में दलितों की स्थिति का दग्ध एवं प्रमाणित दस्तावेज है। जिसमें अस्पृश्यता और जाति भेदभाव की जटिल जड़ें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

दलित साहित्य से तात्पर्य दलित जीवन और उसकी समस्याओं पर लेखन को केंद्र में रखकर हुए साहित्यिक आंदोलन से है। दलित प्रश्नों को लेकर अमेरिका के ब्लैक पैंथर की तर्ज़ पर महाराष्ट्र में एक जुझारू संगठन दलित पैंथर का जन्म सन् 1973 में हुआ। दलितों को हिन्दू समाज व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर होने के कारण न्याय, शिक्षा, समानता तथा स्वतंत्रता आदि मौलिक अधिकारों से वंचित रखा गया। उन्हें अपने ही धर्म में अछूत और अस्पृश्य माना गया। बाबा साहब डॉ भीमराव अम्बेडकर ने 1919 साउथवरो कमीशन के समक्ष दिए गए साक्ष्यों में कहा था ''स्वराज्य जैसे ब्राह्मणों का जन्मसिद्ध अधिकार है वैसे ही अछूतों का भी जन्मसिद्ध अधिकार है।" भारतीय दमनकारी भी सवर्ण हिन्दू है और दलित भी हिन्दू है जिन्हें जन्मजात जाति के आधार पर तो अछूत शूद्र बनाया ही गया साथ में उनका धर्म और शास्त्र द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों स्तर पर विकास प्रतिबंधित कर दिया गया। दलित सिर्फ सवर्णों के मनोरंजन का साधन है और शोषण का आधार है वह जैसे चाहे उनसे काम ले सकते हैं और लेते आ रहें हैं जैसा कि कहानी में देखा जा सकता है। भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के आधार पर जो जातिगत बंटवारा हुआ है यह पूर्णतः असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है।

यह घटना बदायूं के आसफपुर में स्थित बिजली घर के ऑफिस की है। इस छोटी सी कॉलोनी में पंडित, ठाकुर, तेली, कायस्थ, मुसलमान और दलित सभी जातियों के लोग रहते हैं। भारत विविधताओं का देश कहलाता है। यहां विभिन्न

धर्मों और संस्कृतियों के लोग अपनी अस्मिता के साथ निवास करते हैं। कहानी का आरंभ मिट्ठू नामक पक्षी से होता है। जिसमें लेखिका ने प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करते हुए मिट्ठू की स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है। मानो ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी ने बंद तहखाने का दरवाज़ा खोल कर सदियों से दबे रहने को मजबूर यथार्थ कंकाल निकल बाहर रख दिये हैं जिससे पूरा बाहरी जगत बेखबर था, हालांकि भारतीय समाज अपने इस कृत्य को अपना अधिकार मानता है। न जाने ऐसी कितनी सुरंगों में कंकाल बना लड़ रहा था या कहूं आज भी लड़ने को मजबूर किया जा रहा है समाज का एक हिस्सा। ऐसे कितने तहखानों की गिरफ्त में बंद मुद्दों को सामने लाने का प्रयास लेखिका ने अपनी कहानी के माध्यम से किया है। दलित मिट्ठू खुले आकाश के स्वतंत्र मिट्ठू की भांति सन् 1947 को ही आजाद हो गया था। वह भारत का स्वतंत्र नागरिक है परंतु वह खुले आकाश के स्वतंत्र मिट्ठू की तरह ज़मीन के लोगों से घुल-मिल नहीं पाया उसके भीतर सदैव भय बना रहता अभिजात्य लोगों का। किसी भी पक्षी या मनुष्य को पिंजरे या धर्म की बेड़ियों में गुलाम बनाकर नहीं रखा जा सकता। दलित व्यक्ति के साथ सम्मानजनक व्यवहार किया जाए तो वह भी समाज में व्यक्तियों से बिना किसी हीनभावना और बिना किसी भय के अधिक घुल-मिल जाएगा ऐसा ही वातावरण निर्मित करना दलित साहित्य का उद्देश्य है।

मिट्ठू साठ-बासठ वर्षीय मधुर वाणी, कर्मठ व्यक्तित्व, सहज एवं निश्छल स्वभाव का व्यक्ति है। मिट्ठू सरकारी नौकरी करता है वह किसी का निजी नौकर नहीं है यह बात सदैव सवर्ण समाज के लोग भूल जाते क्योंकि वह प्राचीन काल से सेवा लेने के आदि हो चुके हैं। एक दिन मिट्ठू कॉलोनी में नहीं आए तो समूचे संस्थान की सफाई सिर चढ़ने लगती फिर मिट्ठू के प्रति प्रेम हवा हो जाता और क्रोध से त्योरियां चढ़ जाती। सवर्ण समाज को अपने लाभ और स्वार्थों के आगे मिट्ठू की बीमारी से कोई सरोकार नहीं है उनको बस अपना काम समय पर चाहिए। चाहे कैसी भी हालत में करना पड़े। ऑफिस में झाड़ू लगाने के बाद मिट्ठू निस्वार्थ भाव से क्वार्टर्स की सफाई करता साथ ही आंगन बुहारता और शौचालय की सफाई करने के बाद भोजन के लिए उसे कप में सब्जी दी जाती और रोटियां लेते वक्त वह दोनों हाथों को घुटनों के बीच से बाहर निकालकर हथेलियों को सामने की ओर फैलाता जैसे उसके हाथों में अस्पृश्य की हथकड़ियां पड़ी हो, वह कोई भयाक्रांत क़ैदी हो।

लेखिका ने दलित समाज का प्रतिनिधित्व करते पात्र मिट्ठू के माध्यम से सवर्ण समाज का चेहरा बेनकाब किया है। 15 अगस्त को झंडा फहराने के लिए कतारों में आगे विभागीय अधिकारी, बिजली उपभोक्ता, कर्मचारी और अन्य बच्चे खड़े होते हैं। किन्तु आजादी के महोत्सव में सबसे पीछे खड़ा होता है मिट्ठू। राष्ट्र-गानउपरांत बूंदी के लड्डू मिट्ठू को सबसे बाद में दिए जाते। वह मंदिर के प्रसाद की भांति माथे पर लगाता और उदास मन से कहता यह हमारी आजादी के लड्डू है। कहानी में मिट्ठू जागरूक पात्र है। वह जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के चालाकी से बनाए गए नियमों से बहुत गहरे तक परिचित है। बस कानूनी तौर पर आजादी प्राप्त हुई है। व्यावहारिक तौर पर उसको अछूत बने रहने के लिए बाध्य किया जाता है। इसी कारण भारतीय समाज में कोई बुनियादी परिवर्तन नज़र नहीं आता।

कहानी में लेखिका मिट्ठू की स्थिति का ब्योरा इस प्रकार प्रस्तुत करती है। अस्पृश्यता की समस्या को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से दिखाने का प्रयास किया गया है। मिट्ठू अपना सफाई का कार्य मेहनत और ईमानदारी से करता। मिट्ठू को सरकारी नल से पानी पीने की स्वतंत्रता नहीं है। वहीं अन्य लोग शौच के बाद भी नल चलाकर अपने हाथों को धो सकते थे परंतु स्वयं नल चलाकर पानी नहीं पी सकता था मिट्ठू। पानी पीने के लिए नल को हाथ लगा लिया तो मिट्ठू को नियम, कानून याद कराए जाते और उसे खबरदार किया जाता, साथ ही धमकियां दी जाती। जब तक कोई आ न जाए उसको प्रतीक्षा करनी पड़ती ऐसा सख्त आदेश था उच्च जाति के लोगों का। सफाई के बाद पानी उसे दूर से फेंककर दिया जाता ताकि उच्च जाति के लोग स्वयं अपवित्र न हो जाए। हाथ धोने के बाद पानी को कभी झाड़ता नहीं था क्योंकि उसके हाथ के छींटे किसी को दूषित न कर दे इन सब बातों का ध्यान बहुत सावधानी से रखता था। वह अपने हक के लिए किसी से बोल नहीं सकता। किसी की तरफ आंखों से आंखें नहीं मिला सकता। हां आंखें नीचे किए सलाम जरूर कर सकता है, उच्च जाति के लोगों और उनके बच्चों के नाम नहीं ले सकता, तथाकथित उच्च जाति से बात करते समय पर्याप्त दूरी बना कर रखता, रास्ते में कोई सवर्ण टकरा न जाए पहले ही उस जगह से हट जाता। सेवा लेने वालों को यह कार्य कभी गलत नहीं लगा। यही बात लेखिका को अखरती है जिसके कारण उनकी लेखनी में विरोध और नकार भाव उत्पन्न होता है।

हमारा देश अमीरी-गरीबी, जात-पांत की वरिष्ठता एवं कनिष्ठता जैसी चोटों से कराह रहा है। प्यार और सहयोग

की दरकार रखने वाला आदमी जाति विषयक मामलों में आदमी से घृणापूर्ण अनुदार व्यवहार कर रहा है। जातीय संकीर्णता हावी होने पर छोटी-बड़ी सभी जाति के व्यक्ति मानवता के उच्च सिद्धांतों को भूल जाते हैं। छुआछूत जाति व्यवस्था की पुत्री है। इसलिए जब तक मां को नहीं मारा जाएगा तब तक उसकी संतान नहीं मर सकती। ऐसे बीमार संबंधों के कारण समाज में समता और सहृदयता कदम-कदम पर घायल होती है।

''इन्सानियत की नहीं कोई कीमत
और न कोई पदवी है सद्चरित्र की
जात-पांत के सांचे में ढ़लकर
यहां परख होती है मानव की यहां।
आदर-निरादर भी तुल सकता है
जात-पांत की तराजू से।''

बदलते समय में जातियों की जटिलताएं बढ़ती गई। जातियों में से अनेक उपजातियों का जन्म हुआ। निम्न बनाई गई जातियों के आपस में भी प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या देखने को मिलती हैं और इसका फ़ायदा कथित उच्च जाति के लोग उठाते हैं। दलितों का विकास अवरूद्ध होने का एक कारण उसी की जाति और समाज के लोगों द्वारा उसको प्रगति करने से रोकना। जब मिट्ठू बारिश की समस्या से परेशान होकर घर बनाने का इरादा करता है। उसके घर के आगे कच्ची ईंट के स्थान पर पक्की ईंट देखकर उसी की जाति के लोग दबाव बनाते हैं कि एक बार हमसे और ठाकुरों से पूछ लेते घर बनवाने की। हमको हिसाब किताब देन होत है ठाकुर और पंडित जी को लिखत-पढ़त करवानी होत है मुंशी जी से। पुनः मिट्ठू कहता है कि जब मेरी कुठरिया चुई रही थी तब कोई पिरधान देखन ना आयौ। हम कैसे रहत हैं, का खात हैं, का पीयत हैं। अब तेरो बाप पिरधान बन गयौ तो हमें अपनौ सिर छिपावन कूं भी पूछनो पड़ेगों? काउ दूसरों को सुख देखि कै तुम्हारी छाती फटत है।

''यहां सांस लेती है वह कुत्ता संस्कृति
जो आदमी को आदमी से काटती-बांटती है
धन- धरती और रिश्तों को गैर-बराबरी के साथ
भौंकती है अपनी ही नस्ल पर और दूसरों की
नस्लों के तलुए चाटती है।''

पैतृक व्यवसायों विशेषकर अछूत वर्णों के लिए घृणित व्यवस्था में जैसे मृत पशुओं का चर्म छीलना,मैला ढोना इत्यादि कार्य उनसे कराए गए और सम्मानित व्यवसाय वंश परम्परा से लोगों को दिए गए इस प्रक्रिया में व्यक्ति के गुणों- अवगुणों और कर्मगत विशेषताओं की उपेक्षा हुई। एक बहुत बड़ा वर्ग क्षमताएं विकसित कर लेने के अवसरों से वंचित रहने के कारण विभिन्न क्षेत्रों में अविकसित रह गया और इस व्यापक सामाजिक बुरी स्थिति का दुष्परिणाम समूचे देश की प्रगति पर पड़ा। भारतीय संविधान द्वारा वंशानुगत असमानता, अस्पृश्यता उन्मूलन, धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म के आधार पर अनुच्छेद निर्धारित कर भेदभाव निषेध कर दिया गया और वर्ग एवं जातिविहीन समाज की रचना व्यवस्था की। लेकिन रूढ़िवादी भारतीय समाज में अभी भी हठीली जातिवादी व्यवस्था अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए जीवित है।

''अब तो चेत दलित मेरे भाई
ईश्वर वेद सकल झूठे, झूठी जाति बधाई।''

अतः दलित समाज का साहित्य वर्चस्व की संस्कृति से जुड़े उन सारे सवालों को उठाता है और उनसे संवाद करते हुए टकराने की कोशिश करता है। लेखिका अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ी है। सामाजिक चेतना उनके लिए सर्वोपरि है। समाज के दुःख दर्द उन्हें ज्यादा पीड़ा देते हैं। इसके उन्मूलन के लिए उन्होंने लेखन का रास्ता चुना है।

संदर्भ

1. हम कौन हैं?, डॉ रजत रानी मीनू, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नयी दिल्ली, संस्करण 2012
2. नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, डॉ रजत रानी मीनू, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था नयी दिल्ली, संस्करण 1996
3. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2014
4. अस्मितामूलक विमर्श और हिन्दी साहित्य, डॉ रजत रानी मीनू एवं वन्दना, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2016
5. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2016
6. आधुनिकता के आईने में दलित, अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2002

नेहा कन्नौजिया
शोध छात्रा
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

मीरा की कविता में प्रतिरोध का स्वर

—राम बचन यादव

सामन्ती युग में आर्थिक असमानता के साथ ही साथ समाज में धार्मिक व सामाजिक असमानता भी बढ़ी। सामन्ती समाज में जो हाथ से खाने-पहनने की चीजें नहीं पैदा करता था, वह ऊँचा समझा जाता था, जो हल चलाता था, कपड़े बुनता था, मजदूरी करता था, जूते बनाता था, वह नीच समझा जाता था। इसी श्रम-विभाजन के आधार पर वर्ण-व्यवस्था, जाति व्यवस्था व स्त्री-पुरुष में छोटे-बड़े का भेद उत्पन्न होता है। सम्पत्ति का स्वामी पुरुष होता है क्योंकि वह युद्ध करता है, शास्त्र रचता है, व्यापार करता है और स्त्री दासी या निम्न समझी जाती है, क्योंकि वह घर की चहारदीवारी में ही सीमित रह जाती है। जाति-पाति, छुआ-छूत, ऊँच-नीच, स्त्री को सिर्फ भोग की वस्तु समझना, धर्म को शोषण के रूप में इस्तेमाल करना, श्रमिकों के प्रति गन्दी मानसिकता आदि मूल्य जो आज भी भारतीय समाज के सर्वांगीण विकास में बाधक बने हुए हैं, सामन्ती मूल्य ही हैं। इन्हीं सामन्तों, धर्म के ठेकेदारों व सामन्ती मूल्यों को निगलने के लिए मध्यकाल में एक सुनामी की लहर उफनती है, जिसे भक्ति आन्दोलन का नाम दिया जाता है। मीरा इसी भक्ति आन्दोलन की अद्वितीय देन हैं।

भक्ति आन्दोलन सिर्फ धार्मिक आन्दोलन न होकर व्यस्थित रूप में एक सामाजिक, सांस्कृतिक और विचारधारात्मक आन्दोलन था। यह आन्दोलन दबे-कुचले लोगों का वर्चस्ववादियों के खिलाफ विद्रोह था। सामन्ती-समाज व्यवस्था के विरुद्ध भक्ति-आन्दोलन निम्न जातियों एवं निम्नवर्गों में विद्रोह की भावना जागृत करता है तथा उन्हें संघर्ष, सम्मान व अधिकार का पाठ पढ़ाता है। भक्ति-आन्दोलन ने सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था में गहरे तक विद्यमान और स्वीकृत भेदभावों के विरूद्ध, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक समरसता और समतावादी विचार मूल्यों पर बल दिया। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि- ''भक्ति-आन्दोलन व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति के दूसरे रूपों में दिखाई देती है। वास्तव में यह सामन्ती संस्कृति के विरूद्ध जनसंस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आन्दोलन है।''[1]

लोक जागरण की इस लहर में मीरा भी, कबीर, रैदास, जायसी, सूर, तुलसी व अन्य भक्त कवियों की तरह ऊपर उठकर आती है। मीराबाई के जन्म की तिथि अनिश्चित और विवादास्पद है। फिर भी, हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचकों एवं इतिहासकारों द्वारा उनका जन्म 1498 ई. (संवत 1555) तथा निधन 1546 ई. (संवत 1603) स्वीकार किया गया है।

इनका विवाह मेवाड़ के सिसोदिया राजपूत शाही खानदान में हुआ था। इनके पति की पहचान को भी लेकर विद्वानों में मतभेद है। पारम्परिक रूप से तो उन्हें महाराणा कुंभा की पत्नी माना जाता है। परन्तु अब ज्यादातर विद्वान मानते हैं कि प्रख्यात योद्धा राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से इनका विवाह हुआ था। मीरा की रचनाओं की कुल संख्या ग्यारह बतायी गयी हैं जैसे- 'गीत-गोविन्द की टीका', 'नरसीजी का मायरा', 'राग सोरठा का पद', 'मलार राग', 'राग गोविन्द', 'सत्यभामानुं रूसणं', 'मीरा की गरवी', 'रूक्मिणी मंगल', 'नरसी मेहता की हुंडी', 'चरित' और 'प्रस्फुट पद'। इनमें से स्फुट पदों को छोड़कर शेष रचनाएँ अप्रमाणिक हैं। उनके स्फुट पद 'मीराबाई की पदावली' नाम से प्रकाशित हैं।

किंवदंती के अनुसार एक बार बचपन में मीरा ने अपनी माँ से पति का अर्थ जानने की जिद्द की। माँ ने कहा कि हर लड़की का कोई न कोई पति होता है। इस पर मीरा ने पूछा कि मेरा पति कौन है? उसके लगातार सवालों से तंग आकर माँ ने कृष्ण की प्रतिमा की तरफ इशारा करते हुए कहा- यह है तुम्हारा पति और इसके बाद से ही मीरा खुद को कृष्ण की पत्नी मानने लगीं।

मीरा को जीवन भर कठोर संघर्ष करना पड़ा। वह बचपन में माँ की ममता से वंचित हो गईं। पिता रत्नसिंह वीरगति को प्राप्त हुए। चचेरे भाई जयमल मीरा को बहुत मानते थे; वे भी युद्ध में मारे गये। पति भोजराज का निधन भी विवाह के कुछ ही वर्षों के बाद हो गया। ऐसे में मीरा का जीवन त्रासदी भरा रहा। जब वह विधवा हुईं तो उनकी अवस्था पन्द्रह-सोलह की ही थी। उस समय के सामन्ती समाज की प्रथा के अनुसार उन्हें पति की चिता पर सती हो जाना चाहिए था। लेकिन सती न होकर उन्होंने भक्ति का मार्ग चुना।

मीरा का समय वह समय है जब सामन्तवाद, वर्णवाद और पितृसत्तात्मक मूल्य आम जन मूल्यों का गला घोंट चुके थे। स्त्री के लिए भक्ति करनी तो दूर वह घर की चहार दीवारी से बाहर भी नहीं जा सकती थी। उस समय एक सामान्य स्त्री का स्वतंत्र विचरण करना, खुले में नाचना-गाना, साधु-संतों के साथ सत्संग करना अनैतिक आचरण व घोर अपराध था। ऐसे में मीरा तो सिसोदिया वंश की राजकुमारी ही थीं। चूँकि मेवाड़ का सिसोदिया वंश राजपूतों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था, ऐसे में राणा सांगा की पुत्रवधू का यह स्वच्छन्द आचरण राजपरिवार को कैसे सह्य हो सकता था। राजपरिवार द्वारा सहेजने पर भी जब वह अपनी ही धुन चलती जाती तो उन्हें अनेक प्रताड़नाएँ दी गयीं। सामन्ती मानसिकता का शिकार वह एक बार नहीं बार-बार होती रहीं, फिर भी सामन्ती मूल्यों को चुनौती देती रहीं।

उत्तर आधुनकिता के इस दौर में जब स्वतंत्रता का दंभ भरा जा रहा है, बहुत सी स्त्रियों को बाहर नहीं निकलने दिया जाता है, उन पर अपने मत को बलात् थोपा जाता है, एक वस्तु व अभिशाप के रूप में देखा जाता है, तब यह सोचकर आश्चर्य होता है कि जिस तत्कालीन समय व समाज से मीरा लड़ रही थीं, कितनी संकीर्णताओं भरा रहा होगा। ऐसे में मीरा आज की आधुनिक स्त्री से ज्यादा साहसी और क्रान्तिकारी हैं। मीरा के कृतित्व व व्यक्तित्व के संदर्भ में हिन्दी आलोचक 'प्रभाकर श्रोत्रिय' द्वारा की गयी यह टिप्पणी बहुत ही सार्थक है- ''सिर्फ विचार में नहीं व्यवहार में मीरा समाज के अन्तिम व्यक्ति से लगाकर पहले व्यक्ति तक के बंधन काटती हैं। समाज की अन्तिम बंधक है स्त्री और पहली बंधक है राजरानी या भद्र स्त्री। इसलिए जब मीरा बंधन काटकर बाहर आती हैं सड़क पर तो एक साथ कई बंधन तड़ातड़ टूटते हैं। पहला अन्तःपुर का, दूसरा घराने का, तीसरा वैभव का, चौथा समाज का, पाँचवाँ देश का, छठाँ काल का और सातवाँ विवाह का। तब कहीं एक राजरानी की मुक्ति होती है।''[2]

मीरा को तो बहुतों ने कष्ट दिया, बहुतों ने कुलनाशी, कुलक्ष्मी की संज्ञा दी लेकिन उनको कष्ट देने वालों में सिरमौर था राणा। यह राणा न उनका पति था न श्वसुर। यह राणा था उनका देवर विक्रमाजीत सिंह। विक्रमाजीत सिंह अयोग्य शासक था। वह पूरी तरह पतनशील सामन्ती मूल्यों का संवाहक था। मीरा ने अपने पदों में जिस राणा को बार-बार याद किया है, चुनौती दी है वह यही राणा विक्रमाजीत सिंह है।

मीरा का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त यातनापूर्ण और विषादयुक्त रहा है। उनके जीवन का यह विषाद उनकी कविता के मूल में विद्यमान है। सामन्ती व्यवस्था में यह विषाद सामाजिक बन्धनों और प्रताड़नाओं से उपजा है। यह विषाद मीरा का निजी तो है ही, मध्यकाल की शोषित-पीड़ित नारी समाज का भी है। वास्तविक जीवन संघर्ष के कारण मीरा का दुःख निजी और तीव्र है। पतनशील सामन्ती व्यवस्था से टकराने के कारण सामाजिक और गतिशील। मध्यकालीन समाज में अवर्णों को सवर्णों के समान होने के लिए सनातनी मूल्यों और वर्णव्यवस्था से टकराना पड़ा तो स्त्रियों को परम्परा रूढ़ि, कुरीति और छद्म कुल मर्यादा से। मीरा जब अपने पदों में बार-बार लोक लाज, कुलकी मर्यादा को तोड़ने की बात करती हैं,

तब उसी बंधन की तरफ संकेत करती है।

मीरा लोकलाज और कुल की छद्म मर्यादा को नकारती हुई कहती हैं :

''माई सांवरे रंग राची।
साज सिंगार बांध पग घूंघर, लोक लाज तज नाची।
गयां कुमत लयां साधां संगत, श्याम प्रीत जग सांची।
गायां गायां हरिगुण निसदिन, काल व्याल की बांची।
स्याम बिणा जग खारो लागां, जगरी बातां कांची।
मीरा सिरि गिरिधर नट नागर, भगति रसीली जांची।''[3]

मीरा को इन सामन्ती मूल्यों से, जो स्त्री को मर्यादा का पाठ पढ़ाते हैं, और धर्म, परम्परा की आड़ में उसकी अस्मिता को तार-तार करते हैं, से कोई मोह नहीं हुआ। वह तो इन अमानवीय मूल्यों को गंदे पानी की तरह बहा देती हैं :

''लोकलाज कुल काण जगत की, दइ बहाय जस पाणी।
अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौराणी।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी।
सब संतन पर तन मन वारों, चरण कँवल लपटाणी।
मीरा को प्रभु राखि लई हैं, दासी अपणी जाणी।''[4]

मीरा सूरदास की उन गोपिकाओं की तरह हैं जो मुरली की धुन सुनते ही लोक लाज की मर्यादा को छोड़ देती हैं। यह कुल की मर्यादा सामन्ती मर्यादा है जो पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर लादी गयी है। स्त्री के लिए सबसे बड़ा बन्धन यही है। मीरा जब लोकलाज की सब कृत्रिम शृंखलाओं को तोड़ती हैं तो वह सामन्ती व्यवस्था को पालने, पोसने वालों के लिए जहर बन जाती हैं। लोग उन्हें बुरा कहते हैं, उनकी निन्दा करते हैं और उनके विषय में तरह-तरह की बातें करते हैं। सास लड़ती है, ननद खिजाती है, पहरा बिठला दिया जाता है ताकि मीरा सामन्ती चहारदीवारी को लांघ न सकें। मीरा अपनी इस घुटन और यातना को बयाँ करते हुए एक पद में कहती हैं-

''हेली म्हाँसूँ हरि बिन रह्यो न जाय।
सास लड़े मेरी ननद खिजावै, राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठारयों ताला दियो जड़ाय।''[5]

भारतीय समाज की यह बड़ी विडम्बना है कि यहाँ स्त्रियों की अस्मिता और अधिकारों का हनन स्त्रियों द्वारा भी होता है। एक स्त्री का एक स्त्री को प्रताड़ित करना, लांछन लगाना, गाली देना, कुलनाशी व कुलक्ष्मी कहना उसका शारीरिक व मानसिक शोषण ही है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने भी इसकी तरफ संकेत करते हुए लिखा है- ''मध्यवर्गीय भारतीय समाज की स्त्रियों के पीड़न में स्त्रियों का भी योगदान होता है। सासु-पतोहू, ननद-भौजाई का कलह भारतीय स्त्री-समाज की बहुत बड़ी विशेषता है।''[6]

हालांकि विश्वनाथ त्रिपाठी यहाँ मध्यवर्गीय भारतीय समाज की स्त्रियों की ही बात करते हैं लेकिन मेरी समझ से यह मानसिकता भारतीय समाज में हर वर्ग और हर जाति की स्त्रियों में देखने को मिलती है। इस प्रताड़ना की शिकार मीरा भी हुई थीं, नहीं तो वह अपनी सासु को बुरी और ननद को हठीली नहीं कहतीं :-

''सास बुरी अरूननद हठीली, लरि-लरि मोहि तारी।''[7]
''पग बाँध घूघरयां णाच्यां री
लोग कह्या मीरा बावरी, सासु कह्या कुलनासां री।''[8]

मीरा का समाज ठहरा हुआ समाज था, जहाँ गतिशीलता नहीं थी। विचार व व्यवहार में वह उसी प्रकार गंदा हो गया था, जैसे ठहरा हुआ पानी। इस समय देश में धीरे-धीरे एक केन्द्रीय सत्ता स्थापित हो रही थी और अब यहाँ के समाज में फैले सामाजिक भेदभावों, कर्मकाण्डों, अंधविश्वासों और रूढ़ियों के विरोध में एक सहज चिन्तनधारा भक्ति-आन्दोलन के रूप में आयी। भक्ति आन्दोलन के कवि एक ओर किसानों, निर्धनों व दुःखीजनों की दुर्दशा का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर मनुष्यता के विकास का ऐसा संभावित चित्र खींचते हैं जहाँ किसी भी तरह की गैर बराबरी-असमानता न हो। इस व्यापक परिदृश्य में मीरा की कविता का विशिष्ट स्थान है। मीरा की कविता में राजसत्ता, पुरुषसत्ता, लोकरूढ़ि, धर्मसत्ता और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर जितना प्रखर है उतना उस काल के किसी अन्य कवि के यहाँ नहीं है। कबीर, रैदास आदि के यहाँ प्रतिरोध तो हैं लेकिन स्त्री उनके लिए माया है। तुलसीदास भी 'जिमि स्वतंत्र भई बिगरहिं नारी' लिखकर पितृसत्तात्मक सामंती मानसिकता की वकालत करते हैं। सूरदास व मीरा को छोड़ सभी प्रमुख भक्त कवि स्त्री की स्वतंत्रता को समाज के लिए अच्छा नहीं मानते। डॉ0 मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि, ''सूर का प्रेम समाज और शास्त्र की सभी रूढ़ियों से स्वतंत्र है। मीराबाई जरूर उच्चकुल की है, लेकिन उनके जीवन और काव्य में कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह की खुली घोषणा है। वे एक ओर राजकुल के आकर्षण और भय से मुक्त हैं तो दूसरी ओर रैदास को अपना गुरु मानती है। उनके बारे में नाभादास ने ठीक ही लिखा है, लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी।''[9]

मीरा के आराध्य कृष्ण हैं जिन्हें वह किसी भी कीमत पर प्राप्त करना चाहती है। कृष्ण के निकट पहुँचने के

लिए मीरा कुछ भी कार्य करने को तत्पर हैं। उनके एक ही सच्चे प्रियतम हैं कृष्ण। वह कहती भी हैं-

''मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हांरो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।''[10]

उस काल परिवेश में यह दुस्साहस ही था कि एक स्त्री और वह भी विधवा अपने मन की करना चाहे। लेकिन प्रेम की दीवानी मीरा अपने प्रियतम कृष्ण को पाने के लिए भाई, बन्धु, संगी, साथी, कुलीनता आदि सब कुछ छोड़ देती हैं-

''म्यारां री गिरधर गोपाल दूसरा णां कूयां।
दूसरा णां कूयां साधां सकल लोक जूयां।
भाया छांड्यां, बन्धा छांड्यां छांड्यां संगा सूयां।
साधा डिग बैठे-बैठे, लोक लाज खूयां।''[11]

मीरा मर्यादाओं के वे सारे बन्धन तोड़ती हैं, जिन्हें परम्परा कहकर धर्म के ठेकेदार, सामन्ती मानसिकता के पोषक संवारते हैं, संजोते हैं। इस शृंखला को तोड़ने में चाहे उनकी जितनी भी निन्दा हो, बदनामी हो, दुर्जन उनसे चाहे जितना जले उन्हें इस बात की कोई परवाह नहीं है। उनकी अनूठी चाल को रोकने की ताकत उस समय किसी के पास नहीं थी। धर्मसत्ता, राजसत्ता और पितृसत्ता तीनों सत्ताओं को चुनौती देते हुए मीरा कहती हैं-

''राणा जी म्हांने या बदनामी लगे मीठी।
कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं चलूँगी चाल अनूठी।
सांकडली सेरयाँ जन मिलिया, क्यूँ कर फिरूँ अपूठी।
सत संगति या ग्यान सुणै छी, दुरजन लोगां ने दीठी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर दुर्जन जलोजा अंगीठी।''[12]

मीरा का सम्बन्ध दो-दो कुलीन व सामन्ती आभिजात्य राजघरानों से था। वह एक राजपरिवार की बेटी व एक राजपरिवार की पुत्रवधू होते हुए भी सामन्ती मूल्यों के खिलाफ खड़ी हो जाती हैं। वह सिसोदिया वंश को चुनौती देती हुई साहस के साथ कहती हैं-

''सिसोधो रूठयो म्हांरो कोई करलेसी।
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्यां, हो माई!
राणो जी रूठयां बांरो देस रखासी।
हरि रूठयां कुम्हलास्या, हो माई!
लोक लाज की काण न मानूं।
नरभै निसाणा घुरास्यां, हो माई।''[13]

भारतीय स्त्री की अस्मिता और अस्तित्व की प्रतीक हैं मीरा, जिसका स्वरूप आधुनिक चेतना से उपजा है और जिसकी रोशनी में भारतीय स्त्री तो क्या समूचा स्त्री-मुक्ति आन्दोलन राह पा सकता है। मीरा कविता का ऐसा संसार रचती हैं जिसमें तमाम मध्ययुगीन जकड़बन्दी और असह्य यातना के बावजूद नयी चेतना के विकास की पूरी गुंजाइश मौजूद है। शिवकुमार मिश्र ने मीरा की इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य करते हुए कहा है- ''मीरा इसी भक्ति-आन्दोलन की अनूठी देन हैं। उनकी कविता नारी के अन्तर्मन की उस घुटन और तड़प का प्रतिनिधित्व करती है, जो हमारी परम्परा और वेद तथा धर्मशास्त्र विहित हमारे विधि-विधानों के चलते सदियों से नारी के अन्तर्मन में उमड़ती-घुमड़ती रही है, और जिसे ढोना नारी की नियति बन गया है या मान लिया गया है। इस प्रकार देखा जाए तो मीरा ने एक तरफ से सम्पूर्ण नारी जाति के अब तक के अनभिव्यक्त और अनकहे को कहा है, प्रत्यक्ष भी और परोक्षतः भी।''[14]

स्त्री के चरित्र पर लांछन लगाना एक ऐसा शक्तिशाली सामन्ती हथियार है जिसका भय दिखाकर उसकी गतिविधियों और सम्बन्धों को प्रतिबंधित किया जाता है। जब स्त्रियाँ पुरुषवादी समाज के हर हथकंडे को मात दे देती हैं तब वह उसके चरित्र और देह की शुचिता पर लांछन लगाना शुरू करता है। यह पितृसत्तात्मक सामंती हथियार बहुत बार उसके काम आ जाता है। स्त्री की यौन शुचिता पर बल देने वाली राजपूत संस्कृति में यह हथियार और भी धारदार था। मीरा इस हथियार को खास तह से भोथरा करती हैं, इससे दबने से मना करके कि मैंने तो कुल की मर्यादा त्याग दी है। अब कोई मेरा क्या बिगाड़ सकता है। परिवार और स्त्रियोचित मर्यादा को लांघ कर मीरा अपने निन्दकों को निहत्था कर देती हैं। निन्दा और लांछन का विषय उनके यहाँ मात खा जाता है।

मुंशी प्रेमचन्द ने कहा है कि, ''कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है।''[15] इस कसौटी पर मीरा की कविता बहुत ही खरी उतरती है। मीरा के वास्तविक जीवन-संघर्ष से ही उनकी कविता जन्म लेती है। मीरा का जीवन और उनका काव्य एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। अलग करने पर उनकी जीवंतता, नैसर्गिकता समाप्त हो जायेगी। मीरा की इस विशेषता को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बखूब ही पहचाना है। वह मीरा के कृतित्व और व्यक्तित्व की अभिन्नता पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि, ''मीरा का काव्य उन विरल उदाहरणों में है जहाँ रचनाकार का जीवन और काव्य एक-दूसरे में घुल-मिल गये हैं, परस्पर के

सम्पर्क से वे एक-दूसरे को समृद्ध करते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि जीवन-वृत्त से अलग किये जाने पर इस काव्य की सर्जनात्मक क्षमता घट जाती है।''[16]

मीरा अनेक पदों में, ऐसी घटनाओं का उल्लेख करती हैं, जिनमें उन्हें सामंती ताकतों द्वारा मारने या सताने के प्रयासों का पता चलता है। राणा ने उन्हें टोकरी में रखकर एक साँप भेजा और जब उन्होंने टोकरी खोली तो वह कृष्ण की प्रतिमा में परिवर्तित हो गया, इसी का रूपान्तरण यह भी है कि जब उन्होंने सांप को हार की तरह धारण किया तो उसने मीरा को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया। राणा ने उन्हें कांटों की शैया भेजी पर जब मीरा उस पर लेटीं तो वह फूलों की सेज बन गयी। इसका उल्लेख करते हुए वह कहती हैं-

''मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।
सांप पिटारा राणा भेज्यां, मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखन लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्यां, अमृत दीन्ह बनाय।
हाथ धोय जब पीवण लागी, हो गई अमर अंचाय।
मूव सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरां सुलाय।
साझ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय।''[17]

एक समय ऐसा आया जब मीरा ने महल और मेवाड़ का त्याग कर दिया। महाराणा विक्रमाजीत सिंह के शासन की कुव्यवस्था से उत्साहित होकर सन् 1532 ई. में गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और कुछ समय तक युद्ध होने के उपरान्त सन्धि हो गयी। अनुमानतः इस घटना के एक-दो वर्ष बाद ही अपने चाचा राव वीरमदेव जी की बुलाहट पर मीराबाई मेवाड़ छोड़कर अपने पीहर चली गयीं। यद्यपि उनका पीहर वैष्णव था, फिर भी उनके स्वतंत्र विचरण को पसन्द नहीं करता था। मीरा के ऐसा करने पर पितृसत्तात्मक सामन्ती मानसिकता को ठेस पहुँच रही थी, राजपरिवार के पुरुषवादी मूल्य चकनाचूर हो रहे थे। लेकिन स्त्री-मुक्ति की जिस राह पर मीरा चली थीं उस राह में उन्हें किसी भी प्रकार की बाधा बर्दाश्त नहीं थी। वह अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए हर तरह के सम्बन्धों को तोड़ देती हैं-

''कोई कछू कहे मन लागा।
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन, ज्यूं सोना में सुहागा।
जनम-जनम का सोया मनुवां, सतगुरू शब्द सुण जागा।
माता-पिता सुत कुटुम कबीला, टूट गयो ज्यूँ धागा।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भाग हमारा जागा।''[18]

मीरा को पीहर में भी यातना व उपेक्षा मिली होगी, नहीं तो वह क्यों कहतीं कि, ''न तो मैं पीहर में रहूँगी, न ससुराल में।''[19] मीरा को जो खुशी उनकी खुद की बनायी दुनिया में मिली, वह न पीहर में मिली न ससुराल में। उन्होंने अपनी इसी दुनिया को सजाने, सँवारने में पतनशील सामन्तवादी समाज का त्याग कर दिया। इस तरह उनकी प्राप्त दुनियाँ उस दुनियाँ से, जहाँ राणा राज करता है, एकदम अलग है। मीरा की दुनिया मानवीय मूल्यों से भरी हुई है लेकिन राणा की दुनिया में मनुष्यता लेश-मात्र भी नहीं है। इसीलिए राणा की दुनिया मीरा को कूड़े के समान लगती है-

''नहीं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूडो।
थारे देसां में राणा साध नहीं छै, लोग बसे सब कूड़ो।
गहणा गांठी राणा हम सब त्यागा, त्याग्यो कर रे चूड़ो।
काजल, टीकी हम सब त्यागा, त्याग्यो छै बांधन जूड़ो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बर पायो छै पूरो।''[20]

मीरा आधुनिक स्त्री के लिए आईना हैं। अंलकरण, शोभा, भोग आदि के नये बंधनों में बंधी, स्वतंत्रता का दंभ भरती आज की फैशनपरस्त स्त्री क्या देख रही है कि उसके आस-पास सोने के पिंजरे लिए बाजार घूम रहा है। स्त्रियों के लिए परम्परा भी एक चुनौती के रूप में सामने है और आधुनिकता भी। दोनों ही अपने-अपने तरीके से उसका शिकार करने के लिए तैयार बैठी हैं। 'प्रियदर्शन' ने इस मानसिकता को लक्ष्य करके ठीक ही लिखा है कि- ''मुश्किल यह है कि आधुनिकता स्त्री को घर से बाहर निकालकर उसका शिकार करना चाहती है तो परम्परा उसे घर के भीतर ही मार डालना चाहती है। आधुनिकता और परम्परा दोनों इस मामले में द्वंद्वहीन हैं कि स्त्री बस इस्तेमाल की वस्तु है- उसे बाजार के भी काम आना है, घर के भी।''[21] इस स्थिति का सामना खुद स्त्री को ही करना होगा। जिस प्रकार से मीरा अपने समय व समाज से करती हैं। मीरा आज की फैशन-परस्त उन स्त्रियों के लिए प्रेरणास्रोत हैं जो फैशन-परस्ती को ही आधुनिकता समझती हैं। मीरा ने स्वाधीनता के मूल्य के लिए हर प्रलोभनों को ठुकरा दिया। वह राजमहल के भोग-विलास के आकर्षण में नहीं बंधती हैं। ऊदो-मीरा संवाद केन्द्रित एक लोकगीत में ऊदो (मीरा की ननद) मीरा से कहती हैं-

''भाभी बोलो बात विचारी।
साधो की संगति दुःखभारी, मानो बात हमारी।
छापा तिलक गलहार उतारो, पहिरो हार हजारी।
रतन जड़ित पहिरो आभूषण, भोगो भोग अपारी।''[22]

इसके जवाब में चेतना सम्पन्न एवं प्रतिबद्ध मीरा कहती हैं-

''ऊदां बाई मन समझ, जाओ अपने धाम।
राजपाट भोगो तुम ही, हमसे न तासूं काम।।''[23]

मीरा की यही प्रतिबद्धता उन्हें महान बनाती है। इनकी कविता मात्र एक स्त्री की स्वतंत्रता नहीं है बल्कि सामाजिक समानता की पक्षधरता और राजसत्ता के खिलाफ विद्रोह की प्रखर आवाज़ है। वस्तुतः मीरा का पूरा काव्य वेदना एवं विद्रोह का काव्य है। समाज में जहाँ भी, जो भी पराधीन होगा, सताया हुआ होगा उसकी भावना और उसके सोच-विचार में वेदना एवं विद्रोह होना अनिवार्य तत्त्व है। मीराबाई व्यक्तिगत दुःख की अभिव्यक्ति करते हुए भी एक स्तर पर व्यापक रूप से स्त्री समाज के दुःख और त्रासदी भरे जीवन की अभिव्यक्ति करती हैं। इसलिए कुछ आलोचकों का कहना कि मीराबाई केवल अपनी ही मुक्ति की बात करती हैं, तार्किक नहीं है।

मीरा की कविता तो सदियों से शोषित-पीड़ित, स्त्री-समाज की कविता है। इस तरह से भावना व विचार के स्तर पर मीराबाई की कविता के माध्यम से मध्यकाल भारत की सताई हुई स्त्रियों की पराधीनता से उपजी वेदना की अभिव्यक्ति होती है। इस वेदना की गहराई को तो वही जान सकता है, जो स्वयं भी इस वेदना की आग में तपा हो। मीरा कहती भी हैं-

''हेरी म्हा तो दरद दिवाँणी, म्हारां दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गत घायल जाण्यां, हियरो अगण संजोय।
जौहर की गत जौहर जाण्यां, क्या जाण्यां जिण खोय।
दरद की मार्‌यां दर दर डोल्यां, वैद मिल्या णा कोय।
मीरा री प्रभु पीर मिटांगा, जब वैद सांवरो होय।''[24]

मीरा की रचनाशीलता का सर्वोपरि महत्त्व इस बात में है कि वह मध्यकालीन भारत में अपनी पूरी अस्मिता के साथ गहराई और विस्तार से अंकित होने वाला प्रायः पहला स्त्री-स्वर है। मीराबाई सत्ता के नियमों, कायदों, मर्यादाओं, रूढ़ियों को तोड़ती हैं। मीरा ने जीवन में महान संघर्ष किया। वह जिस कुल की बहू थीं उस कुल में सती-प्रथा थी। मीरा ने अपने पति की मृत्यु के बाद सती होने से मना कर दिया। जब आज इक्कीसवीं सदी में सती-प्रथा के समर्थन में जयपुर में तलवार भाजने और प्रदर्शन करने वाले लोग मिल जाते हैं तो पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में यह कल्पना की जा सकती है, कि एक स्त्री जो सती होने से मना करती है, उसके प्रति लोगों का क्या व्यवहार रहा होगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह सती-प्रथा अस्सी प्रतिशत सवर्ण समाज में मौजूद थी। शायद इसीलिए लम्बे समय तक राजस्थान के राजपूताना में मीरा को कभी कोई महत्त्व नहीं दिया गया। उन्हें वहाँ का कुलीन समाज बहुत दिनों तक हेय दृष्टि से देखता रहा और यहाँ तक भी सुनने में आता है कि लड़कियों के लिए मीरा नामकरण तक वर्जित रहा।

मीरा की कविता में व्यवस्था के प्रति असंतोष, नाराजगी और विद्रोह का जो उग्र और मुखर स्वर मिलता है, वो उनके समकालीन संत कवियों से अलग सिद्ध करता है। यह ऐसा स्वर है जो आम तौर पर भारतीय मनीषियों और संत-भक्तों की सोच और कविता में कम मिलता है। दरअसल भारतीय सामन्तवाद के विकास के बरक्स उसके विभिन्न सामाजिक हित सम्बन्धों का समर्थन और पोषण करने वाले जन्मान्तर व्यवस्था और कर्मफलवाद जैसे दार्शनिक-धार्मिक सिद्धान्त भी अस्तित्व में आये। इस व्यवस्था में वर्ण, वर्ग और जाति का भेदभाव, शोषण अन्याय आदि सब ईश्वरीय प्रावधान थे और इनके प्रति किसी प्रकार का असंतोष और विद्रोह धर्म विरुद्ध था। कबीर, रैदास, दादूदयाल आदि संत कवि अपने समतावादी विचारों से कुछ हद तक इससे असहमत होते लगते हैं, अन्यथा सगुण भक्ति परम्परा में तो इस तरह की चेतना बहुत कम है। तुलसीदास ने तो 'वरनाश्रम निज-निज धरम' की स्थापना करके वर्णवादी और सामंती मूल्यों का पुरजोर समर्थन ही किया है। मीरा की कविता इस मामले में बहुत अलग और असाधारण है। यह सामन्ती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्ण हित सम्बन्धों को सीधे चुनौती देती है। इनको लेकर इनकी कविता में गहरा असंतोष और मुखर विद्रोह है मीरा की कविता इस मामले में कुछ हद तक कबीर से भी आगे हैं। कबीर भी सामंती मूल्यों को चुनौती देते हैं, लेकिन मीरा एक साक्षात् शत्रु से लोहा लेती दिखती हैं। उनका विद्रोह उस राज धर्म और लोक सत्ता के विरुद्ध है, जो शत्रु के रूप में उनके सामने और उनके समय में है। वह अपने शत्रु मेवाड़ के शासक को चुनौती देती हुई कहती हैं :

''राणा जी हूँ अब न रहूँगी तोरी हटकी
साध संग मोहि प्यारा लागै, लाज गई घूँघट की।''[25]

मध्यकालीन संत-भक्त अपनी कविता में अपनी वैयक्तिक पहचान और अपने सांसारिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में मौन हैं, जबकि मीरा की कविता में यह सब आग्रहपूर्वक मौजूद है। मध्यकालीन संत-भक्तों में से कबीर, रैदास आदि ने अपनी जाति का प्रासंगिक उल्लेख जरूर किया है,

अन्यथा उनके वैयक्तिक जीवन का कोई साक्ष्य उनकी कविता में नहीं मिलता। मीरा की कविता में इसकी वैयक्तिक पहचान, सांसारिक सम्बन्ध और सुख-दुःख बहुत मुखर और पारदर्शी ढंग से मौजूद हैं। मीरा संत-भक्तों की तरह न तो इनके प्रति उदासीन हैं और न इनको अनदेखा करती हैं। इनकी कविता में सांसारिक सम्बन्धों का द्वन्द्व और त्रास भी है, जो आम तौर पर संत-भक्तों की कविता में नहीं मिलता। वह एक सामान्य स्त्री की तरह अपने जीवन के सभी चरणों की दुःख तकलीफों और कटुताओं को बार-बार याद करती हैं। मीरा दुःख को दुःख की तरह ही महसूस करती हैं और अपनी कविता में अभिव्यक्ति देती हैं। वह एक निहायत ही सामान्य स्त्री की तरह अपने जीवन-संघर्ष को बताती हुई कहती हैं-

''सासरियों दुःख घणा रे सासू ननद सतावै।
देवर जेठ कुटुम कबीलो, नित उठ राड़ चलावै।
राजा बरजै, राणी बरजै, बरजै सब परिवारी
कुँवर पाटवी सो भी बरजै और सहैल्यां सारी।''[26]

प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन के दौरान दिये गये अपने वक्तव्य में मुंशी प्रेमचन्द ने कहा था कि- ''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''[27] अगर इस कसौटी पर मीरा के कृतित्व व व्यक्तित्व को कसकर देखा जाय तो उनका पूरा कृतित्व व व्यक्तित्व इस पर खरा उतरता है। उनकी कविता सामन्ती मूल्यों की जकड़न से छुटकारा पाने के लिए हममें गति संघर्ष और बेचैनी पैदा करती है। पतनशील सामन्तवादी समाज में जन्मी मीरा अपने व पूरे स्त्री-समाज के अस्तित्व अस्मिता व अधिकारों के लिए, कभी सोयी नहीं बल्कि, जीवन पर्यन्त सामन्ती समाज से लड़ती रहीं। प्रेमचन्द के कहे एक-एक शब्द मीरा के विलक्षण काव्य के पर्याय मालूम पड़ते हैं। मीरा की कविता वह आईना है जिसमें उनके जीवन का एक-एक संघर्ष अपने समय की सच्चाइयों के साथ स्पष्ट दिखाई देता है।

संदर्भ

1. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2011, पृ. 5
2. कवि परम्परा, (तुलसी से त्रिलोचन), प्रभाकर श्रोत्रिय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2009), पृ. 43
3. मीरा का काव्य-विश्वनाथ त्रिपाठी (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2010), पृ. 43
4. वही, पृ. 113
5. वही, पृ. 113
6. वही, पृ. 59
7. मीराबाई की पदावली, सं. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 2002, पृ. 145
8. वही, पृ. 107
9. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 46
10. मीरा का काव्य, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 110
11. वही, पृ. 109
12. मीराबाई की पदावली, सं. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 106
13. वही, पृ. 106
14. भक्ति आन्दोलन और भक्ति-काव्य, शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2010, पृ. 242
15. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, सं., 2001, पृ. 13
16. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2007, पृ. 50
17. मीरा का काव्य, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 113
18. मीरा : एक पुनर्मूल्यांकन, सं. पल्लव, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 66
19. वही, पृ. 66
20. मीरा का काव्य, विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 112
21. तहलका (पत्रिका), महिला विशेषांक, 15 जनवरी, 2013, वर्ष 5, अंक-1, दिल्ली
22. मीरा का काव्य- विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 60
23. वही, पृ. 60
24. मीराबाई की पदावली, सं. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 116
25. मीरा : एक पुनर्मूल्यांकन, सं. पल्लव, पृ. 123
26. वही, पृ. 188
27. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचन्द, पृ. 26

राम बचन यादव
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग,
आदित्य नारायण राजकीय इंटर कॉलेज
चकिया, चन्दौली, उ. प्र.

असाध्य वीणा और वस्तुनिष्ठ कला परंपरा

—डा. संतोष कुमार

बंधते हम रूप के दाम में रहे,
सृजते पर प्रकृति से चिपटते,
आलोक-प्रभव पर लय की लहर से लिपटते
रमते हम काम में, राम में, नाम में रहेः
अनासक्ति नहीं मिली.
नमः कवि, जो भी तुम नाम ही नाम छोड़ गए;
जो जब-जब हम शास्त्र रच मुदित हुए
संचित हमारा अहंकार स्मित-भर से तोड़ गए;
मरू की ओर अदृश्य बढ़ी अन्तःसलिला को
सहज, कुछ कहे बिन फिर भीतर को मोड़ गए,

(अज्ञेय रचनावली (खंड-1): 373)

सन् 1956 में लिखित 'कवि के प्रति कवि' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को पढ़ कर अचरज होता है। अचरज इसलिए कि हिंदी कविता में आधुनिकतावाद के अगुआ के रूप में समादृत किए जाने वाले कवि को अनासक्ति की तलाश क्यों है? और वह भी कविता के माध्यम से? रूप-तृषा और संसार से आसक्ति तो आधुनिक काव्य रचना की बुनियादी जरूरत है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि संसार से आसक्ति के बिना कविता और कला मात्र की सर्जना संभव ही नहीं है - आखिर कवि और कलाकार अपने रचित कला-संसार में ब्रह्मा की रची इस सृष्टि का अनुकरण ही तो करते हैं। संसार से आसक्ति वाली इस बात का प्रत्याख्यान करने के लिए भक्त कवियों की कविता का उदाहरण दिया जा सकता है। भक्तिकाल के कवियों के लिए कविता अपने पारलौकिक अराध्य और उसकी भक्ति को पाने का माध्यम मात्र थी। भक्तिकाल के कवियों के लिए कविता का मुख्य उद्देश्य अपनी संवेदना का सम्प्रेषण नहीं था बल्कि उनका

असली उद्देश्य तो अपने अराध्य की भक्ति की प्राप्ति थी। अपने आराध्य की भक्ति को पाने के लिए भक्त कवि भी बार-बार मनुष्य के रूप में इस धरती पर ही जन्म लेना चाहते हैं। भले ही भक्ति और साधना उनकी कविता का घोषित उद्देश्य हो लेकिन अपनी कविता को रूपाकार प्रदान करने के लिए वे भी इस संसार का ही सहारा लेते हैं। लेकिन कला को अपनी साधना और तप का माध्यम बनाना अथवा उससे अनासक्ति की तलाश करना आधुनिक कला का प्रयोजन तो नहीं है। फिर अज्ञेय को कला-सर्जना से अनासक्ति की तलाश क्यों है? क्या कविता के प्रति अज्ञेय की धारणा भक्तिकालीन इन पूर्वज कवियों से मिलती-जुलती है? दूसरी बात यह कि आधुनिकता व्यक्ति को महत्त्व देती है; आधुनिक कला कलाकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन है; वह कृति में कर्ता को महत्त्व देती है। कलाकृति कलाकार की संवेदनाओं की रूपाकार प्रस्तुति ही तो है। कविता के प्रति इस आधुनिक धारणा के विपरीत अज्ञेय अपनी कविता में कर्ता होने के उस भाव को अहंकार कह रहे हैं और उसे तोड़ने के लिए पूर्वज कवि का धन्यवाद कर रहे हैं। उपरोक्त पंक्तियों में अज्ञेय कह रहे हैं कि कला की सर्जना में कर्ता होने के भाव से बचा जाए- और यह सीख उनको अपने पूर्वज कवि से मिल रही है, कला की रचना प्रक्रिया में रचयिता की भूमिका को लेकर अनासक्ति और संकोच का यह भाव अज्ञेय की रचना प्रक्रिया को आधुनिकता प्रदत्त समकालीन रचना प्रक्रिया से अलग करता है। क्या अज्ञेय अपनी इस कविता में अपनी रचना प्रक्रिया के आधुनिक रचना प्रक्रिया से भिन्न होने का संकेत करना चाहते हैं? या आधुनिकता से उनका रिश्ता ही कुछ अलग तरह का है? कहीं ऐसा तो नहीं कि अज्ञेय की आधुनिकता और भारत में प्रचलित आधुनिकता में कोई फर्क है जिसकी ओर अज्ञेय अपनी इस कविता में संकेत करना चाहते हैं। इसके लिए आधुनिकता के साथ अज्ञेय के रिश्ते की पड़ताल करना आवश्यक है, वे अपनी सर्जना संसार में प्रचलित आधुनिकता और भारतीय चिंतन के विडम्बनापूर्ण रिश्ते के प्रति बहुत सचेत हैं। वे अपने एक निबंध में कहते हैं- "हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दीखती है, न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिंता दीखती है, उनकी (पश्चिम की) चिंता, उनकी अनास्था, उनका त्रास हमको दीखता है, और उस आधार पर हम अपने को आधुनिक मानते हैं। हर किसी को यह चिंता है कि मैं आधुनिक माना जाऊ- इस अर्थ में कि मैं पश्चिम का मुहावरा बोल सकता हूँ, पश्चिम की चिंताओं की चर्चा अपनी चिंता के रूप में कर सकता हूँ। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी कोई चिंता हमको नहीं है।" *(अज्ञेय गद्य रचना संचयन : 574)* ये पंक्तियाँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि आधुनिकता से अज्ञेय का रिश्ता कुछ अलग तरह का है। वे पश्चिम की चिंता को पश्चिम के मुहावरे में कह सकने को महत्त्व नहीं देते- जैसा कि भारत में प्रचलित आधुनिकता आदतन करती रही है। उनकी चिंता अपनी (भारतीय) चिंता को साहित्य और चिंतन के केन्द्र में रखने की है। अपने देश, समाज और उसकी परिस्थितियों की चिंता करने और उनमें सुधार लाने की प्रवृत्ति आधुनिकता का लक्षण है। इसका मतलब यह है कि हिंदी साहित्य में व्यापक रूप से पसरी हुई आधुनिकता और अज्ञेय की आधुनिकता में अंतर है। तीसरी बात यह कि इस उद्धरण में कवि अपने पूर्वज कवि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है कि उसने उसकी काव्य रूपी अन्तःसलिला की दिशा को बेहद सहजता और चुपके से मोड़ दिया। जो अन्तःसलिल काव्य धारा अदृश्य मरुभूमि की ओर जा रही थी उसे भीतर की ओर मोड़ दिया। भीतर का एक अर्थ तो अंतर्मुखता हो सकता है जो अज्ञेय के सन्दर्भ में सहज ही सूझ जाता है- 'शब्दों में मेरी समाई नहीं होगी, मैं सन्नाटे का छंद हूँ' *(अज्ञेय काव्य स्तबक : 206)* या 'मौन भी अभिव्यन्जना है' *(अज्ञेय काव्य स्तबक : 176)* या 'एक मौन ही है जो नयी कहानी कह सकता है, इसी एक घट में नव युग की गंगा का जल रह सकता है।' *(अज्ञेय रचनावली (खंड-1): 293)* लेकिन ऐसा मानने पर बाहर की दुनिया को मरू कहना पड़ेगा जो कोई कवि कह ही नहीं सकता- अज्ञेय भी नहीं कहते। आखिर कवि अपनी कविता में बाहरी दुनिया का तरह-तरह से बखान ही तो करता है। कबीर जैसे निर्गुण कवि भी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्रस्तुति के लिए, उनको रूपाकार प्रदान करने के लिए इस बाहरी लोक का ही सहारा लेते हैं। अज्ञेय भी बाहर की इस मनोरम दुनिया को मरू नहीं समझते। बल्कि वे भी अन्य कवियों की तरह इस लोक का वरण ही करते हैं -- "मैं बार-बार हठ कर के यह, अनन्य मानव-लोक वरूँ।" *(अज्ञेय रचनावली (खंड-1): 385)* इन पंक्तियों से जाहिर है कि मरू का अर्थ बाहरी दुनिया तो नहीं ही है, फिर इस काव्य पहेली को कैसे सुलझाया जाए? कविता के उस मर्म तक कैसे पहुँचा जाए जो कवि का भी अभिप्रेत रहा होगा?

अज्ञेय के जीवनीकार बतलाते हैं कि 1946 के बाद और विशेष रूप से 1952 के आस-पास अज्ञेय भारतीय जीवनधारा, भारतीय संस्कृति और भारतीय कला परंपरा की विशिष्टता को जानने-परखने की ओर उन्मुख हुए और उस दौर की उनकी देश-परदेश की अनेक यात्राओं का एक

उद्देश्य यह भी था। *(देखें, विद्यानिवास मिश्र, अज्ञेय काव्य स्तबक : भूमिका 1 (अज्ञेय की जीवन यात्रा))* 1956 में लिखित और उपरोक्त उद्धृत इन काव्य पंक्तियों पर भी भारतीय जीवन धारा और भारतीय कला परंपरा की विशिष्टता को समझने की चिंता का असर तो नहीं है? भारतीय जीवन धारा और उसकी कला पंपरा को समझने के लिए अक्सर भारतीय बनाम पश्चिमी जीवन धारा की बायनरी बनाई जाती है। (सैकड़ों वर्षों तक औपनिवेशिक गुलामी सहने वाले देश के लिए इस बायनरी से निकल पाना आसान भी नहीं है) तो क्या अज्ञेय अपने पूर्वज कवि का नमन इसीलिए कर रहे हैं कि उसने उनके काव्य के अन्तःसलिल की दिशा को प्रचलित आधुनिकता (पश्चिमोमुख) से भारतीय जीवनधारा (पूर्वोन्मुख) की ओर मोड़ दिया। क्या अज्ञेय पश्चिम की जीवनधारा को मरू की तरह समझते थे जिसमें नए जीवन के अंकुरण की कोई सम्भावना नहीं बची है? पश्चिमी चिंतन का रेखीय कालबोध तक महदूद रह जाना और उसके परिणामस्वरूप वहां अस्तित्ववाद जैसी दार्शनिक प्रणालियों के हुए विकास और फलतः साहित्य में स्थापित हुए अनास्था, संत्रास, ऊब आदि काव्य मूल्य तो यही बताते हैं कि उस जीवनधारा के पास मानवता के भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए अब देने को कुछ नहीं है- अज्ञेय के उपन्यास और निबंध भी तो बार-बार इसी तरफ संकेत करते हैं। इस प्रसंग में वे अपने एक निबंध में पश्चिम के आत्म संशय का उल्लेख करते हैं- "वास्तव में जिन लोगों को पश्चिम जाकर वहां कुछ समय रहने का, वहां के प्रबुद्ध लोगों से मिलने का अवसर मिला है वे यह पाएंगे कि पश्चिम को अपने प्रबल अहम् के बावजूद यह विश्वास नहीं है कि उनका चिंतन, उनका दर्शन वगैरह सब पूर्व की अपेक्षा अच्छा है, बल्कि उनमें से जो कुछ दूर देखने वाले हैं, उन्हें ऐसा दीखने लगा है कि उनका जो रास्ता रहा है उसके वे अंत तक निकट पहुँच रहे हैं; उसके आगे उनको एक दीवार मिलेगी, उस दीवार से टकराने से पहले वे यह खोज रहे हैं कि क्या कहीं किसी ने कोई दूसरा रास्ता देखा है जो हमारे लिए उपयोगी हो? भारत की ओर बहुत से लोग इस दृष्टि से देखते हैं।" *(अज्ञेय गद्य रचना संचयन : 573)* पश्चिम और पूरब के इस संवाद के फलस्वरूप अज्ञेय इस नतीजे पर पहुंचे कि पश्चिमी चिंतन के पास अब आगे कोई रास्ता नहीं बचा है। वह मरुभूमि की तरह हो गया है जहाँ से मनुष्य के लिए नए भविष्य का अंकुरण नहीं हो सकता है। आधुनिक कहलाए जाने की धुन में हमारे काव्य की धारा भी पश्चिम के अनुकरण में इस मरुभूमि की ओर ही जा रही थी। लेकिन पूर्वज कवि की प्रेरणा से वह पुनः अन्दर अर्थात भारतीय जीवन दृष्टि की ओर मुड़ गयी। यही वह संदर्भ बिंदु है जहाँ से अज्ञेय भारतीय चिंतन की विशेषता को जानने-समझने की ओर प्रवृत्त हुए और जिसका रूपायन उपरोक्त काव्य पंक्तियों में भी दिखाई देता है। यह अज्ञेय के साहित्यिक जीवन का उत्तरार्ध था जहाँ से वे भारतीय किस्म की आधुनिकता को समझने और विकसित करने की ओर प्रवृत हुए।

* * *

आधुनिकता द्वारा प्रचलित की गयी इस रचना प्रक्रिया से अज्ञेय की असहमति का यह कोई पहला उदाहरण नहीं है। उनकी दूसरी कविताएँ भी इस आधुनिक रचना प्रक्रिया की अनेदेखी करते हुए एक वैकल्पिक रचना प्रक्रिया की ओर संकेत करती हैं। इसके उदाहरण के रूप में उनकी प्रसिद्ध कविता असाध्य वीणा का अध्ययन किया जा सकता है। इस कविता में प्रियम्बद केशकम्बली किसी कलाकार की तरह वीणा को बजाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं करता है। वह राजा से विनम्रता पूर्वक लेकिन बहुत साफ़ शब्दों में कहता है-

"... राजन! पर मैं तो
कलावंत हूँ नहीं, शिष्य साधक हूँ-
जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी।"

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 92)

प्रियंवद इस बात को मात्र विनम्रता प्रकट करने के लिए नहीं कहता है। वह सचमुच इस बात में यकीन करता है कि वह कलावंत नहीं है। उसे अपने कलाकार होने का सचमुच कोई अभिमान नहीं है। रचना का रचयिता होने का अभिमान न होने का बहुत गहरा सम्बन्ध कला की रचना यानी वीणा वादन से है। प्रियंवद इस बात को समझता है। इसीलिए वह आगे की पंक्तियों में कहता है-

कौन प्रियंवद है कि दंभ कर
इस अभिमंत्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे?
कौन बजावे
यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 93)

प्रियंवद जानता है कि कलाकार होने के दर्प के साथ उस वीणा के सम्मुख जाने से, जो अभिमंत्रित थी और वज्रकीर्ति जैसे साधक के जीवन भर की साधना का परिणाम थी, असफलता ही हाथ लगेगी- राजा के सभी जाने माने कलावन्तों को असफलता ही हाथ लगी थी। प्रियंवद केशकम्बली की यह सोच आधुनिक रचना प्रक्रिया से

भिन्न है। आधुनिक रचना प्रक्रिया में कर्ता यानि रचयिता महत्वपूर्ण होता है। रचना रचयिता के व्यक्तित्व का प्रकाशन होती है। उसकी अनुभूतियों और संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। अरस्तू की मानें तो उस कलात्मक सर्जना से ही कलाकार का रेचना (कथार्सिस) होता है- यानी वह अपने तनाव और दबाव आदि से मुक्त होता है। इस आधुनिक रचनाशीलता की प्रक्रिया को समझाने के लिए कई बार प्रसव पीड़ा का भी उदाहरण दिया जाता है। जैसे प्रसव के बाद माँ पीड़ा से मुक्त हो जाती है वैसे ही रचना की पूर्णता के बाद रचनाकार भी पीड़ा और दुःख से मुक्त हो जाता है और राहत की साँस लेता है। आनंद की अनुभूति करता है। रचना प्रक्रिया की यह समझ गलत नहीं है लेकिन यह सभी रचनाओं के लिए सही भी नहीं है। कुछ रचनाओं और कलाओं को रचने की प्रक्रिया इससे बिल्कुल भिन्न होती है। अज्ञेय अपने एक निबंध में इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं- "काव्य वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के रेचना मार्ग भर नहीं है। रेचन (कथार्सिस) की बात अप्रासंगिक हो जाती है : कला आनंद देती है तो अनुभूतियों से छुटकारा दिलाकर नहीं बल्कि उसके मूल स्रोत की पहचान करा कर।" *(अज्ञेय रचनावली (खंड-10: 177)* इस तरह की रचना प्रक्रिया में रचयिता रचना के मूल स्रोत की पहचान करने का माध्यम होता है। असाध्य वीणा कविता में वीणा बजाने की प्रक्रिया भी कुछ ऐसी ही है। प्रियंवद केश कम्बली भी एकाग्रता की उच्चतम सीमा (वीणा से अपने को पूरी तरह तादात्म्य कर लेने की अवस्था) तक पहुँचने के लिए ही सब कुछ भूल कर साधना (ध्यान केन्द्रित) करता है-

पर उस स्पंदित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा-
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी...तरु को।
कौन प्रियंवद है कि दंभ कर
इस अभिमंत्रित कारुवाद्य के सामने आवे?
कौन बचावे
यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?
भूल गया था केश काम्बली राज-सभा को:
कम्बल पर अभिमंत्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिसमें साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीटी-तरु
जिसकी जड़ वासुकी के फण पर थी आधारित,
जिसके कन्धों पर बादल सोते थे
और कान में जिसके हिमगिरी करते थे अपने रहस्य।
संबोधित कर उस तरु को, करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद!

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 93)

राज्य सभा में केशकाम्बली वीणा से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अपने मन को एकाग्र करना चाहता है। इसके लिए वह अपने अहम् को परे ढकेल कर पूरी श्रद्धा के साथ अपने को किरीटी-तरु को समर्पित कर देता है। साधक का विचारों, संवेदनाओं और अहंकार से मुक्त होना अभिप्रेत एकाग्रता की अवस्था तक पहुँचने की अनिवार्य शर्त है। अहम्, विचारों और पूर्वाग्रहों से भरा हुआ मन एकाग्रता की उस सीमा तक नहीं पहुँच सकता जहाँ वस्तुनिष्ठ (पूर्वग्रह मुक्त) सच्चाई का साक्षात्कार होता है जिसे अज्ञेय मूल स्रोत कह रहे हैं। वीणा के माध्यम से प्रियंवद केशकाम्बली उसी सच्चाई का साक्षात्कार करना चाहता है जो अभिमंत्रित वीणा के बजने की अनिवार्य शर्त है। संवेदनाओं और विचारों से भरा हुआ मन किसी भी चीज को उसके असली रूप में नहीं देख सकता। वह उस चीज पर अपने राग, द्वेष और समझ का लेप लगा ही देता है। चीजों के असली रूप को देखने के लिए पूर्वाग्रह से मुक्त होना आवश्यक है। अपने मन को तमाम विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों से खाली करने पर ही कलाकार वस्तुनिष्ठ सच्चाई का साक्षात्कार कर सकता है। जो जितना कोरा होगा उसके लिए नयी चीजों को सीखना और स्वीकार करना उतना ही आसान होगा। एक बच्चे में सीखने की क्षमता इसीलिए अधिक होती है क्योंकि वो कोरा होता है, इसीलिए रचना से तादात्म्य स्थापित करने के लिए, रचना के मूल स्रोत तक पहुँचने के लिए जरूरी है कि अपने को अहम् और पूर्वग्रहों से मुक्त किया जाये। प्रियवंद केश काम्बली भी वीणा की सच्चाई (मूल स्रोत) तक पहुँचने के लिए अपने अहम् और पूर्वाग्रहों को स्थगति/परे करने की साधना करता है। कलाकार होने के दंभ को परे हटाने, अपने को अहंकार ओर पूर्वाग्रहों से मुक्त करने और पूरी श्रद्धा के साथ किरीटी तरु के प्रति समर्पण करने की शुरूआत के साथ इस कविता का पहला सोपान पूरा होता है।

दूसरे सोपान की शुरुआत के साथ ही प्रिंयवद केशकाम्बली किरीटी तरु पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के बाद केश काम्बली वीणा के मूल सत्य को जानने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह उस किरीटी तरु को याद करता है जिससे वह

वीणा बनी थी। किरीटी तरु के साथ-साथ वह उसकी विशालता और महत्ता को भी याद करता है। वह किरीटी तरु के हजारों बार के पतझर-पल्लवन-पुष्पन का स्मरण करता है। इसके साथ ही वह अलग-अलग मौसम में किरीटी तरु से आश्रय लेने वाले पशु-पक्षियों का भी स्मरण करता है। अज्ञेय ने इस कविता में केशकाम्बली के स्मरण से सहारे किरीटी तरु और उसके प्रांगण में होने वाले क्रिया व्यापार का इतना विस्तार से वर्णन किया है कि लगता है कि किरीटी तरु समूची प्रकृति का पर्याय बन गया हो। केश कम्बली इस समूची प्रकृति के व्यापार को याद करते हुए उससे एकात्म स्थापित करने की कोशिश करता है। किरीटी तरु और उसके परिवेश में होने वाले सृष्टि के व्यापार का विशद वर्णन अज्ञेय के घनिष्ठ प्रकृति प्रेम का परिचायक है। प्रकृति के व्यापार का ब्योरेवार वर्णन कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति, विग्रह क्षमता और दृष्टि की समग्रता का द्योतक है। ब्योरों की रूपाकार प्रस्तुति के लिए अज्ञेय ने ध्वन्यात्मक तथा दृश्यात्मक बिम्बों की सृष्टि की है जो उनकी काव्य क्षमता का प्रमाण है। लेकिन यहाँ इस कविता की भाषा-शैली और संरचना की विशेषताओं को विश्लेषित करने का अवकाश नहीं है और ऐसा करना हमारा अभिप्रेत भी नहीं है, विद्यानिवास मिश्र रीति वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए इस कविता की संरचना और भाषा का विस्तार से विश्लेषण कर चुके हैं। *(देखें, विद्यानिवास मिश्र रचना संचयन (2016))* बहरहाल! कविता के इस चरण में प्रियंवद केशकम्बली किरीटी तरु और उसके बहाने सम्पूर्ण प्रकृति के साथ अपने मन को संलयित करने का प्रयत्न करते चलता है-

मैं नहीं, नहीं! मैं कहीं नहीं!
ओ रे तरु! ओ वन!
ओ स्वर-संभार!
नाद-मय संसृति!
ओ रस-प्लावन!
मुझे क्षमा कर-भूल अकिंचनता को मेरी-
मुझे ओट दे--ढँक ले--छा ले--
ओ शरण्य!
मेरे गूंगेपन को तेरे सोये स्वर...सागर का ज्वार डुबा ले!

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 97)

अपने अहम् के स्थगन और किरीटी तरु के प्रति केश काम्बली के समर्पण की दोनों प्रक्रियायें साथ-साथ चलती हैं। ये दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरे की पूरक हैं। अहम् जितना तिरोहित होते जाता है, समर्पण की भावना उतना ही बढ़ती जाती है। और समर्पण जितना बढ़ता जाता है अहम् भी उतना ही घटते जाता है। अहम् के पूर्ण तिरोहन की अवस्था पूर्ण समर्पण की स्थिति होती है। इस कविता में भी जब केश काम्बली पूर्ण समर्पण की अवस्था में होता है तो उसका मन किरीटी तरु से एकात्म हो चुका होता है। केश काम्बली का समूचा अस्तित्व किरीटी तरु से जुड़ चुका है। समाधि की इस स्थिति में केश कम्बली का कोई पृथक अस्तित्व नहीं बचा है। केशकाम्बली के विचार और संवेदनाएं तिरोहित हो गए और उसके भीतर भी वही किरीटी तरु और उसकी सृष्टि है जो वीणा के भीतर क्योंकि वीणा उसी किरीटी तरु से बनाई गयी है। समाधि की इस अवस्था में केश काम्बली का मन और वीणा एक हो चुके हैं, द्वैत की कोई स्थिति नहीं बची है। केश कम्बली वीणा के मूल स्रोत तक पहुँच चुका है। यह समाधि की चरमावस्था है जहाँ केशकाम्बली अपनी संवेदनाओं और विचारों से पूरी तरह मुक्त होकर किरीटी तरु के प्रति समर्पित हो चुका है। इस बिंदु पर कविता का दूसरा सोपान पूर्ण होता है।

ऐसी समाधि (ध्यान) की अवस्था में पहुँच कर वह वीणा बजाने की शुरुआत करता है। ध्यान की अवस्था में वीणा वादन करते समय केशकम्बली को बोध होता है कि वह वीणा का वादक नहीं है। वीणा को तो कोई दूसरा ही बजा रहा है। वह तो वीणा वादन का माध्यम मात्र है। इसीलिए वह राज दरबार में वीणा वादन का श्रेय लेने से इनकार करते हुए राजा से कहता है-

"श्रेय नहीं कुछ मेराः
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में--
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था--
सुना आपने जो वह मेरा नहीं
न वीणा का था :
वह तो सबकुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है।"

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 101)

राजा के पुरस्कार को अस्वीकार करता हुआ केश काम्बली कहता है कि वीणा को बजाने में उसका कोई श्रेय नहीं है। वह बताना चाहता है कि वीणा वादन उसके विचारों और संवेदनाओं का प्रतिफलन नहीं है। उसने वीणा

के संगीत पर अपनी संवेदनाओं का आरोपण नहीं किया है। वीणा के तार को छेड़ने का निर्देशन कोई और ही कर रहा था। वह अपने हाथों से उस निर्देश का पालन मात्र कर रहा था। अतः वीणा से निकलने वाला संगीत उसका नहीं है, वह तो उस संगीत रचना का माध्यम मात्र है। जो संगीत लोगों ने सुना वह केशकम्बली के विचारों और संवेदनाओं की उपज नहीं है। रचनाकार को रचते समय बखूबी पता होता है कि वह तो माध्यम मात्र है, रचने वाला तो 'कोई और' ही है। इसमें कोई रहस्य नहीं है कि 'कोई और' आखिर कौन है, एकाग्रता की उस सीमा तक पहुँचा हुआ कोई भी कलाकार माध्यम वाली इस बात की गवाही दे सकता है। इस बात को चित्रकारों और संगीतकारों ने बेहतर तरीके से समझाया है। अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में बताते हुए प्रसिद्ध चित्रकार सैयद हैदर रज़ा का कहना है- "... मेरा दृढ़ विश्वास है कि साधना और एकाग्रता अपरिहार्य है। चित्रकारी सिर्फ विचार प्रक्रिया के द्वारा ही नहीं होती। चित्रकारी के लिए एकाग्रता बहुत जरूरी है। रचना से तादात्म्य बहुत जरूरी है लेकिन तनाव का एक मुकाम ऐसा आता है जब विचार-प्रक्रिया धीमी हो जाती है और सहज बुद्धि हावी हो जाती है। वह हावी होती ही जाती है और मैं खुद से यह पूछना छोड़ देता हूँ कि मैं क्या कर रहा हूँ? बस विचार है और उसे कैनवास पर उतारता मैं। विचार प्रक्रिया उसका एक हिस्सा भर है। और आप उस मुकाम पर पहुँच जाएं जिसे जर्मन स्तुमंग यानि मूड, वातावरण कहते हैं (फ्रेंच लोग उसे ग्रेस की स्थिति कहते हैं), जहाँ तो चीजें हो ही जाती हैं, मानस प्रत्यक्ष ही सबसे महत्वपूर्ण बात है। मेरा अपना अनुभव इसका प्रमाण है। कभी-कभी ऐसा होता है कि आपके सामने एक खाली जगह भर होती है, और ऐसा लगातार कई दिन तक चलता रहता है। आपको बोध नहीं हो पा रहा। आप उसे देख नहीं पा रहे। आंतरिक दृष्टि विकसित नहीं हो पा रही, वह मौजूद तक नहीं है, मेरा पूरा विश्वास है कि दैवी शक्तियों का सहयोग न हो तो आप कला का सृजन नहीं कर सकते। दरअसल, चित्रकारी मैं नहीं करता। एक कलाकार के लिए दैवी शक्तियों का सहयोग बहुत जरूरी है।" रज़ा साहब अपनी बात को समझाते हुए आगे कहते हैं- एक उदाहरण देता हूं, हाल ही में मैं एक चित्र पर काम कर रहा था- 'सूर्य नमस्कार', मैंने कम से कम पाँच-छह हफ्ते इस पर काम किया। यह ठीक-ठाक आकार की है- 1.2 मी. × 2.4 मी.; लेकिन यह बहुत कठिन साबित हुई। मुझमें सही भाव नहीं जाग रहा था। मैंने कहा कि भई, मैंने प्रार्थना नहीं की, देवता नाराज हैं। मैं लगा रहा और आखिर मुझे उसकी झलक दिखने लगी। चित्र आ तो गया, लेकिन उसने आने में काफी समय लिया। और उसके तुंरत बाद मैंने दूसरा चित्र बनाया। उसका आकार बहुत छोटा रखा- 1 मी. ञ 1मी., और कुल पांच दिन में वह पूरा हुआ जैसे ऊपर से कोई बताता हो, मैं तो वही व्यक्ति हूँ और चित्रकार के रूप में 50-60 वर्षों के अनुभव के बाद मैं खुद को बता सकता हूँ कि मुझे पेंट करना नहीं आता। और मैं महसूस करता हूँ कि यह बोध कलाकार पर निर्भर नहीं है। मुझे एलोरा की गुफाओं के एक कलाकार की याद आती है। एक महान शिल्पी ने अपनी रचना को देखा जिस पर उसने महीनों, शायद बरसों, लगातार काम किया था, और हैरान होकर उसने सोचा : 'क्या यह मैंने किया? नहीं, यह तो अकस्मात् आया!' अब मैं जानता हूं कि यह अकस्मात् नहीं होता, यह तो दैवी कृपा है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य में ऐसा माना जाता है कि कला देवताओं को चढ़ाई गई भेंट है, अर्पण। मैं कह नहीं सकता कि किसी को इस पर विश्वास होगा या नहीं, लेकिन कई वर्षों से मेरा यह अनुभव रहा है और मैं महसूस करता हूँ कि यह विचित्र अद्भुत जलवायु जो रची जा सकती है- और जिसके लिए बहुत कठिन मेहनत और एकाग्रता जरूरी होगी- रहस्यमय स्रोतों से आती है, जिसका विश्लेषण असंभव है" (रज़ा व वाजपेयी, आत्मा का ताप : 30) अपने को आधुनिक कहने/समझे वाले और इह्लौकिकता की संकुचित दृष्टि के बंदी भले ही सैयद हैदर रज़ा की इस बात पर अविश्वास करें लेकिन रज़ा साहब जैसे उदात्त चित्त और पवित्र मन वाले व्यक्ति झूठ नहीं कह सकते। उनको जानने वाले जानते हैं कि वे अपनी अनुभूतिजन्य सत्य का ही वर्णन कर रहे हैं। जिसे वे दैवी कृपा या ग्रेस की स्थिति कह रहे हैं वह दरअसल एकाग्रता की उच्चतम और दुर्लभतम अवस्था है, एकाग्रता की इस अवस्था में पहुंचना (कला से तादात्मय की स्थिति) कलाकार के लिए हमेशा संभव नहीं होता है। एकाग्रता की तलाश ही उसकी साधना है जिसे प्राप्त कर लेने के बाद रचना का रूपाकार उसके भीतर स्पष्ट होने लगता है। और इसको ही वह दैवी कृपा कहता है। कुछ ही कलाकार ऐसे होते हैं जो एकाग्रता की इस सीमा तक पहुँच पाते हैं और जो इस सीमा तक पहुँच पाते हैं वे कला के परिसर का विस्तार करते हैं, उसे एक नयी ऊँचाई प्रदान करने में सफल होते हैं। असाध्य वीणा शीर्षक कविता में भी केशकम्बली एकाग्रता और ध्यान की उस सीमा तक पहुँच चुका है जहाँ ग्रेस या दैवी कृपा का बोध होता है और मन में रचना का रूपाकार स्पष्ट होने लगता है। वह समझ गया है कि वीणा वादन से निःसृत संगीत तो मूल सत्य का था जिसके प्रति केशकम्बली

ने समर्पण किया था। वह मूल सत्य जिसकी व्याप्ति सबमें है। वह परम सत्य है जो हर तरह के राग-द्वेष और पूर्वग्रह से मुक्त है। हमारे शास्त्रों में उसे ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म अखंड, अप्रमेय और आनंदमय चेतना है। ध्यान की इस अवस्था में वीणा वादन करना इस कविता का तीसरा सोपान है। ध्यान और असाध्य वीणा के अंतर्संबन्ध को विस्तार से जानने के लिए देखें, (असाध्य वीणा और भारतीय दर्शन, बहुरि नहीं आवना, जुलाई-सितंबर, 2022)

वीणा वादन के दौरान अद्‌भुत और अलौकिक संगीत की सृष्टि होती है। वीणा के उस अलौकिक संगीत लहरी में राजा-रानी सहित सभी श्रोता डूब जाते हैं। अज्ञेय उस अवतरित संगीत को स्वयंभू कहते हैं अर्थात जो स्वयं पैदा होता है। उसकी रचना नहीं की जा सकती है। जिस संगीत की रचना नहीं की जा सकती है उसे प्रकट करने के लिए साधना ही की जा सकता है। वीणा से निकले संगीत की अलौकिकता को संकेतिक करने के लिए कवि कहता है कि उसमें अशेष प्रभा वाले अखण्ड ब्रह्म का मौन सोता है। उस अखण्ड ब्रह्म के मौन वाले अलौकिक संगीत से निकले अलौकिक आनंद में सभी श्रोता डूब जाते हैं।

सहसा वीणा झनझना उठी-
संगीतकार की आँखों में ठण्डी पिघली ज्वाला-सी झलक गयी-
रोमांच एक बिजली-सा सबके तन में दौड़ गया।
अवतरित हुआ संगीत
स्वयंभू
जिसमें सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।
डूब गए सब एक साथ।
सब अलग अलग एकाकी पार तिरे।

(काव्य स्तबक : 98)

उस अलौकिक संगीत के आस्वादन से आनंदित सभी श्रोता एक साथ केशकाम्बली को साधुवाद देने लगे। राजा और रानी उस संगीत को सुनकर धन्य-धन्य हो गए। उन्होंने केशकम्बली को स्वरजीत की उपाधि दे दी। संगीत के अलौकिक आनंद में सभी श्रोताओं का डूब जाना इस कविता का चौथा सोपान है।

वीणा वादन से निकला संगीत सिर्फ आनंद की सृष्टि करके ही निःशेष नहीं हो जाता। वीणा वादन से सिर्फ आनंद की सृष्टि ही नहीं होती है बल्कि श्रोता पर उसका कार्यात्मक प्रभाव भी पड़ता है। कार्यात्मक प्रभाव का अर्थ है कि कला का श्रोता पर गहरा असर होता है। उसका मन-मिजाज हमेशा के लिए बदल जाता है। श्रोता के व्यक्तित्व का परिवर्तन हो जाता है। यह इस कविता का पाचवां और अंतिम सोपान है जहाँ यह बताया गया है कि कला आनंद की सृष्टि करने के अतिरिक्त भी कुछ करती है। सभी श्रोताओं पर कला का प्रभाव एक जैसा नहीं होता अपितु अलग-अलग होता है। वीणा के संगीत का असर राजा पर यह हुआ कि उसकी सारी ईर्ष्या और महत्वाकांक्षा मिट गयी। फलतः उसका मुकुट सिरिस के फूल जैसा हल्का हो गया। ईर्ष्या, अहं और स्वार्थ की भावना के मिट जाने से उसके मन में यह पुनीत भाव जगा कि वह प्रजा की भलाई में अपना शेष जीवन न्योछावर कर देगा। उसके जीवन में यह नया बोध जगा क्योंकि उस अलौकिक संगीत की वजह से उसका स्वयं की उदात्त प्रवृत्तियों से परिचय हुआ। परिणामस्वरूप उसका जीवन स्वर्ण की तरह निखर गया। वह बदल गया- संगीत सुनने से पहले वाला व्यक्ति नहीं रह गया। रानी के मन पर भी वीणा के संगीत का असर हुआ और उसके मन से भी अहम्, ईर्ष्या और स्वार्थ के भाव तिरोहित हो गए और इसीलिए गहने-कपड़े आदि की चाहत उसको अन्धकार के सदृश लगने लगे। जब अलौकिक संगीत ने उसके हृदय की उदात्तता से उसका परिचय कराया तो उसको अन्धकार के बीच आलोक की किरण दिखाई दी। उसे अपने जीवन की सार्थकता का बोध प्रेम की अनन्यता में हुआ। प्रकाश और आलोक उसको सहज विश्वास और प्रेम में दिखा और इसीलिए उसने प्रण किया कि वह अपने उस प्यार को ही साधेगी। इसी तरह जिसने भी उस संगीत को सुना सबमे अलग-अलग बोध जगा। किसी को आतंक से मुक्ति का आश्वासन सुनाई दिया तो किसी को तिजोरी में सोने की खनक सुनाई दी। किसी को नव वधु की सहमी पायल ध्वनि सुनाई पड़ी तो किसी को शिशु की किलकारी। इसीलिए अज्ञेय कहते हैं कि 'सबने भी अलग-अलग संगीत सुना... इयत्ता सबकी अलग अलग जागी।' *(अज्ञेय काव्य स्तबक : 99-100)*

एक ही संगीत को सुनकर श्रोताओं में अलग-अलग बोध जागने की इस स्थिति को नामवर जी ने अस्मितावाद से जोड़ा है। उन्होंने इसे हिंदी की पहली अस्मितावादी कविता कहा है (सत्यवती कालेज, दि.वि.वि., के एक व्याख्यान में)। उनके कथन से अपनी विनम्र असहमति जताते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि यह नामवर जी का सुचिंतित वक्तव्य नहीं है। इस कविता में श्रोताओं को हाने वाली अलग-अलग स्वानुभूति को अस्मितावादी स्वानुभूति नहीं कहा जा सकता है। अस्मितावाद में व्यक्ति पाठ की

निर्मिति सामुदायिक विशेष के लिए करता है। अर्थ ग्रहण/निर्मित करने वाले व्यक्ति को उसके समुदाय विशेष के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता है। ऐसी स्थिति में पाठ को निर्धारित करने में पाठक/आलोचक की सामाजिक और सामुदायिक पहचान का महत्त्व बहुत अधिक होता है। भिन्न प्रकार की राजनीतिक-सामाजिक स्थिति और हैसियत वाले समुदाय किसी भी रचना का भिन्न-भिन्न पाठ निर्मित और निश्चित करते हैं जैसे किसी कविता का नारीवादी पाठ या किसी कहानी का दलित पाठ। किसी व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले अस्मितावादी पाठ का निर्माण पूरे समूह के लिए होता है व्यक्ति विशेष के लिए नहीं। दूसरी बात यह है कि अस्मितावादी पाठ का सन्दर्भ समुदाय या लिंग विशेष का भौतिक जीवन और उसकी सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ होती हैं। हृदय की उदात्तता और मन की पवित्रता का कोई सम्बन्ध अस्मितावादी पाठ से नहीं जुड़ता है क्योंकि इनका सम्बन्ध समाज या समुदाय से न होकर व्यक्ति विशेष से होता है। लेकिन असाध्य वीणा शीर्षक इस कविता में वीणा के संगीत का असर और उसके अर्थ का निर्धारण सामुदायिक न होकर व्यक्ति के स्तर पर होता है। इस कविता में राजा या रानी शासक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आते हैं। संगीत को सुनकर राजा और रानी को जो बोध जगा वह सभी राजाओं और रानियों को नहीं जागेगा। दरबार में वीणा का कोई भी दूसरा श्रोता अपने सामाजिक समूह का प्रतिनिधि नहीं है। वे सिर्फ एक व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। लेकिन इसका सम्बन्ध पश्चिम के व्यक्तिवाद (उदारवाद) से भी नहीं है जिसके लिए अज्ञेय को हमेशा लांक्षित किया जाता रहा। व्यक्ति पर संगीत का असर उसके भव स्तर अनुरूप होता है अर्थात व्यक्ति की अंतरात्मा की बुनावट के अनुरूप होता है। हर व्यक्ति का मन अलग-अलग होता है, किसी का मन मैला होता है किसी का पवित्र होता है। सबके मन में करुणा की मात्रा भी अलग-अलग होती है। कोई करुण हृदय तो कोई कठोर हृदय होता है। इसीलिए हर श्रोता पर संगीत का प्रभाव अलग-अलग हुआ। इस बात की पुष्टि भारतीय संस्कृति का अवगाहन करने वाले विद्वान् भी करते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में स्वानुभूति से पाए गए सत्य की व्याख्या करते हुए गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का कहना है कि "सत्य एक होते हुए भी अनंत है और उसकी उपलब्धि निजी रूप में और अपनी योग्यता के अनुसार ही हो सकती है।" *(भारतीय परंपरा के मूल स्वर : 38)* लेकिन स्वानुभूति की तमाम भिन्नताओं के बावजूद एक बात निश्चित है कि अलौकिक संगीत (अध्यात्मिक अनुभूति) के प्रभाव में श्रोता का आंतरिक जीवन समृद्ध होता है। उसके मन से नकारात्मक भाव नष्ट होते हैं और उसका हृदय उदारता और उदात्तता से भर जाता है। ऐसे में आत्मावलोकन का बोध प्रबल हो जाता है। आत्मावलोकन के बोध से दायित्व बोध जागता है। मन में ईमानदारी और सदाचार जैसे भाव प्रबल होने लगते हैं। इस सदाचारी, नैतिक और निस्वार्थ आचरण से भौतिक जगत से व्यक्ति का रिश्ता भी बदलने लगता है।

पश्चिम के देशों में खासे लोकप्रिय रहे रुसी रहस्यवादी, दार्शनिक और नाटककार गुर्जेफ़ ने कविता के इन पाँचों सोपानों अर्थात अहम् के विलयन, प्रकृति के साथ संलयन, ध्यान की अवस्था, कला से आनंद की सृष्टि तथा कला के कार्यात्मक प्रभाव को वस्तुनिष्ठ कला का लक्षण माना है। *(गुर्जेफ़ की इस अवधारणा के लिए देंखे, https://www.gurdijieff.org), (https:gurdjieff.org/challenger2.htm)* आधुनिक कला और वस्तुनिष्ठ कला में अन्तर होता है। आधुनिक कला में कलाकार की महत्ता होती है। कला कलाकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन होती है। कलाकार अपनी कला के माध्यम से अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति करता है। अपनी संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति ही उसकी प्राथमिकता होती है। यदि कलाकार अपनी अनुभूतियों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति नहीं कर पाए तो उसके लिए बहुत कठिनाई पैदा हो जाती है। वह बेचैन हो जाता है। कला के माध्यम से जब उसकी संवेदना अभिव्यक्त हो जाती है तो उसको राहत मिलती है। इस प्रक्रिया को अरस्तू ने रेचना (कथार्सिस) कहा है। लेकिन वस्तुनिष्ठ कला की रचना प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। इस कला के लिए कलाकार के अहम् का तिरोहन होना आवश्यक है। कलाकार वस्तुनिष्ठ कला के माध्यम से आध्यात्मिक साधना करता है। इस साधना की प्रक्रिया में ही वह अपने ध्यान को प्रकृति पर केन्द्रित करता है। ध्यान की अवस्था में जब कला रचना प्रारंभ होती है तो कलाकार को स्पष्ट बोध होता है कि वह कला का सर्जक नहीं है बल्कि सर्जना का माध्यम मात्र है। ऐसी कला अपूर्व आनंद की सृष्टि करती है क्योंकि वह मूल सत्य की अनुभूति का प्रकटीकरण करती है। लेकिन आनंद की सृष्टि करना मात्र ही उसका लक्ष्य नहीं होता है। वस्तुनिष्ठ कला अनिवार्य रूप से कार्यात्मक होती है अर्थात सामाजिक (कलानुरागी) पर उसका सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। वस्तुनिष्ठ कला द्वारा संप्रेषित आध्यात्मिक अनुभूति श्रोता के चित को बदल देती है।

संस्कृत काव्य शास्त्र की मानें तो कला का उद्देश्य रस (आनंद) की सृष्टि करना है। जिस दौर में यह कविता

लिखी गयी थी उस समय यह समझ बहुत बलवती थी कि कला का काम राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन करना है। आधुनिकता की अपेक्षा होती है कि कला मनुष्य के मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक संघर्ष और उस संघर्ष जनित पीड़ा की वाहक बने। लेकिन असाध्य वीणा शीर्षक कविता ऐसा नहीं करती है। वह न तो रसवादी आग्रह तक अपने को सीमित रखते हुए मात्र आनंद की सृष्टि को ही अपना लक्ष्य मानती है और न ही आधुनिक यथार्थवादी आग्रह को स्वीकार करते हुए भौतिक संघर्ष की पीठिका तैयार करती है। इस कविता का लक्ष्य इन दोनों (रसवादी और आधुनिक) ही कला उद्देश्यों से अलग है। उद्देश्य की यह भिन्नता असाध्य वीणा शीर्षक कविता को वस्तुनिष्ठ कला की श्रेणी में पंक्तिबद्ध करती है। गुर्जेफ़ ने वस्तुनिष्ठ कला की चर्चा करते हुए इसे एशियाई कला परंपरा की विशेषता बताया है। एशियाई कला परंपरा से उनकी मुराद ईरानी, भारतीय, चीनी और जापानी कला परंपरा से है। आधुनिक युग में अपनी इस कविता के माध्यम से अज्ञेय भारत और एशिया की भूली-बिसरी वस्तुनिष्ठ कला परंपरा को पुनर्नवा करते हैं। इस वस्तुनिष्ठ कला परंपरा में निहित अध्यात्म और कला के गहरे रिश्ते का पुनराख्यान कहते हैं जिसकी ओर आधुनिक चेतना से लैश कला और आलोचना ने पीठ फेर लिया है। परंपरा को नकारने वाली इस औपनिवेशिक आधुनिकता के विडम्बना जनक कलात्मक प्रतिफलन के प्रति अज्ञेय बहुत सचेत हैं। तभी वे कहते हैं-

नमस्कार कर मुड़ा प्रियंवद केशकाम्बली।
ले कर कम्बल गेह गुफा को चला गया।
उठ गयी सभा। सब अपने अपने काम लगे।
युग पलट गया
प्रिय पाठक! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।

(अज्ञेय काव्य स्तबक : 101)

इस कविता की अंतिम दो पंक्तियों की बड़ी दिलचस्प व्याख्या विद्यानिवास मिश्र ने की है। वे कहते हैं कि "अंतिम पंक्तियाँ इसलिए आवश्यक थीं कि वाणी की सार्थकता मौन में है, वह मौन ऐसा कि 'वह' के व्यक्ति को विराट सत्य में, डुबोने के बाद पुनः पार तिरने पर मिला और वीणा तथा वाणी दोनों में स्वर का हेर फेर है, नहीं तो दोनों एक हैं। यह मौन एक तरह से उस विराट सत्य के नाना मुखरित रूपान्तरों के ध्यान का संस्कार पाकर मौन बना है। यह अजनबी वीणा की तरह वीणा के स्रोत के आवाहन् के माध्यम से बज कर मौन हुआ है, दूसरे शब्दों में स्रष्टा के रूप में अपने को स्थापित करके स्रष्टा के संस्कार से प्रसाद रूप में पाए हुए नये व्यक्तित्व के रूप में उदय हुआ है।" *(विद्यानिवास मिश्र रचना संचयन : 588)*

विद्यानिवास मिश्र की तर्क पद्धति में दोष है। वे इन पंक्तियों का कोई सम्बन्ध सभा के विसर्जित हो जाने तथा युग के पलट जाने से नहीं जोड़ते- जो कि उपरोक्त पंक्तियों को सही सन्दर्भ प्रदान करती हैं। वे दूसरी गलती यह करते हैं कि अज्ञेय की वाणी के मौन का सम्बन्ध उस महामौन (विराट सत्य) से जोड़ते हैं जो एक आध्यात्मिक अनुभूति है। विद्यानिवास जी को आध्यात्मिक मौन तथा वाणी के मौन के बीच के अंतर पर ध्यान देना चाहिए था। विद्यानिवास जी की तीसरी गलती तो और भी भयानक है जहाँ वे कहते हैं कि वीणा में सिर्फ स्वर का हेर फेर है, नहीं तो दोनों एक हैं। समूची कविता में कवि ऐसा कोई संकेत नहीं करता है। कविता की संरचना को देखें तो वीणा और कवि की वाणी के बीच दूरी बहुत स्पष्ट है। कविता में कवि कथावाचक (नैरेटर) है जबकि वीणा कथा का मुख्य वादन यंत्र है। लेकिन विद्यानिवास जी दोनों के एक होने की कल्पना कर लेते हैं। वीणा और वाणी के बीच स्वर का हेर फेर तो है लेकिन स्वर के इस हेर फेर ने दोनों शब्दों के अर्थ में जमीन और आसमान का फर्क पैदा कर दिया है। उपरोक्त पंक्तियाँ सिर्फ कविता का समापन वक्तव्य भर नहीं है। प्रियंवद केशकम्बली के जाने के बाद और सभा के उठ जाने के बाद कवि का यह कहना है कि 'युग पलट गया' बहुत अर्थ गर्भित है। युग पलट जाने का अर्थ है आधुनिक युग का आगमन होना। इस आधुनिक युग में अध्यात्म-साधना तथा कला के आपसी रिश्ते की पड़ताल और बखान करने वाले लोग नहीं रहे। इस युग में वस्तुनिष्ठ कला का कोई कद्रदान नहीं रहा। इसीलिए वस्तुनिष्ठ कला का बखान करने वाली अज्ञेय की वीणा भी मौन हुई। पश्चिम प्रेरित आधुनिकता के आगमन ने कला को भौतिकता और इह्लौकिकता तक ही महदूद कर दिया। राजनीतिक-सामाजिक सन्दर्भों में ही काव्य का पाठ करने की कवि-समय (चलन) ने कविता को न सिर्फ अध्यात्म से विरत कर दिया बल्कि उसे समृद्ध भारतीय कला परंपरा से भी विच्छिन्न कर दिया। एक ऐसे युग में—जहाँ साधना और अध्यात्म के महत्त्व को नहीं समझा जाता, जहाँ कला और चिंतन को सिर्फ इह्लौकिकता और भौतिकता तक ही महदूद रखा जाता है, जहाँ पश्चिम के अनुकरण को ही प्रगति और आधुनिकता समझा जाता है- अध्यात्म का बखान करने वाली, कला और अध्यात्म के रिश्ते की व्याख्या करने वाली

वाणी का मौन हो जाना ही उसकी नियति है। इसीलिए युग पलट जाने के बाद वस्तुनिष्ठ कला का गुणगान करने वाली अज्ञेय की वाणी भी मौन हो गयी।

हिंदी कविता में आधुनिकता और आधुनिकतावाद के उत्थान के समय में असाध्य वीणा शीर्षक कविता लिख कर अज्ञेय वस्तुनिष्ठ कला की भूली बिसरी परंपरा को पुनर्नवा करते हैं। अपनी रचनाशीलता को परंपरा से संपृक्त करके तत्कालीन भारतीय रचनाशीलता के अन्तःस्थल में पैठी हुई औपनिवेशिकता का विखंडन करते हैं और भारतीय काव्य परंपरा को आधुनिक बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। जब हिंदी आलोचना और समाज विज्ञान के दायरों में औपनिवेशिक आधुनिकता और भारतीयता जैसे विषयों पर नए सिरे से बहस की शुरुआत हो चुकी है तब 1961 में लिखी इस कविता का महत्त्व बढ़ गया है। यह कविता इस बात पर भी इसरार करती है कि कला के विश्व पटल पर वस्तुनिष्ठ कला परंपरा भारत और एशिया का बहुत बड़ा योगदान है। औपनिवेशिक आधुनिकता के उठान के दिनों में इस काव्य परंपरा की याद दिलाने और उसे रचनात्मक रूप से चरितार्थ करके दिखलाने के लिए हिंदी समाज को अज्ञेय का ऋणी होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. अज्ञेय (2015), सभ्यता का संकट इन कुमार विमल, अज्ञेय गद्य रचना संचयन, पृ. 560-574, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
2. अज्ञेय (1995), असाध्य वीणा इन विद्यानिवास मिश्र रमेशचंद्र शाह, अज्ञेय काव्य स्तबक, पृ. 90-101, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
3. अज्ञेय (2011), कृष्णदत्त पालीवाल (सं), अज्ञेय रचनावली, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
4. विद्यानिवास मिश्र (2016), असाध्य वीणा इन गिरीश्वर मिश्र, विद्यानिवास मिश्र रचना-संचयन, पृ. 585-599, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
5. सैयद हैदर रज़ा अशोक वाजपेयी (2004), आत्मा का ताप रज़ा की जिंदगी और कला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
6. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (2011), भारतीय परंपरा के मूल स्वर इन कृष्णदत्त पालीवाल, हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला (भाग-1), पृ. 25-138, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नयी दिल्ली
7. संतोष कुमार, असाध्य वीणा और भारतीय दर्शन इन बहुरि नहिं आवना, जुलाई-सितम्बर, 2022, पृ. 5-13
8. https://www.gurdjieff.org
9. https//www.gurdjieff.org/challenger2.htm
10. https://escuelacamino4.org/en/gurdjieff-4th-way/88-objective-art

डा. सन्तोष कुमार
ऐसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी
शहीद भगत सिंह कॉलेज
नई दिल्ली

सन् 1990 ई. के पश्चात् कश्मीर की हिंदी कविता का विषय-परिवर्तन

—उमर बशीर

दुर्भाग्यतः सन् 1990 ई. का दशक कश्मीर के इतिहास का काला अध्याय माना जाता है। इस दशक ने कश्मीरी जनता को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मानसिक रूप से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया है,फिर चाहे वह वहाँ के मुसलमान हो अथवा हिंदू-वर्ग (जिन्हें सामान्यतः कश्मीरी-पंडित कहा जाता है)। इस अवधि में कश्मीर में कई हत्याकांड एवं नरसंहार घटित हुए हैं। वस्तुतः राजनीतिक दृष्टि से सन् नब्बे का दशक बड़े उथल-पुथल का दौर रहा है। राज्य सरकारें निरंतर बनती और गिरती रहती थी। यह समय कश्मीर में उग्रवाद का आरंभिक चरण था, जिसमें अनेक उग्रवादी संगठनों की स्थापना हुई, परिणामस्वरूप चारों ओर चिंताजनक तथा भयानक परिस्थितियों ने जन्म लिया। उग्रवादी गतिविधियों को रोकने और उनसे निपटने के लिए राज्य सरकार भी असफलता का शिकार रही। राजनीतिक वैमन्स्यता के कारण गृहकलह और हत्याओं के इस दौर में कश्मीर में कुछ चरमपंथियों की गतिविधियों से अधिकतर लोग पीडित थे। अल्पसंख्यक समाज के रूप में कश्मीरी हिंदू-वर्ग उग्रवाद के आरंभिक चरण में पर्याप्त प्रभावित हुआ।

कश्मीर घाटी में तनाव की स्थिति तब और भी बढ़ गयी थी जब 14 सितंबर 1989 ई. में भाजपा (भारतीय जनका पार्टी) के प्रमुख स्थानीय नेता वकील टीका लाल टपलू की हत्या की गयी। टपलू अपने समय के सबसे वरिष्ठ कश्मीरी हिंदू नेता थे। वह भाजपा के राज्य-उपाध्यक्ष थे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ(आरएसएस) के साथ उनकी जानी-मानी संगति थी।[1] ठीक डेढ़ महीने के उपरांत 4 नवंबर 1989 ई. में श्रीनगर के उच्च न्यायालय के निकट, न्यायाधीश(अवकाश प्राप्त) पंडित नीलकांत गंजू की गोली मारकर हत्या की गयी। ज्ञातव्य है कि यह वही न्यायादीश थे जिन्होंने मकबूल भट्ट नामक व्यक्ति को सन् 1985 ई. में फाँसी का दण्ड दिलवाया था। तदोपरांत 27 दिसंबर 1989 ई. में दक्षिण-कश्मीर के अनन्तनाग जनपद में वकील व पत्रकार प्रेम नाथ भट्ट सहित अनेक हिंदु नेताओं की हत्याओं ने हिंदू-समुदाय को पर्याप्त भयभीत किया। अशोक कुमार पांडेय भी अपनी पुस्तक कश्मीर और कश्मीरी पंडित में लिखते हैं, ''पंडितों का डर बेवजह नहीं था। अल्पसंख्यक समाज के मनोविज्ञान में डर का एक अंश तो होता ही है। फिर जिस तरह

कश्मीरी पंडितों की हत्या हुई थी, उससे डर पैदा होना ही था। ख़ास तौर से तब जब टीकालाल टपलू, लासा कौल और नीलकांत गंजू जैसे महत्वपूर्ण लोग आतंक के शिकार हुए।''[2] कुल मिलाकर कश्मीर में चारों ओर तनाव और चिंताजनक परिस्थितियों ने एक ऐसे वातावरण को जन्म दिया कि अधिकतर कश्मीरी हिंदुओं ने घाटी से पलायन करने का निर्णय लिया, विशेषतः 19 जनवरी 1990 ई. में, जिसमें सैंकड़ों कश्मीरी हिंदुओं ने कश्मीर घाटी से सामूहिक पलायन किया।

वास्तव में जो लोग कभी कश्मीरी मुसलमानों के दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्यों में सहभागी हुआ करते थे, वही लोग एक दिन कश्मीर से विवशतः पलायन करेंगे, इसकी कल्पना किसी भी सामान्य कश्मीरी ने नहीं की थी, क्योंकि कश्मीर के यह दोनो प्रमुख समुदाय, मुसलमान तथा हिंदु; खान-पान, वेशभूषा, संस्कृति आदि में एक समान थे। एक दूसरे के विवाह समारोह में आना-जाना सामान्य बात थी। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद सबके लिए समान अवस्था थी। सानुसार अशोक कुमार पांडेय, ''साथ रहते-रहते एक सहकार और सहजीवन विकसित हो जाता है वह तो था ही। दोनों की संस्कृति समान थी,भाषा एक थी और कश्मीरी होने का आत्म-सम्मान भी।''[3] जो भी हो वास्तविकता तो यह है कि जो कभी कश्मीरी मुसलमानों का सहभागी, सहपाठी, सहकारी हुआ करता था, वह आज विस्थापन झेल रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि वह एक बार फिर उस क्षेत्र में अपना जीवन-यापन प्रारंभ करें जो कभी उनका वतन हुआ करता था। आज भी एक सामान्य कश्मीरी इस भावना को अपने हृदय में पाल रहा है कि कब वह दिन आयेगा जब वह एक बार फिर उन मार्गों पर एक साथ चलेंगे जिन पर वह कभी एक साथ चला करते थे।

स्पष्ट है कि सन् 1990 ई. में कश्मीर की विकृत होती जा रही परिस्थितियों के कारणवश कश्मीर एक संघर्ष-क्षेत्र में परिवर्तित होने लगा। चारों ओर उत्पन्न होने वाली चिंताजनक परिस्थितियों के कारण कश्मीर में भय का वातावरण जब चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा, तो परिणामतः कश्मीरी वर्ग-विशेष (हिंदू-वर्ग) घाटी से पलायन करने के लिए विवश हुआ। अतः जब इस वर्ग-विशेष ने कश्मीर घाटी से पलायन किया तो कश्मीर में हिंदी साहित्य-सृजन का चलन ना होने के बराबर हुआ, क्योंकि कश्मीर का सर्वाधिक हिंदी साहित्य-लेखन कार्य इन समर्थ हिंदी प्रेमियों के द्वारा ही संपन्न होता था।

इतिहास साक्षी है कि एक समय में कश्मीर संस्कृत भाषा व साहित्य का प्रमुख केंद्र रहा है। संस्कृत भाषा व साहित्य की समृद्धि व प्रोन्नति हेतु कश्मीर के योगदान को सदा स्वर्णिम अक्षरों से लिखा जायेगा।जहाँ तक हिंदी भाषा का संबंध है तो निश्चित ही कश्मीर एक अहिंदी प्रदेश है, जहाँ हिंदी लगभग चौथी भाषा है। इसके बावजूद कश्मीर में हिंदी साहित्यकारों की एक उर्वरक व उच्चारक परंपरा रही है। कश्मीर में हिंदी का आरंभ लगभग 17वीं शताब्दी से माना जाता है।

वास्तव में सन् नब्बे के दशक से पूर्व कश्मीर के हिंदी साहित्य पर यदि एक सतही दृष्टि डाली जाये तो ज्ञात होगा कि कश्मीर की हिंदी कविता का विषय और भाव-बोध या तो छायावादी रहा अथवा प्रयोगवादी। आलोच्य दशक से पूर्व कश्मीर की हिंदी कविता में मुख्य रूप से प्रकृति चित्रण, सामाजिक व सांस्कृतिक चिंतन आदि से परिपूर्ण रचनाएँ देखने को मिलती है। परंतु सन् 1990 ई. के उपरांत इस प्रकार की कविता का मिज़ाज (विषय) यकायक बदलने लगा, जो अकारण नहीं है। समाज से संबंधित परिस्थितियाँ ही किसी नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति को जन्म देती है। यही बात कश्मीर में नब्बे के दशक के बाद की हिंदी कविता पर लागू होती है। इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना अनुचित नहीं है कि मुख्यतः प्रकृति-चित्रण अथवा वायवी कल्पना की अपेक्षा अधिकतर कवियों ने समाज को, अपने अस्तित्व को, अपनी समस्या को, कश्मीरी पंडितों के पलायन आदि को लेकर ही काव्य-रचना की। इस संदर्भ में कश्मीर के युवा कवि डॉ. मुदस्सिर अहमद भट्ट अपनी पुस्तक कश्मीर में हिंदी(2020 ई.)में लिखते हैं, ''इसमें कोई दोराय नहीं है कि विस्थापन की त्रासदी के पश्चात् कश्मीर के रचे जा रहे हिंदी साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव इतना प्रभावी था कि घाटी में हिंदी का चलन न होने के बराबर हुआ। कश्मीर से विस्थापित हुए हिंदी साहित्य सेवी भारत के अन्य राज्यों में रहने को विविश थे, परंतु हिंदी के ये समर्थ, सक्रिय एवं समर्पित साहित्य-साधक भावाभिव्यक्ति के अनुपम पुष्पों से हिंदी साहित्य को चार-चाँद लगाते रहे। कालांतर में इनकी इस भावाभिव्यक्ति को विस्थापन साहित्य की संज्ञा दी गयी।''[4] अतः कहने का तात्पर्य यह है कि सन् 1990 ई. के पश्चात विस्थापन साहित्य की ही अधिक वृद्धि हुई है, जिसमें विस्थापन जैसी विक्राल पीड़ा को साहित्य की कविता-विधा ने सबसे तीव्र रूप में प्रकट किया।

अतः कश्मीर की इस विस्थापन-कविता में मुख्यतः उद्वेलन, विक्षोभ, विलाप, संघर्ष, चिन्ताकुलता, आक्रोश और घर वापसी की पीड़ा का स्वर सुनायी पड़ता है, जो स्वाभाविक भी है। इस प्रकार के काव्य में नॉस्ताल्जिया-बोध (Nostalgia)

की कविताएँ भी अत्यधिक दिखायी पड़ती है। इसके अतिरिक्त कश्मीर से विस्थापित लोगों की समस्याओं ने भी इस कविता में स्थान प्राप्त किया है। इस काव्य-कोटि के प्रमुख हस्ताक्षरों में, महाराज कृष्ण संतोषी, डॉ. अग्निशेखर, महाराज कृष्ण भरत, क्षमा कौल, रतन लाल शाँत, आशमा कौल, निदा नवाज़ आदि का नाम लिया जा सकता है। यह कविता जम्मू-कश्मीर के हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।

सन् नब्बे के पश्चात् कश्मीर की इस कविता के विषय-वस्तु का यह परिवर्तन इतना परिवर्तित हुआ कि अधिकतर कविताओं का भाव-बोध अत्यधिक ठोस और मार्मिक बन पड़ा है। कश्मीर की आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य संवेदना विस्थापन और उससे उपजी पीड़ा है। तत्वतः विस्थापन की इस संवेदना के बहुमुखी धरातल हैं। यह कविता समकालीन कश्मीर से जुड़े बहुधा वस्तु-तत्वों से साक्षात दर्शन कराती है। कृपाशंकर चौबे के अनुसार, ''कश्मीर की आधुनिक हिंदी कविता अपने समय, समाज और कविता के इतिहास से इतनी जुड़ी हुई है कि वही उससे सार्थक विद्रोह भी कर पाती है।''[5] विस्थापन की यह कविता न केवल कश्मीरी-पंडितों के विस्थापन को दर्शाती है, अपितु संपूर्ण विश्व में हुए उन सभी विस्थापितों की आवाज़ बन जाती है जो कुछ राजनीतिक कारणों आदि से आज भी विस्थापन का दंश झेल रहे हैं। इस संदर्भ में कश्मीर का विस्थापित कवि अपनी कविता के बारे में लिखते हुए कहता है।

''मेरी कविता वह माईग्रेंट ख़ेमे हैं
जहाँ आज के युग का इनसान
दिन भर कम्प्युटर तो चलाता है
मगर रात को
बारी-बारी सोता है
क्योंकि उसे भी
'कुछ-कुछ होता है'
तभी तो
पलायन के बाद
भरे घर में
अकेले रोता है
जैसे मैं रोता हूँ
अकेले में
अंधेरे में'' [6]

एक सृजनधर्मी की सृजनात्मकता तब एक आकार लेने लगती है जब वह स्वयं किसी दुःख से गुज़रकर नवीन मार्गों का खोजी बन जाता है। ''दुःख सबको माँझता है'' को चरितार्थ करते हुए ही कहा जाता है कि दुःख अथवा कष्ट व्यक्ति-विशेष के अनुभव तथा कल्पना को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों से प्रभावित करता है। यह एक निर्विवादित तथ्य है कि कश्मीर से विस्थापित कवियों के काव्य की केंद्रीय संवेदना विस्थापन, निर्वासन और निष्कासन से उपजी पीड़ा है, जिसकी झलक उनकी कविताओं में स्पष्ट झलकती है। विस्थापन का दंश झेलने के उपरांत एक लेखक की अभिव्यक्ति तीक्ष्ण तथा विशिष्ट बन पड़ती है। यह अनायास नहीं है, उसके पीछे का जो मुख्य कारक-तत्व होता है, वह यह है कि लेखक स्वयं उसका भुक्तभोगी अथवा प्रत्यक्ष-द्रष्टा रहा होता है। विस्थापन की पीडा झेल रहा कवि एक ओर अपने पीछे छूट चुके वतन (कश्मीर) का स्मरण करते हुए पुनः उसे प्राप्त करने की इच्छा से संघर्षरत है,तो दूसरी ओर उन सारी भीष्ण घटनाओं को शब्दबद्ध करते हुए अपनी कविता के पाठकों को संबोधित करते हुए कहते हैं,

''कविता लिखना
तपे हुए लोहे के घोड़े पर चढ़ना है
या उबलते हुए दरिया में
छलांग मार कर मिल आना
उन बेचैन
हुतात्माओं से
जो करते हैं
हमारी स्मृति में वास'' [7]

विस्थापन में कविता रचते कवि अपने ही कवि-मन को सैंकडों प्रश्नों की परिधि में खड़ा करते हुए स्वयं से ही निरंतर अनेक प्रकार के प्रश्न करते रहते हैं। खुद से ही पूछते हैं कि आखिर जो उसकी रचनात्मकता है क्या वह सायास है अथवा अनायास। निःसंदेह जो वह लिख रहा है वह उसके भोगे हुए यथार्थ की अश्रुसिक्त अभिव्यक्ति है,

''मैंने जो रचा
क्या वह मेरा दुःख था
मेरी पीड़ा थी
या फिर मेरी जिजीविषा ?
मैंने जो रचा
क्या वह दुख में सुख की आकांक्षा थी
या काल के खिलाफ
मेरी सांसों का संघर्ष ?'' [8]

सन् नब्बे में चारों ओर परिस्थितियाँ विकृत होने के

कारण अल्पसंख्यक समुदाय ने कश्मीर से इस उद्देश्य से पलायन किया था कि कुछ समय पश्चात् परिस्थितियाँ सामान्य होते ही वह वापस अपने घर कश्मीर लौटेंगे, परंतु वे इस अकल्पनीय तथ्य से अनभिज्ञ थे कि वह कश्मीर को अंतिम बार देख रहे हैं। विस्थापन जीवन में कश्मीर का स्मरण करते-करते कवि पर इतना नैराश्य छाया है कि,

''पपड़ा गई है मेरी चमड़ी
उलझ गई हैं माथे की दिशाएँ
सख्त हो गए हैं सीने के फफोल
चिपक गए खून के थक्के,
तन के इस ऊबड़-खाबड़ में''[9]

कश्मीर में सन् नब्बे के दशक से पूर्ववर्ती कविगण हिंदी की छायावादी तथा प्रयोगवादी कविता की भाषा से अत्यधिक प्रभाव ग्रहण कर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे, परंतु परवर्ती कवियों ने हिंदी के सहज, सरल तथा बोधगम्य भाषा-रूप को अपनाकर सपाटबयानी का ही अधिक अनुसरण किया है। विस्थापन कविता में भी अधिकतर कवियों ने अलंकाराडंबर और शब्दों के मायाजाल से मुक्त होकर स्पष्ट शब्दों में अपनी भावाभिव्यक्ति को शब्दबद्ध किया है।

तात्पर्यतः यह कहना अनुचित न होगा कि घर-बार की सभी स्मृतियों से लेकर उग्रवाद की आग तक की सारी क्रूर स्थितियाँ विस्थापन-काव्य की एक-एक कविता में मार्मिक रूप में उभर कर सामने आती हैं। यह एक निर्विवादित तथ्य है कि विस्थापन अत्यंत त्रास्द होता है, वह भी तब जब अपने ही देश में विस्थापन हो। यह बात कश्मीर की विस्थापन कविता को पढ़ने के पश्चात् और भी स्पष्ट होती है, क्योंकि कश्मीर की विस्थापन कविता अपने ही देश में दर-दर भटकते कश्मीरी पंडितों की दर्दभरी काव्यात्मक दास्तान है, जो हमें उन अंधेरी तथा वीभत्स खाइयों से अवगत कराती हैं जहाँ व्यथा ही जीवन की कथा होती है। निश्चित ही, ''विरोधाभास में विस्थापित जी रहे हैं, विरोधाभास को कवि झेल रहे हैं और जैसे भी हो अपने भावों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं।''[10]

संदर्भ

1. Daijiworld Media Pvt-Ltd- Manglore-Tragedies of Kashmiripanditsin1990-14 september 2021, https:@@www-daijiworld-com@news@ Display\newsID¾873304-Accessed 18 Sep 2021-
2. पाण्डेय, अशोक कुमार, कश्मीर और कश्मीरी पंडित, राजकमल प्रकाशन, प्राईवेट लिमिटेड, दरियागंज, नयी दिल्ली, पाँचवा-संस्करण, 01 मार्च 2021 ई.,पृ.311.
3. पाण्डेय, अशोक कुमार, कश्मीरनामा.राजपाल एण्डसन्ज़, कश्मीरी गेट, नयी-दिल्ली, चौथा संस्करण, 2019 ई., पृ.404.
4. भट्ट,(डॉ.) मुदस्सिर अहमद, संयम एवं साहस का काव्य रूनिदा नवाज और सतीश विमल के विशेष संदर्भ में, कश्मीर में हिंदी, संपादक : डॉ. मुदस्सिर अहमद भट्ट, ब्लू डक पब्लिकेशन्ज़, श्रीनगर, कश्मीर, 2020 ई., पृ. 138
5. चौबे,कृपाशंकर, हिंदी साहित्य में कश्मीर का योगदान, बहुवचन, जनवरी-सितंबर, 2020 ई., पृ. 204
6. बेताब, बृजनाथ, मैं कवि नहीं हूँ (जे.के. ऑफसेट प्रिंटरेस दिल्ली) स्वंय लेखक द्वारा प्रकाशित, 2003 ई., पृ. 5
7. डॉ. अग्निशेखर, जवाहर टनल, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली, 2009 ई., पृ. 23
8. संतोषी, महाराज कृष्ण, आत्मा की निगरानी में, मानस पब्लिकेशन्स, तुलारामबाग, इलाहाबाद (यू.पी.), 2015 ई., पृ. 112
9. शांत, रतनलाल, कविता अभी भी, नीहार प्रकाशन, सुभाष नगर, जम्मू, 1997 ई., पृ. 155
10. शांत, (डॉ.) रतन लाल, कश्मीर : साहित्यिक संदर्भ, नीहार प्रकाशन, सुभाष-नगर, जम्मू, 2000 ई., पृ. 86

उमर बशीर
शोधार्थी
हिंदी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर
कश्मीर

संत गुरु रविदास का सामाजिक चिंतन

–विकास कुमार यादव

कहा जाता है कि 'चिंता करोगे तो भटक जाओगे, चिंतन करोगे तो भटके हुए को राह दिखाओगे'। इस संदर्भ में संत गुरु रविदास भी एक सामाजिक चिंतक हैं क्योंकि उनके यहाँ भी अनेक ऐसी वाणियाँ मिलती हैं, जिनमें भटके हुए समाज को राह दिखाई गयी है। ये(संत गुरु रविदास) गौतम बुद्ध की परंपरा की कड़ी को बढ़ाने वालों में से एक हैं। इनकी वाणियां बुद्ध के इस वैज्ञानिक सत्य की भावना से परिपूर्ण हैं कि 'जन्म से ही किसी की जाति छोटी नहीं होती, ना ही जन्म से कोई ब्राह्मण होता है। मानव अपने कर्मों से ही ऊंच या नीच बनता है और अपने कर्मों से ही ब्राह्मण'। जैसा कि उनकी इन वाणियों से उपर्युक्त तथ्य सत्यापित हो जाता है कि–

'रविदास' जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
नर कूं नीच करि डारि है, ओछे करम कौ कीच॥[1]

'रविदास' सुकरमन करन सौं, नीच ऊंच हो जाय।
करइ कुकरम जौ ऊंच भी, तौ महा नीच कहलाय॥[2]

अतः रैदास भी बुद्ध की तरह जन्मना के वर्चस्व के बरकस कर्मणा के तार्किक सिद्धांत को प्रतिस्थापित करते हुए कहते हैं कि- *'पूजहि चरन चंडाल के, जो होवे गुन ज्ञान प्रवीन'*।

इन्होंने महिलाओं और वंचित समझे जाने वाले व्यवसायों में रत मानवता को इज्जत ही नहीं दी बल्कि ऐसे लोगों के प्रति असमाजिक भाव रखने वालों को मुंह-तोड़ जवाब भी दिया। इन्होंने न केवल मनुवाद के वर्चस्व को चुनौती दी बल्कि समतावादी विचारों के संवाहक के रुप में सामाजिक न्याय का संदेश दिया, जिसके मूल में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व मुख्य आधार स्तंभ हैं। इनके द्वारा उठाया गया जाति का सवाल आज हमारे देश में देशज आधुनिकता की कसौटी बन चुका है। जब प्रकृति में कोई भेद-भाव नहीं है, सभी जातियों में एक ही रक्त और मांस है तो यह भेद-भाव मानव समाज

में कहां से आया ? यह सब मनुवाद, ब्राह्मणवाद को बनाये रखने वाली शक्तियों का गुमराह करने का तरीका है। इसलिए गुरु जी ने धर्म और जाति विभक्त इस गुमराह समाज को राह दिखाते हुए कहा कि ''रविदास' इक ही नूर ते, जिमि उपज्यो संसार।''[3]

जैसा कि वीर भारत तलवार कहते हैं कि ''आधुनिक व्यक्ति कौन है, कल तक हमारे पास इसकी कोई कसौटी नहीं थी, हम पश्चिम के मुताबिक ढलने को ही माडर्निटी समझते थे। लेकिन आज इस देश में एक कसौटी है हमारे पास कि जाति प्रथा में विश्वास करते हुए कोई आधुनिक नहीं बन सकता है।''[4] इस जाति व्यवस्था में करोड़ों लोग आस्था रखते हुए अपना जीवन जीते हैं और इस आस्था से प्रेरित होकर दूसरों की जान लेते हैं तथा हिंसा करते हैं। अतएव ऐसी निराधार, विवेकहीन तथा अहंकारपूर्ण मान्यता जब तक समाप्त नहीं होगी तब तक इंसान एक-दूसरे से जुड़ नहीं सकता है। इसलिए मानवता के लिए अभिशाप इस जातिवादी आस्था का विरोध करते हुए रविदास जी ने कहा है कि-

जाति-जाति में जाति है, जो केलन के पात।
रैदास मानुष ना जुड़ सके, जब तक जाति न जात॥
जात पांत के फेर मंहि, उरझि रहइ सब लोग।
मानुषता कूं खात हइ, 'रविदास' जात कर रोग॥[5]

रैदास मध्यकाल के पहले कवि हैं जिन्होंने पराधीनता (गुलामी) पर सवाल उठाते हुए कहा है कि–

पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।
'रविदास' दास पराधीन सों, कौन करै है पीत॥ [6]

इसको ही आधुनिक काल में आधुनिक भारत के निर्माता डॉ. अंबेडकर ने व्यापक रुप दिया और इतना ही नहीं भारतीय संविधान को स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे शब्द बुद्ध और रैदास से ही मिले हैं। रैदास ने राजसत्ता और धर्मसत्ता की भाषा यानी संस्कृत और फारसी जो सामंती और पुरोहिती प्रवृत्तियों को बताने वाली थीं उनका बहिष्कार किया और देशी भाषा (जनता की भाषा) में अपनी रचनाएं की तथा गुरुमुखी लिपि का आविष्कार किया, जिसमें तमाम सिक्ख वाणियां और शिक्षा लिपिबध्द है। जिससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी बोलने वालों के अलावा भी लोगों में अक्ल होती है। लोकभाषाओं की परंपरा से सम्मान बढ़ाने की समझ कबीर, रैदास जैसे कवियों से मिलती है।

रैदास ने भक्ति-कालीन'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी' तथा 'नारी की झाईं परत, अंधा होत भुजंग' जैसी मान्यताओं का खंडन करते हुए स्त्री-प्रश्न पर तुलसी, कबीर आदि से आगे निकल जाते हैं। यह तथ्य इस बात से सिद्ध है क्योंकि इन्होंने महिलाओं को भी अपनी शिष्या बनाया।

कबीर ने कहा था कि 'बागों न जा रे न जा, तेरी काया में गुलजार'- इसका आशय है कि बाहर कहीं भटकने की जरुरत नहीं, तुम्हारा शरीर ही मंदिर है, जिसके भीतर तुम्हारा साईं बसता है- 'तेरा साईं तुझमें जाग सके तो जाग'। इसी तरह रविदास भी धर्म की एक नई प्रस्तावना और जमीन तैयार करते हुए कहते हैं कि–

बन खोजइ पिअ न मिलहिं, बन मंह प्रीतम नांह।
'रविदास' पिय है बसि रह्यो, मानव प्रेमहि मांह॥7

का मथुरा का द्वारिका, का कासी हरिद्वार।
'रविदास' खोजा दिल आपना, तउ मिलिया दिलदार॥[8]

ये उन्हीं व्यक्तियों को श्रेष्ठ मानते हैं जो दीन-दुखियों के सेवक बनकर उनके संताप को हरते हैं, न कि उनकी जान लेते हैं। जैसा कि इस वाणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है-

'दीन दुखी के हेत जउ, बारै अपने प्रान।
'रविदास' उह नर सूर कौ, सांचा क्षत्री जान॥[9]

प्रकांतर से यही बात में कबीर की इस पंक्ति में कि 'कबीरा सोई पीर है जो जानै पर पीर' और नरसी मेहता की इस पंक्ति में कि 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जिन पीर पराई जाणी रे' देखी जा सकती है।

हमारे समय में मठों की, मंदिरों की, नकली और पांच सितारा बाबाओं की भरमार क्यों हैं ? इसलिए कि आज हम एक ऐसे समाज में आ गये हैं, जिसके लालच का कोई अंत नहीं है, हम और ज्यादा पाना चाहते हैं।एक कहावत है कि लालचियों के गाँव में कोई ठग भूखा नहीं रहता। इसलिए हम लालची लोगों के बीच इन बाबाओं का कारोबार बहुत तेजी से बढ़ रहा है। रैदास का चिंतन इस लालच पर प्रश्न लगाता है। गुरु रविदास ने इस ढोंगी और लालची प्रवृत्ति पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए संन्यास की एक दूसरी परिभाषा दी कि संन्यास का मतलब दूसरों को ठगकर, चमत्कार दिखाकर, मठों, मंदिरों में बैठकर चढ़ावे का माल उड़ाना तथा हलवा-पूड़ी खाना नहीं है। इस संदर्भ में ये एक श्रमशील संन्यास की परंपरा की नींव डालते हैं, जैसा कि यह बात उनके इस वाणी से स्पष्ट है कि–

'रविदास' श्रम कर खाइहि, जो लौं पार बसाय।
नेक कमाई जउ करइ, कबहुं न निहफल जाय ॥[11]

जैसे कबीर चरखा चलाते हुए इस (श्रमशील) परंपरा का निर्वाह करते हैं उसी तरह रविदास भी श्रमसाधना का उपदेश देकर ही नहीं रह जाते, अपितु स्वयं इसका पालन करते हैं। इनकी दृष्टि में 'श्रम' ईश्वर का रूप है। श्रम-साधना रूपी ईश्वर की पूजा द्वारा ही वे भवसागर से पार होने का अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं-

रविदास हौं निज हत्थहिं, राखौं रांबी आर।
सुकिरित ही मम धरम है, तारैगा भव पार ॥[12]

ये एक ऐसे समाज का विकल्प प्रस्तुत करते हैं जहां हाय-हाय नहीं, संतोष हो। हम लोग रोज कबीर की इन पंक्तियों को गाते रहते हैं कि 'साईं इतना दीजिए, जामे कुटुंब समाय। मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय॥' और हाय-हाय करते रहते हैं कि हे लक्ष्मी! आ जाओ, आ जाओ। हम लोग कहते हैं कि हमारा देश आध्यात्मिक और धार्मिक देश है लेकिन हम इतने भोगी, विलासी और लालची हैं, जितने पश्चिम वाले भी नहीं हैं, जिन्हें हम भौतिकवादी कहते रहते हैं। कबीर इसलिए फटकार लगाते हुए कहते हैं कि इतना संचय किसलिए ? इतनी हाय-हाय क्यों ? जब 'एक दिन हंस अकेला उड़ जाएगा...' यह तन एक दिन लकड़ी की तरह जल जाएगा 'देह जरै जिन लाकड़ी, केस जरै जिन घास'। इसे जाना ही है तो इतना हाय तौबा क्यों ? इसलिए रविदास भी इस लालच पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए संतोष को महत्वपूर्ण बताते हैं। ये धन संचय को दुख का कारण मानते हैं। इनका मानना है कि त्याग, परोपकार तथा जनसेवा में धन को व्यय करने में ही सुख है।

धन संचय दुख देत है, धन त्यागे सुख होय।
'रविदास' सीख गुरु देव की, धन मत जोरै कोय ॥[13]

संतोष में परम सुख मानते हुए रविदासजी कहते हैं कि 'रविदास जहां संतोष है, तहां न लागै दोष'। आदर्श जीवन के लिए उनकी कसौटी है–

सत संतोष और सदाचार, जीवन को आधार।
'रविदास' भये नर देवते, त्यागे पंच विकार ॥[14]

निष्कर्षत

हम एक ऐसे समाज में जी रहे हैं जिसकी दो प्रमुख विशेषता असुरक्षा और हिंसा है। इस समाज में हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित महसूस कर रहा है। हिंसा के प्रति सहज स्वीकृति का जो भाव हमारे समाज में उत्पन्न हुआ है, किसी भी तरह की वैचारिक संवाद की संभावना जो खत्म हुई है, जाति, सरनेम और मज़हब आदि का महत्व बढ़ा रहा है, व्यक्ति को उसके कर्म से नहीं बल्कि उसके किसी न किसी पहचान से उसके महत्व को आंका जा रहा है। आज बड़े बांधों और बड़े उद्योगों के जरिए विकास की जो राह हमने चुनी है, उसने तमाम प्राकृतिक आपदाओं को आमंत्रित किया है। आज उपभोक्तावादी और बाजारवादी संस्कृति में वंचित वर्ग और सुविधा संपन्न वर्ग का फर्क जितना बढ़ा है, उतना पहले नहीं था। ऐसे समय में गुरु रविदास जी तर्क करने की नई आधुनिक चेतना (जो यह प्रश्न करती है कि ये मंदिर और मस्जिद क्यों ? ये ब्राह्मण और शूद्र क्यों? यह कर्मकांड क्यों ? यह 'क्यों' हमारे तथा हमारे समाज के लिए जरूरी है।), नए श्रमशील और स्वावलंबी भारत के निर्माण के व्यापक सामाजिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य के साथ तुलसीदास के रामराज्य के बरक्स 'बेगमपुरा' के रूप में जो सामाजिक मॉडल दिया है, वह ज्यादा आधुनिक, प्रगतिशील और जनतांत्रिक है। जिसमें 'मिलै सबन को अन्न' यह आर्थिक मुक्ति की ओर संकेत है तो 'छोट-बड़े सब सम बसैं' यह सामाजिक मुक्ति की ओर संकेत है

ऐसा चाहौं राज में, जहां मिले सबन कौ अन्न।
छोट बड़ों सभ सम बसैं, 'रविदास' रहै प्रसन्न ॥

फिर भी हमारे हिंदी के आलोचकों को तुलसी में नवजागरण नज़र आता है लेकिन बुध्द और रैदास में नहीं। अतः इसका पुनर्मूल्यांकन जरूरी है।

सहायक-ग्रंथ सूची

1. आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2014
2. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2012
3. समकालीन जनमत (पत्रिका), अप्रैल, 2013, पृ. 22 से 23 तक

संदर्भ सूची

1. आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2014, पृ. 53
2. वही, पृ. 54
3. वही, पृ. 53
4. दलित विमर्श : सिर्फ अपनी मुक्ति की सोच से उत्पीड़ित

समाजों समुदायों की मुक्ति नहीं हो सकती : वीर भारत ryokjhttps://tirchhispelling-wordpress-com/tag/वीर-भारत-तलवार/
5. आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद, गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2014 ,पृ. सं. 53
6. वही, पृ. 55
7. वही, पृ. 51
8. वही, पृ. 52
9. वही, पृ. 54
10. वही, पृ. 53
11. वही, पृ.47
12. वही, पृ. 46
13. वही, पृ. 47
14. वही, पृ. 55

विकास कुमार यादव
शोध छात्र, भारतीय भाषा केंद्र, जे.एन.यू.
329, झेलम हॉस्टल, जे.एन.यू., नई दिल्ली-110067

समकालीन कहानी और हाशिए का समाज

—डा. रेखा सिंह

'समकालीन' शब्द तत्कालीन समय का भाव बोध है। यह शब्द वर्तमान समय से जुड़ा है। समकालीन शब्द 'बहुअर्थी' भी है। समान कालखंड में रचना करने वाले सभी रचनाकार समकालीन हो सकते हैं। वर्तमान दौर में समकालीन शब्द उन रचनाकारों के लिए परिभाषित हो रहे हैं, जो रचनाकार अपनी रचनाओं में 'जनवादी' हैं और साथ ही अव्यवस्था विरोधी भी हैं। समकालीन रचनाकार अपने समय में उपजे मूलभूत प्रश्नों से टकराता है, संघर्ष करता है और अन्ततः मुकाबला भी करता है। 'समकालीन' शब्द अंग्रेजी के 'कांटेंपेरेरी' शब्द के पर्याय के रूप में प्रचलित है। दूसरी तरफ़ समकालीन का विपरार्थक 'व्यतीत' भी है। 'मधुरेश' समकालीन शब्द के गंभीरता के बारे में लिखते हैं, ''समकालीन होने का अर्थ सिर्फ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रभावित करना है।'' समकालीन होने का अर्थ अपने समय के दबाव को महसूस करते हुए यथार्थ का गंभीर चित्रण है।

साहित्य के इतिहास में 'कहानी' का विशेष महत्त्व है। इसलिए प्रेमचंद कहानी को मानव जीवन का अभिन्न अंग मानते थे। हिन्दी साहित्य में 'समकालीन कहानी' का दौर '1970' के बाद से मानी जानी चाहिए। '1970' के बाद भारतीय समाज में कई निर्णायक मोड़ उपस्थित हुए, जो हिन्दी समकालीन कहानियों को नई दिशा तय करने में सहायक है। उनमें प्रमुख घटनाएँ हैं - ''1956 ई. में डॉ. भीमराव अम्बेडकर के द्वारा हिन्दू धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेना। डॉ. भीमराव अम्बेडकर की प्रेरणा लेकर हिन्दी साहित्य में एक नये विमर्श का जन्म हुआ, जिसे 'दलित-विमर्श' के नाम से जाना जाता है। भीमराव अम्बेडकर भारतीय स्त्रियों की पराधीनता से मुक्ति के लिए 'हिन्दू कोड बिल' लाए थे, जो क्रमशःगत संविधान में लागू हुआ, उसके परिणामस्वरूप स्त्रियों में जो चेतना आई, वही कारण था कि हिन्दी साहित्य में 'स्त्री-विमर्श' का जन्म हुआ। '1970' के बाद 'आदिवासी-विमर्श' का भी प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दी साहित्य के जो कभी हाशिए का विषय था, समकालीन कहानियों के केन्द्रीय विमर्श बनकर उभरे।

एक अन्य घटना में '1967' में बंगाल के नक्सलबाड़ी में जमींदारों एवं श्रमिकों के बीच खूनी संघर्ष हुआ। जिसमें बड़ी संख्या में श्रमिकों ने अपने शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। नक्सलबाड़ी आन्दोलन पूरे देश के सामाजिक,

राजनीतिक परिस्थितियों को प्रभावित किया। यह प्रभाव भी समकालीन कहानियाँ की पृष्ठभूमि में स्थित है।

'1990' में देश की अर्थव्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन किया गया। पी.वी. नरसिंह राव सरकार के वित्तमंत्री 'मनमोहन सिंह' के नेतृत्व में 'उदारीकरण' की नई पॉलिसी लाई गई। जो वैश्विक स्तर पर 'ग्लोबलाइजेशन' से चिन्हित की जाने लगी। उदारीकरण का प्रभाव साहित्य की संवेदनाओं में भी लक्षित होने लगे, क्रमशःगत सम्पूर्ण साहित्य बाजारवाद एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव में व्यक्त होने लगे। समकालीन कहानीकारों की मूल कथ्य में बाजारवाद से ऊपजी समस्याओं एवं चुनौतियों को विषय-वस्तु बनाया गया।

'1992' में विवादित 'बाबरी मस्जिद' के ध्वंस के कारण पूरे देश में तनाव का माहौल बन गया था, उसके कारण देश के विभिन्न हिस्सों में साम्प्रदायिक दंगे भी हुए। समकालीन कहानी में उद्धृत साम्प्रदायिकता का दंश संवेदनाओं का हिस्सा बन गया। ''समकालीन कहानियों में जो सबसे बड़ी और लाक्षणिक विशेषता की तरह पहचानी जाने वाली चीज है वह है उसकी वृहत्तर संश्लिष्टता।''[1] समकालीन कहानी की संवेदना के कई स्तरीकरण हैं लेकिन उन स्तरीकरण के संयोजन के तार एक-दूसरे से जुड़े हैं। इसलिए कहानी में सृजनात्मकता और सामाजिक परिवेश को एक-दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता है। समकालीन कहानी में मध्यवर्ग की आशा-आंकाक्षा की संवेदना भी है लेकिन व्यापक अनिश्चय के भीतर आत्म-वृत्तांत भी है। सामाजिक व्यवस्था के भीतर असमानताओं की मनःस्थितियाँ सर्वमान्य हो चुकी है लेकिन समकालीन कहानी उसकी खबर नहीं लेती है। यह समकालीन कहानी की सीमाऐं भी हैं।

समकालीन कहानीकारों में संजीव, उदय प्रकाश, पंकज बिष्ट, स्वयं प्रकाश, सृंजय, शिवमूर्त्ति, प्रेम कुमार मणि, अखिलेश और ओमप्रकाश वाल्मिकी आदि हैं। ''स्वयं प्रकाश समकालीन दौर के व्याकुलतावादी लेखक हैं। वे समकालीन कहानीकारों में आधुनिक जीवन की विसंगतियों में हस्तक्षेप करने वाले कहानीकार हैं। उनका साहित्य आधुनिक जीवन की तमाम विद्रूपताओं के खिलाफ मजबूती से खड़ा होता है और उसका एक रचनात्मक विकल्प पेश करता है।''[2] स्वयं प्रकाश की कहानियों उपभोक्तावाद-बाजारवाद के परिणामस्वरूप आए भारतीय सामाजिक संरचना में बदलाव की कथा कहती है। उनकी कहानियाँ भारतीय संस्कृति पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं और वर्ग-संघर्ष के यथार्थ से हमें रू-ब-रू भी कराती है। 'नीलकांत का सफर' इसका एक बड़ा उदाहरण है। 'संहारकर्ता' एक अच्छी कहानी है। यह कहानी मजदूर और उनकी यूनियन को यथार्थ की कहानी है। ''सत्यकांत ने यूनियन के सैद्धांतिक पक्ष को मजबूत बनाने का प्रयास आरंभ किया। नौकरी की सेवा-शर्त्ते, नियम-उपनियम, प्रशासनिक विधान, दंड-व्यवस्था, सुविधाओं के प्रावधान आदि।''[3] स्वयं प्रकाश ऐसे कहानीकार हैं, जिनकी कहानियाँ उपेक्षितों, शोषितों की आँखें खोलती है, और साथ ही संघर्ष की प्रेरणा भी देती है। वे मार्क्सवादी विचारधारा के पक्षधर हैं। समकालीन कहानीकारों में उदय प्रकाश महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, उनकी 'तिरिछ' कहानी भारतीय संस्कृति का एक यथार्थ है। भारतीय शहरी जीवन में व्यक्ति आज संवेदनहीन हो चुका है। यह संवेदनहीनता ही 'तिरिछ' कहानी में लेखक के पिता की मृत्यु का कारण बनता है। ''इस घटना का संबंध पिताजी से है। मेरे सपने से है और शहर से भी है। शहर के प्रति जो एक जन्मजात भय होता है, उससे भी है।''[4] स्वयं प्रकाश की कहानियाँ विविधताओं का विस्तार है। उनकी कहानियाँ भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों को भेदती हुई यथार्थ के भीतर के यथार्थ को ढूँढ़ती है। 'अंत में प्रार्थना' ऐसे ईमानदार डॉक्टर की कथा है, जो भयावह त्रासदी में भी अपने मानवीयता की सुरक्षा मनुष्य होने में ढूँढ़ पाता है। ''उनकी आँखों में कहीं चिंता या दया के निशान नहीं थे। अगर उनमें से किसी का अपना बच्चा मर रहा होता तो - क्या वे यही व्यवहार करते? क्या मैं सचमुच आदर्शवादी हूँ।''[5] उदय प्रकाश कहानी के जिस शिल्प को गढ़ते हैं, वे शिल्प आज के नये कहानीकारों के लिए एक प्रेरणा है।

'सृंजय' समकालीन कहानी के प्रमुख स्तम्भ हैं, उनका प्रथम कहानी-संग्रह 'कामरेड का कोट' की प्रसिद्धि भारतीय वामपंथ पर तीक्ष्ण प्रहार से शुरू हुआ क्रमशतः उनके कथ्य एवं शिल्प की चर्चाऐं होने लगी। 'सृंजय' की दृष्टि रचनात्मक कौशल और लोक संस्कृति से निर्मित होती है। संग्रह में स्थित 'लक्ष्मी के पाँव' भारतीय संस्कृति की विरूपता पर तीखा व्यंग्य करती है।

समकालीन कहानी का संसार 'केन्द्रीयता से हाशिये की तरफ की कहानी है। यह कैसे संभव हुआ, जो विषय साहित्य के लिए प्रमुख नहीं था, वह समकालीन कहानी के परिधि में प्रमुखता पाई। समकालीन हिन्दी कहानी में किसान, मजदूर, आदिवासी, स्त्री, दलित, थर्ड जेंडर की संवेदनाएं भी केंद्र में है। अब 'सद्गति' के दुःखी चमार की तरह असहाय नहीं है बल्कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' के हरीश की तरह सामंती और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ सीना तानकर खड़े हैं। ''दलित आत्मकथा

और कहानियों में दलित लेखक के जीवन के बहाने जो संसार रचा जा रहा है उसका लक्ष्य है मौजूदा जातिप्रथा को चुनौती देना। इन लेखकों ने आत्मकथा के बहाने निजी जीवन संदर्भ में निहित विचारधाराओं की खोज भी है।''[6]

भारतीय स्त्रियों की पराधीनता समकालीन कहानी का केन्द्रीय पक्ष है। समकालीन स्त्री रचनाकारों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को सीधे चुनौती दी और उसके समानान्तर स्त्री प्रधान सत्ता का शास्त्र रचने की वकालत की। मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, मृणाल पांडेय जहाँ सामाजिक व्यवस्था में स्त्री अस्मिता की बात करती है, वहाँ कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, सुशीला टाँकभौरे समानांतर एक नयी व्यवस्था की मांग करती है। ''स्त्री सबसे पहले अपने गर्भ में अपने लिए जगह ढूँढ़ती है। यह सिर्फ अपने अर्ध-सामंती समाज में ही नहीं है। विश्व में कहीं भी सामान्यतः माँ पहले लड़का ही चाहती है।''[7] यही विडम्बना स्त्रियों की स्वयं की है। स्वयं की स्वयं से मुक्ति जब तक नहीं होगी, तब तक स्त्री अस्मिता के बोध की जागृति संभव नहीं है।

समकालीन हिन्दी कहानी में 'आदिवासी समाज' की कहानी '1970' के बाद आई। 'विकास और विस्थापन' की समस्या आदिवासी समाज से जुड़ा रहा है। स्वाधीनता के बाद भारतीय समाज का एकांगी विकास आदिवासी समुदाय को उपेक्षित किया है। ''गरीबों, आदिवासियों के साथ प्रशासन ने अच्छा व्यवहार नहीं किया है।''[8] भालचंद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात', संजीव की 'प्रेतमुक्ति', अरुण प्रकाश जी 'बेला एक्का लौट रही है' जैसी कहानियों आदिवासी समाज को मुख्यधारा में शामिल करने की कथा कहती है। प्रसिद्ध आदिवासी विचारक 'वाहरु सोनवणे' आदिवासी सम्मेलन में कहा था ''आदिवासी संस्कृति को सबसे पहली विशेषता सामूहिकता है।'' समकालीन कहानीकारों ने आदिवासी विमर्श की शुरुआत की, जो शोषण एवं दमन के खिलाफ संघर्ष की प्रेरणा दे रही है।

समकालीन हिंदी कहानी की विशिष्टता हाशिए के उन समाजों का चित्रण शामिल है, जो सदियों से साहित्य के मुख्यधारा में नहीं था। चित्रा मुद्गल की 'जनावर' तांगेवाले पर केन्द्रित कहानी है, तो स्वदेश दीपक की मदारी पर केन्द्रित 'तमाशा' और 'प्रतीक्षा' कार्मेन्दु शिथिर की रिक्साचालक पर केन्द्रित कहानी। ये सभी हाशिए समाज की प्रतिनिधित्व करने वाली कहानी है। समकालीन कहानी 'अप्रवासी समाज की संवेदना को भी व्यक्त करती है। औपनिवेशिक दौर में भारत से मजदूरों को दूसरे अन्य देशों में मजदूरी करने लिए भेजा गया था लेकिन विवश होकर कई पीढ़ियों से वे लोग वहीं के होकर रह गए। क्रमशतः वे सभी शिक्षा और अन्य सामर्थ्य में बहुत आगे बढ़ गए। ऐसी कहानियों में दिव्या माथुर, 'फिर कभी सही', अचला शर्मा, 'बेघर', अभिमन्यु अनंत की कहानी 'कोलाहल' आदि कहानियों में अप्रवासी भारतीय की पीड़ा को महसूस किया जा सकता है। समकालीन कहानियों में 'अल्पसंख्यक समाज' भी मौजूद है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' कालजयी कहानियों में से एक है। सांप्रदायिक हिंसा व्यक्ति को संस्थाओं में तब्दील होने पर विवश करता है। शिवमूर्त्ति की 'त्रिशूल' ऐसी ही कहानी है।

समकालीन कहानी 'हाशिए का दस्तावेज' है। समकालीन कहानी के कथ्य और शिल्प जिंदगी के यथार्थ का चित्रण ही नहीं करता बल्कि पाठक को सचेत भी करता है। शोषण से मुक्ति पलायन में नहीं संघर्ष में है। समकालीन कहानी आज के भारत का यथार्थ है।

संदर्भ

1. हिन्दी कहानी रचना और परिस्थिति, सुरेन्द्र चौधरी, पृ. 133
2. स्वयं प्रकाश : अवलोकन, डॉ रेखा सिंह, भूमिका अंश।
3. वही, पृ. 91
4. तिरिछ, उदय प्रकाश, पृ. 1
5. और अंत में प्रार्थना, उदय प्रकाश, पृ. 141
6. दलित साहित्य और विचारधारा, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ. 90.
7. स्त्री के लिए जगह, सं. राजकिशोर, पृ. 110.
8. वर्त्तिका, महाश्वेता देवी, अक्टूबर-2010, पृ.65.

डॉ. रेखा सिंह
शालीमार बाग, दिल्ली-88
मो-9968382932

भारतीय रंग-प्रयोगों के पर्याय 'बंसी कौल'

—डा. इंदू कुमारी

कला, साहित्य और संस्कृति की दुनिया के लिए पिछला एक-सवा साल कठोर स्मृतियों भरा रहा है। इस बीच अनेक नामवार असमय ही हमसे विदा हो गए। ऐसा ही एक नाम हिंदी रंगमंच के जीवंत हस्ताक्षर बंसी कौल का है। हिंदी रंगमंच में अपना सार्थक योगदान देने के बीच ही कौल जिंदगी के रंगमंच पर हार गए। कोविड-19 महामारी से उपजी विषम परिस्थितियों के बीच उनके दुखी कलाकार मन ने कलाओं को लेकर समाज और सरकार से अनेक गंभीर सवाल भी पूछे थे। लोकतंत्र में रंगमंच की जगह कहां और कैसे बन सकती है, इसकी चिंता वे जीवन के आखिरी समय तक करते रहे।

बंसी कौल मूलतः निर्देशक एवं अभिकल्पक तो थे ही, लेखक और चित्रकार के रूप में भी उनकी पहचान बनी। विराट रंगानुभवों को अपने में समेटे कौल आधुनिक रंगकर्म में 'प्रयोग के पर्याय' बनकर उभरे। साइन बोर्ड और नंबर प्लेट बनाने के साथ ट्रक के पीछे शायरी लिखने का कुछ शुरुआती काम किया। पर कला जगत में उनका प्रवेश चित्रकला के माध्यम से हआ। चित्रकारी में शौक के कारण बड़ौदा जाकर आगे इसी में कैरियर बनाना चाहते थे, लेकिन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में दाखिला मिलने से वह योजना धरी रह गई। अपनी रूचि के अनुरूप इंटीरियर डिजाइनिंग का कोर्स जरूर पूरा किया। 1973 में रानावि से मंच सज्जा में विशेषज्ञता के साथ स्नातक पूरा किया और 1977 में संगीत नाटक अकादमी से जुड़ गए। 1978 में रानावि के विस्तार कार्य विभाग की नींव रखी। 1980-81 के बीच रानावि में अध्यापन कार्य किया और 1982-83 के बीच श्रीराम कला एवं संस्कृति केंद्र के निदेशक भी रहे।

रंगमंच के प्रति अपने जुनून के कारण दिल्ली रहना बंसी कौल को रास नहीं आया। रानावि से स्नातक की उपाधि और कुछ नए रंगानुभव लेकर कौल ग्वालियर पहुंचे और रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप के साथ जुड़कर एक नए पड़ाव की ओर बढ़ गए। यहीं कार्य करते हुए 1984 में 'रंग विदूषक' की नींव पड़ी। लेकिन कालांतर में भोपाल में आकर बस गए और लगभग तीन दशक से अधिक की रंगयात्रा में देश-दुनिया में अपनी अलग नाट्य-शैली के द्वारा एक अलहदा पहचान अर्जित करने में सफल रहे।

भारतीय रंग परिदृश्य पर बंसी कौल अपने रंग-प्रयोगों के लिए याद किए जाएंगे। 'रंग विदूषक' ने गांव की चौपालों,

बड़े घरों और हवेलियों के आंगनों, नदी के किनारों, रेगिस्तान के अनंत विस्तार और रेत के टीलों पर नवाचार के साथ यादगार प्रस्तुतियां दीं। कौल के निर्देशन में इसने विभिन्न शैलियों में करीब सौ नाटक तैयार किए और देश-विदेश के सैकड़ों शहरों में अपनी प्रस्तुतियां दीं। उज्जैन, बैंगलोर, महेश्वर, ग्वालियर, चेन्नई, दिल्ली, शोलापुर, इंदौर और रायगढ़ समेत अनेक शहरों में समय-समय पर रंगशिविर का आयोजन किया। सिंगापुर, सूरीनाम, पाकिस्तान, कोलंबिया, बांग्लादेश एवं डेनमार्क में आयोजित रंग महोत्सवों में अपनी प्रस्तुतियां लेकर गई। 'रंग विदूषक' और इसके कलाकार देश के भीतर दिल्ली में आयोजित 19वें राष्ट्रमंडल खेल (2010), गोवा में आयोजित ल्युसोफोनिया गेम्स (2014) एवं चेन्नई में आयोजित फुटबाल लीग के उद्घाटन समारोह के साथ देश से बाहर रूस, थाईलैंड, स्विट्ज़रलैंड आदि देशों में आयोजित भारत महोत्सवों, जर्मनी के पुस्तक मेलें आदि अवसरों पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सम्मिलित हुए।

बंसी कौल के लिए भाषा कभी सीमा नहीं रही। उन्होंने प्रायः अपनी सीमाओं का विस्तार किया। हिंदी उनकी मातृभाषा नहीं थी, बावजूद इसके उन्होंने हिंदी को अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति की भाषा बनाया और इसमें अपना सर्वाधिक रंगकार्य करते हुए हिंदी रंगमंच में अपनी विशेष पहचान बनायी। हिंदी के साथ पंजाबी, संस्कृत, उर्दू, सिंहली, तमिल, बुंदेलखंडी एवं बघेलखंडी में भी सौ से अधिक नाटकों का कुशल निर्देशन किया। मुद्राराक्षस लिखित 'आला अफ़सर' उनकी चर्चित प्रस्तुति रही। नया प्रयोग करते हुए उन्होंने निकोलिया गोगोल के नाटक 'इंस्पेक्टर जनरल' पर आधारित प्रस्तुति को नौटंकी शैली में मंचित किया। उनकी सर्वाधिक चर्चित प्रस्तुतियों में वेणीसंहार, आला अफसर, जिंदगी और जोंक, अग्निलीक, जो राम रचि राखा, मृच्छकटिकम, वतन का राग, राजा अग्निवर्ण का पैर, गधों का मेला, दर्जी की अनोखी बीवी, कलेक्टर, सीढ़ी डर सीढ़ी उर्फ तुक्के पर तुक्का, दशकुमार चरितम, वो जो अक्सर झापड़ खाता है, खेल गुरु का, सौदागर, शर्विलक, वतन का राग, अंधा युग, पंचरात्रम और कहन कबीर आदि उल्लेखनीय है।

बंसी कौल की रचनात्मकता का एक आयाम डिज़ाइनिंग से भी जुड़ता है। 'उनके पास दृश्यात्मक कल्पनाशीलता बहुत है और हर बार नया प्रयोग करने का साहस भी।[1] उन्होंने अनेक बड़े आयोजन की डिज़ाइनिंग करके इस क्षेत्र में भी अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति का लोहा मनवाया। राष्ट्रमंडल खेलों का उद्घाटन समारोह हो या आईपीएल के शुभारंभ का आयोजन, सभी जगह उनकी रचनाधर्मिता ने कुछ नया और सार्थक रचा। एक बेहतरीन डिजाइनर के रूप में कौल ने दिल्ली के ऐतिहासिक अपना उत्सव (1986-87) एवं सचल रंगयात्रा रंगमंच (1991) की परिकल्पना के साथ खजुराहो नृत्य महोत्सव (1988), इंटरनेशनल कठपुतली महोत्सव (1990), नेशनल गेम्स (2001), हरियाणा का युवा महोत्सव (2001) आदि आयोजनों में अपनी कल्पनाशीलता से मूल संकल्पना में नए रंग भरे। दिल्ली में आयोजित गणतंत्र दिवस समारोह (2002), प्रशांत एशियाई पर्यटक एसोसिएशन (2002), महाभारत उत्सव हरियाणा (2002) आदि के प्रमुख प्राकल्पक भी रहे। फ्रांस (1984) और स्विट्ज़रलैंड (1985), रूस (1988 एवं 2012), चीन (1994), थाईलैंड (1996), एडिनबर्ग मेल (2000 एवं 2001), भूटान (2003) में आयोजित भारत महोत्सव एवं पुस्तक मेला जर्मनी (2008) में बतौर प्राकल्पक उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा से परिचित कराते हुए कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार की।[2] कौल के इस प्रयोगधर्मी डिजाइनर व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी अन्य प्रस्तुतियों पर भी खूब पड़ा। खूबसूरत पेंटिंग की भांति वे दृश्यों को विभिन्न फ्रेमों के माध्यम से उकेरते रहे। क्राफ्ट के नजरिए से उनकी प्रस्तुतियां आकर्षक और चर्चित बन पड़ीं।

बंसी कौल का कहना था कि 'क्या हम सभी उस जीवन को जीते हैं जो लोक रूपों में झलकता है? हम नहीं जीते। तो हम क्या करते हैं? हम प्रभावित होते हैं, हम विचार आत्मसात करते हैं और अंततः अपने स्वयं के थिएटर की खोज करते हैं, हमारे अपने जीवन का एक उत्पाद'।[3] बंसी कौल का यह स्वयं का थियेटर, अपने जीवन के अनुभवों से उपजा मंचीय प्रयोग उनकी रंगभाषा गढ़ने में सहायक बने। वे रंगों के मुरीद थे। विविध रंग उनकी प्रस्तुति को नवाचार से भर देते थे। उनके कलाकारों की पोशाकें और चेहरों पर उभरे रंग पात्र और कहानी के बारे में नए सूत्र खोलते नज़र आते हैं। विदूषक की पोशाकें और मंच पर उछलकूद करते अभिनेता, सभी समग्र रूप में उनकी रंगभाषा को गढ़ने में सहायक हए। उनकी रंगभाषा में बाह्य तत्व के रूप में विविध रंग रहे तो आंतरिक तत्व के रूप में अभिनय। अभिनेताओं के शारीरिक अभ्यास पर उनका विशेष ध्यान रहता था। उन्होंने अभिनेताओं को चेहरे एवं आंख के साथ पूरे शरीर की निज भाषा गढ़ना सिखाया। उन्होंने देश के परंपरागत क्षेत्रों में जाकर अखाड़ों एवं नट-कंजरों की शारीरिक भाषाओं का अध्ययन किया। रंगमंच के लिए उपयोगी तत्व को अपनी प्रस्तुति में शामिल करते हुए अभिनेताओं के प्रशिक्षण हेतु भी उसका उपयोग किया। उनकी अधिकांश प्रस्तुतियां इसी आधार पर तैयार

हुईं, चाहें गोर्की का नाटक मदर या धर्मवीर भारती का अंधायुग हो अथवा अमरकांत का जिंदगी और जोंक, सभी में कौल ने विलक्षण रंगकार्य किया। 'उन्होंने भारतीय लोक में चलते अखाड़े, खेले जाते तरह-तरह के ग्रामीण खेल, भिन्न-भिन्न प्रांतों में प्रचलित कथा वाचन-गायन की ढेरों लोक शैलियों, अनेक नृत्यरूपों, नटों के करतबों आदि सबकुछ को मिलाकर एक नयी रंग शैली रची, जिसे उन्हीं के दिये नाम से 'विदूषक शैली' ही कह सकते हैं, जिसे समीक्षक 'थियेटर ऑफ लॉफ्टर' भी कहते हैं।'[4]

बंसी कौल ने देशभर में घूम-घूमकर सैकड़ों नाटकों का निर्देशन करने के साथ रंग शिविरों का आयोजन करके अभिनेताओं को प्रशिक्षण भी दिया। इस रूप में वे ब.व. कारंत और हबीब तनवीर के समकक्ष ठहरते हैं, जिन्होंने आधुनिक रंगभाषाओं में पारंपरिक रंग-तत्वों को शामिल करते हुए उसे समृद्ध करने का महान कार्य किया। इस कार्य के लिए उन्होंने पारंपरिक कलाकारों को चुना। संगीत, चेहरे और मखौटों को रंगने की कला को भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया। मंच पर जीवंत संगीत प्रस्तुत करने हेतु 'लिटिल बैले ट्रूप' की परंपरा को अपनाया। छोटे शहरों में जाकर वर्कशाप करके लोगों में नाटक-रंगमंच के प्रति लगाव पैदा की और देशभर में थियेटर वर्कशॉप का आयोजन किया।

रंगविदूषक के माध्यम से बंसी कौल लोक का अपना नया रंग मुहावरा विकसित करने में सफल रहे। 'अपनी यायावरी में देश के अलग-अलग हिस्सों, अलग-अलग बोलियों-भाषाओं में काम करने के बाद बंसी कौल ने अपने रंगकर्म को एक ठोस शक्ल देने के लिए विदूषक की परंपरा से प्रेरणा ग्रहण की। यह विदूषक हमारी शास्त्रीय एवं लोक, पारसी रंग शैलियों में शुरू से ही मौजद रहा है।'[5] उन्होंने अभिनेताओं, मसखरों और कलाबाज़ों के साथ नवीन रंगप्रयोग किए। उनके करतब और पहनावे जैसे सभी आयामों की व्यवस्थित शैली तैयार करके उसे अपनी प्रस्तुति का हिस्सा बनाया। संस्कृत नाटकों की विदूषक परंपरा के साथ पश्चिम के मसखरे को मिलाकर उन्होंने अपनी नई मौलिक रंगभाषा का निर्माण किया। उनका विदूषक पश्चिम के जोकर से अलग था। वह न तो केवल मसखरा था और न ही निरा मूर्ख। वह एक ऐसे बौद्धिक पात्र की तरह अवतरित होता है, जो हास्य-व्यंग्य के जरिए अपने तर्क और विचार रखता है। इसके लिए उन्होंने मसखरों की शारीरिक करतब दिखाने वाली छवि से इतर उन्हें सूत्रधार एवं अभिनेता तो विदूषक की केवल हंसाने वाले पात्र की जगह प्रस्तुति के महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में भी शामिल किया। 'सौदागर' और 'तुक्के पे तुक्का' इसी प्रयोग शैली के नाटक हैं।

बंसी कौल का मन लोक में बसता था। उन्होंने छोटी-छोटी लोक शैलियों से अपनी प्रस्तुति को सजाया। लोक कथाओं पर केंद्रित भरपूर नाटक खेले। श्रीलंका की लोक कथा पर राजेश जोशी लिखित नाटक 'टंकारा' का गाना रोचक प्रस्तुति रही। बड़े संवादों आदि के माध्यम से उन्होंने प्रस्तुति में कलाकारों की उपस्थिति बढ़ायी। कबीरदास की संग्रहित कृतियों पर आधारित 'कहन कबीर' ऐसी ही प्रस्तुति है। मध्य प्रदेश की अनेक परंपरागत लोक शैलियों को अपनी प्रस्तुति में शामिल किया। नटों के बारे में शोध करने के क्रम में वे कहां-कहां नहीं भटके। मालवा और बुंदेलखंड के नटों के साथ कार्यशाला भी की। मालवा, राजस्थान, बुंदेलखंड के धार्मिक अखाड़ों पर शोध करते हुए न केवल उनकी शैलियों को देखा, बल्कि उनसे सीखा भी और रंगमंच की बेहतरी के लिए जो जरूरी लगा, उसे शामिल करते हए अपनी रंगभाषा गढ़ी। उन्होंने मालवा, बुंदेलखंड और बघेलखंड की लोकशैलियों के मिश्रण के साथ मार्शल आर्ट को नए कलेवर में प्रस्तुत करते हुए उसे शारीरिक द्वंद्व से इतर बौद्धिक और वैचारिक अभिव्यक्ति के रूप में शामिल किया। राजेश जोशी के लिखित और कौल निर्देशित नाटक 'तुक्के पे तुक्का' इसी प्रयोग की उत्पत्ति रहे, जिसे जबलपुर के राष्ट्रीय नाट्य समारोह (2009) में खासी सराहना भी मिली।

बंसी कौल का रंग-जीवन कलाकारों को प्रेरित और प्रशिक्षित करने में भी संलग्न रहा। 'रंगविदूषक' ने झुग्गी और आम बस्ती के बच्चों में रंग-संस्कार जगाने का कार्य किया। इसने अनेक निर्देशक भी पैदा किए और इससे निकले अनेक कलाकारों ने रानावि समेत धारावाहिक एवं सिनेमा के क्षेत्र में अपनी जगह बनायी। हिंदी क्षेत्र के उत्साही कलाकारों हेतु यह संस्था खुद को साधने का केंद्र बनी। अभिनय के साथ नृत्य, गायन, वादन आदि कलात्मक आयामों को जोड़कर हिंदी रंगमंच को प्रयोगात्मक रूप से समृद्ध करते हुए कौल अपनी रंगभाषा को टोटल थियेटर के करीब ले गए और रंग-संस्कार युक्त कलाकारों की एक पूरी पीढ़ी तैयार की। 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के लिए पहले घुमंतू और बाद में स्थायी रूप से परिकल्पित प्रदर्शनी 'रंगयात्रा' बंसी कौल के संवेदनशील मन और सुनियोजित कल्पनाशीलता का ही प्रमाण है।'[6]

बंसी कौल को अभिकल्पन और निर्देशन के क्षेत्र में उनके प्रशंसनीय एवं महत्वपूर्ण योगदान के लिए सम्मानित किया गया। 'संगीत नाटक अकादमी अवार्ड' (1995) के

साथ रानावि द्वारा 'मनोहर सिंह स्मृति पुरस्कार' (2013) प्राप्त हुआ। उनकी चर्चित प्रस्तुति 'कहन कबीर' के लिए उन्हें मध्य प्रदेश सरकार द्वारा 'राष्ट्रीय कालिदास सम्मान' (2016) दिया गया। इसके अतिरिक्त वे 'ब. व. कारंत स्मृति पुरस्कार', मध्य प्रदेश सरकार के 'शिखर सम्मान' और 'सफ़दर हाशमी पुरस्कार' से भी सम्मानित हुए। कला क्षेत्र में उनके समग्र योगदान के लिए भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मश्री' सम्मान (2014) से नवाजा।

'हिंदी रंगमंच ने हाल ही में अपना एक होनहार रंगकर्मी खो दिया। भोपाल के भारत भवन के स्थापना दिवस समारोह में 15 फरवरी 2021 को कौल के निर्देशन में 'जिंदगी और जोंक' नाटक का मंचन होना तय था'।[7] क्या पता था कि यह उनके निर्देशन की आखिरी प्रस्तुति होगी। कौल तो नहीं रहे, परंतु द शो मस्ट गो ऑन की सोच के साथ 'रंग विदूषक' ने अपने संस्थापक गुरु को इस प्रस्तुति के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित की। हिंदी रंगमंच में अपने अविस्मरणीय योगदान के लिए बंसी कौल हमेशा याद किए जाएंगे।

संदर्भ सूची

1. नेमीचंद्र जैन, तीसरा पाठ; विदेशी नाटकों के रूपांतर की चुनौती, वाणी प्रकाशन, पृ. 106
2. ब्रोशर; ब. व. कारंत एवं मनोहर सिंह स्मृति पुरस्कार (2009-19), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, पृष्ठ 9
3. बंसी कौल, ट्रेडीशन ऑल राउंड अस; संगीत नाटक (पत्रिका), जुलाई-दिसंबर 1985, पृष्ठ 22-23
4. https://samalochan.com/bansi-kaul/
5. देवेंद्रराज अंकुर, पढ़ते देखते सुनते; भोपाल का रंग विदूषकः बीस साल, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 255
6. प्रतिभा अग्रवाल (संपादक), भारतीय रंगकोश (संदर्भः हिंदी), खंड 2, रंग व्यक्तित्व, पृष्ठ 148
7. https://www.bhaskar.com/local/mp/bhopal/news/padmashri-rangaskar-bansi-kaul-direct-bansi-kaul-passes-away-update-bhopal-rang-vidushak-founder-dies-in-delhi-latest-news-and-updateor-of-bhopal-colorwriter-dies-in-delhi-dwarka-128200674.html

डॉ. इंदू कुमारी
(एसोशिएट प्रोफेसर)
हिंदी विभाग, माता सुंदरी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110002

मिथकीय घटनाओं के समसामयिक संदर्भ में 'उपसंहार'

—आशीष द्विवेदी

हिंदी कथा साहित्य में साठोत्तरी पीढ़ी के कथाकार काशीनाथ सिंह का विशेष स्थान है। उनकी पहचान का मुख्य कारण उनके लेखन की विविधता है। उनकी रचनाओं में पूर्वांचल की संस्कृति और लोक जीवन की झलक स्पष्टतया देखी जा सकती है।वे अपनी जमीन से जुड़कर रचनाएं करते हैं, यही प्रमुख कारण है कि आज होने वाले परिवर्तन में पिछड़ते नहींहैंबल्कि अपने लेखन में समाज की समस्याओं या कहें परिवर्तनों को विशेष स्थान देते हैं। उनके महत्वपूर्ण उपन्यास 'अपनामोर्चा', काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू', 'महुआ चरित', 'उपसंहार' हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास की विषय वस्तु विविधता लिए हुए है। 'उपसंहार' में काशीनाथ सिंह ने कृष्ण कथा को आधार बनाया है।

हिंदी साहित्य में कृष्ण को केंद्र बनाकर अनेक रचनाएं की गई, जिसमें काव्य, नाटक, उपन्यास शामिल हैं। कहीं कृष्ण का बाल रूप, बाल लीलाएं, योद्धा, प्रेमी तो कहीं कृष्ण को राजनीतिक सलाहकार के रूप में दिखाया गया है। अधिकाधिक रचनाओं में कृष्ण की बाल्यावस्था व युवावस्था को ही आधार बनाया गया है। महाभारत युद्ध के पश्चात कृष्ण को लगभग बिसरा ही दिया गया, इस संदर्भ में काशीनाथ सिंह कहते हैं–''कृष्ण यदि ईश्वर या वासुदेव थे तो 'महाभारत' में, पुराणों में, धर्मग्रंथों में या भक्तिमार्गी और धर्मधुरीन उपन्यासों में। लेकिन कुरुक्षेत्र में महाभारत के बाद 36 वर्षों तक द्वारकाधीश मनुष्य के रूप में कैसे रहे, यह किसी ने देखने की जहमत नहीं उठाई। मनुष्य के रूप में अपने किए कराये की स्मृतियों के साथ कितनी मानसिक व आध्यात्मिक यंत्रणाएं झेली-यह भी नहीं देखा। उन्होंने द्वारका बसायी थी, उसे अमरावती की गरिमा दी थी, यादवकुलों का गणराज्य स्थापित किया था, लेकिन यादवों का नाश क्यों हुआ? द्वारका का ध्वंश क्यों हुआ? कृष्ण क्यों सामान्य मौत मरे? उन्हें मारने वाला निषाद जरा कौन था?- यह सब जानने और समझने के क्रम में अपने मौजूदा भारत के गणतंत्र विडंबनाओं पर भी ध्यान गया। वहीं से जन्म हुआ उपन्यास 'उपसंहार' का।''[1]

'उपसंहार' का केंद्र कृष्ण से जुड़ी पौराणिक व मिथकीय कथाएं हैं। साधारणतया, मिथक का सामान्य अर्थ है ऐसा आख्यान जो प्राचीन काल से सत्य माना जाता था, जिसमें धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों एवं प्रकृति के साथ वीर पुरुष और

देवताओं का चित्रण था। इसमें किवदन्ति या पारंपरिक गाथा के रूप में कथा तत्व सदा उपस्थित रहा है।मिथक का दायरा इतना अधिक व्यापक है कि मानव जीवन के क्रियाकलापों में मिथकों की गहरी पैठ है। 'उपसंहार' की यही विशेषता है कि उसमें कथा का केंद्र मिथकीय पौराणिक पात्र घटनाएं हैं परंतु यह आधुनिक मनुष्य का सत्यभी है। उपन्यास में कृष्ण ईश्वर नहीं अपितु मानवीय गुणों से परिपूर्ण हैं, जिसकी दुर्बलताएं, कमियां, असमर्थताएं समसामयिक मनुष्य के जीवन व परिस्थितियों को उजागर करती हैं।यही कारण है कि काशीनाथ सिंह की रचनाओंके शिल्प व वस्तु में रोचकता एवं विविधता के दर्शन होते हैं। इस संदर्भ में पुष्पपाल सिंह का कथन है–''यदि कथाकार ने इतिहास की किसी बड़ी घटना को केंद्र में रखा है तो उसके माध्यम से वह वर्तमान की उहापोह में रहता है। वह वर्तमान के प्रश्नों के लिए ही इतिहास और मिथक को निज दृष्टि से खंगालता है। प्रत्येक उपन्यासकार ने अपने देखे हुए यथार्थ को अपनी तरह से वाणी दी है। इसलिए इसमें इतना विस्मयकारी वैविध्य और रोचकता है।''[2]

काशीनाथ सिंह को बड़े फलक का रचनाकार माना जाता है। उनकी दृष्टि पौराणिक आख्यानों के साथ समकालीन समस्याओं को टटोलती है।'उपसंहार' में भी समसामयिक समस्याओं को उठाया गया है जिसमें युद्ध की विभीषिका, युद्ध की निरर्थकता,मानवीय मूल्यों का ह्रास, अकेलापन, जातिवाद, ईश्वरत्व का अंत इत्यादि दर्शनीय हैं ।

उपसंहार' में सबसे पहले हमें युद्ध की निरर्थकता के दर्शन होते हैं। जब कृष्ण युद्ध से आते हैं तो जो समुद्र उनके पाँव धोता था, किंतु अब वह उनसे क्रूद्ध रहने लगा, प्रजा भी उनसे नाराज रहने लगी और द्वारका के ह्रास के लिए कृष्ण को ही दोषी मानने लगी। क्योंकि कृष्ण ने अपनी सेना को अकारण युद्ध में झोंक दिया था, जिसमें यादव कुलों के हजारों-लाखों सैनिक मारे गए थे। कृष्ण महायुद्ध के पश्चात पहली बार अपने राज्य में प्रवेश करते हैं तोउन्हें न तो कहीं से जय-जयकार सुनाई पड़ी न ही उनकी आरती उतारी जा रही थी, उनका रथ तट से राजपथ की ओर जा रहा था और लोग उनकी ओर देख भी नहीं रहे थे। इससे पूर्व सोवियत संघ में भी एक गणराज्य निर्मित हुआ था। उसका भी ह्रास द्वारका जैसा ही हुआ था। कृष्ण ने द्वारका को एक गणराज्य के रूप में बसाया था–''वे चाहते थे ऐसा गणराज्य जिसमें सारे कुल मिलकर रहें, सब सामान्य रूप से संपन्न और सुखी रहें, ऊंच-नीच, छोटे-बड़े की भावना न रहे, सब समान सुविधाएं भोगें, सब निर्भय और निशंक विचरण करें ।''3

द्वारका के समान ही भारत विभाजन पश्चात जनता में असंतोष की भावना उत्पन्न होने लगी। समता, न्याय, समाजवाद के जो स्वप्न उन्हें दिखाए गए थे वे एक-एक कर टूट रहे थे परिणामस्वरूप जनता में अपने नेताओं के प्रति मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। कृष्ण को यह टीस हमेशा सालती रही कि उनके कारण इतना बड़ा नरसंहार हुआ वे चाहते तो युद्ध को टाल मनुष्य जाति को इस भयावह युद्ध से बचा सकते थे। तो क्या वे अपने ऐश्वर्य या अपने आपको ईश्वर सिद्ध करना चाहते थे? यही प्रश्न दोनों विश्व युद्धों के पश्चात पूरे विश्व के मानस पटल पर था कि क्या हिंसा ही वर्चस्व स्थापित करने का एकमात्र उपाय था? लेखक बलराम के माध्यम से उस हिंसा की ओर इशारा करते हैं जो लोकहित के नाम पर की जा रही है। हिरोशिमा-नागासा की जैसे महानगर और इराक जैसे न जाने कितने देश लोकहित के नाम पर बर्बाद कर दिए गए। कृष्ण बलराम से कहते हैं–''नहीं दाऊ, यह उनका घरेलू मामला नहीं है। यह वस्तुतः धर्म-अधर्म का, सत्-असत् का, प्रकाश-अंधकार का, ईमानदारी-बेईमानी का मामला है। इतिहास कल हमसे–आपसे पूछेगा कि जब आर्यावर्त में युद्ध हो रहा था तब द्वारका किधर थी? क्या जवाब देंगे आप?''[4]

परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या सत् की लड़ाई सत्य से लड़ी गयी? क्या कृष्ण ने युद्ध में जो छल किए वो धर्म संगत थे? कृष्ण ने युद्ध में छल-कपट किए, धर्म की इमारत अधर्म की नींव पर खड़ी की। जो असंतोष, बेचैनी, टीस का मुख्य कारण बनी और अंततः द्वारका के नाश का कारण भी। यह युद्ध मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं का चरम परिणाम था जिसमें प्रेम, भाईचारा, संस्कृति, संस्कार, मान-सम्मान, योद्धा, विद्याएं लगभग सब नष्ट हो गए। दुनिया ने भी कुछ इसी तरह के दो महायुद्ध का सामना किया, जिनका जन्म कुछ राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं से हुआ।

काशीनाथ सिंह ने कृष्ण के मनुष्य होने की त्रासदी को बड़ी ही बारीकी से रेखांकित किया है। यहां कृष्ण वर्ण व्यवस्था की पीड़ा को महसूस करते हैं। इस संबंध में कृष्ण कहते हैं–''कि क्या मनुष्य का मनुष्य होना काफी नहीं है? क्यों कहा गया कि यह क्षत्रिय है, यह ब्राह्मण, यह वैश्य, यह शूद्र।''[5] यहीं कृष्ण को ब्राह्मणों को तीज-त्यौहार पर दान दक्षिणा देते समय एक नया अनुभव हुआ कि–''ये दान दक्षिणा से प्रसन्न हो जाए उसे नारायण बना दें, जिसे असंतुष्ट उसे 'राक्षस'।''[6] इस प्रकार काशीनाथ सिंह बड़े ही सजग ढंग से कृष्ण कथा को आधार बना अपने समय की

परिस्थितियों को उजागर करते हैं कि वर्णव्यवस्था, जातिवाद, ब्राह्मणवाद किस प्रकार मनुष्य व राष्ट्र के विकास में बाधक हैं। भारत जो कि पंथनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य है जहाँ भेदभाव के लिए कोई गुंजाइश नहीं है वहां जाति व्यवस्था किस प्रकार घुन का कार्य कर रही है। लेखक ब्राह्मणवाद के उस दृष्टि का पर्दाफाश करते हैं जो मानवता के लिए संकट पैदा कर उसमें विभेद करती है। कृष्ण और रुक्मणी को निर्वस्त्र कर छकडे में जोड़कर पूरे नगर में घुमाना उसी दृष्टि का परिचायक है। इस प्रकार लेखक स्त्री की गरिमा, उसके साथ हो रहे अन्याय परभी प्रकाश डालते हैं।

कृष्ण का बचपन व युवावस्था चाहे कितना भी अच्छा रहा हो परंतु उनका अंतिम समय अकेलेपन की संत्रास में बीता।इस संदर्भ में लेखक मुख्य पृष्ठ पर ही लिखता है–''चरम सफलता में निहित है एकाकीपन का अभिशाप।''[7] कृष्ण की भुजाओं में जब तक दम था उन्होंने अपनी राज्य-कुल के लिए अपना तन, मन, धन सब दिया इसके चलते वे ईश्वर की गरिमा को भी प्राप्त किए परंतु वृद्धावस्था में नितांत अकेले लगभग असहाय हैं–''प्रत्येक मनुष्य कभी न कभी कुछ ही पलों में क्षणों के लिए ही सही, किसी न किसी का ईश्वर हुआ करता है। ऐसा एक नहीं, कई बार हो सकता है। आखिर ईश्वर है क्या? मनुष्य के श्रेष्ठतम का प्रकाश ही तो? और है प्रकाश प्रत्येक मनुष्य के भीतर होता है। लेकिन फूटता तभी है जब किसी को कातर, बेबस, निरुपाय प्रताड़ित देखता है। मैं भी था ईश्वर। मेरी अवधि किन्हीं कारणों से थोड़ी लंबी खिंच गई रही होगी।''[8] इस प्रकार ईश्वरत्व की केंचुल को उतारकर वे एक ऐसे रूप में नजर आते हैं जहां मनुष्यत्व हावी है। कृष्ण एक मनुष्य की भांति अकेले हैं जहां उनकी रानियां उनको कम सुनने वाला कहते हुए उनके पास नहीं बैठतीं, संतान उनकी बात मानना नहीं चाहती, तो प्रजा क्यों कर ही बूढ़े राजा की बात सुनेगी! कृष्ण एक साधारण मनुष्य की भांति ही अपने बसे-बसाये संसार को स्वयं से दूर जाता देख रहे हैं, जहां उनकी आवश्यकता किसी को नहीं। यही आम आदमी की भी नियति है, जरूरत होने तक ही पूछ होती है जैसे मनुष्य वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होता है उसको एक वस्तु की भांति घर में रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त लेखक ने अन्य मानवीय मूल्यों के ध्वंस को भी उपन्यास में रेखांकित किया है।युवा पीढ़ी किस प्रकार अपनी संस्कृति व मूल्यों से दूर होती जा रही है। मदिरापान, बलात्कार जैसी घटनाएं आए दिन देखने सुनने को मिल जाती हैं। कृष्ण द्वारा प्राग्ज्योतिश्वर के युद्ध पश्चात अपने राज्य में आश्रय हेतु बसाई गई स्त्रियाँ उन्हीं के वंशजों के बलात्कार की शिकार हो रही हैं।मान मर्यादा एक एक कर तार-तार हो रही है। ये सभी घटनाएं पौराणिक होते हुए भी समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'उपसंहार' में मिथकीय व पौराणिक कथाओं के माध्यम से आधुनिक युग की अनेक दुष्प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया गया है। 'उपसंहार' ईश्वर के मनुष्य होने की त्रासदी है जो अपने युग की तमाम विसंगतियों पर दृष्टि डालता हुआ पाठक को गहन चिंतन की ओर अग्रसर करता है।

संदर्भ सूची

1. उपसंहारः मनुष्य होने की त्रासदी, काशी के अस्सी, सोच-विचार पत्रिका, अप्रैल 2021, पृ. 81
2. 21वीं सदी के हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ. 50
3. उपसंहार, पृ. 23
4. वही, पृ. 38
5. वही, पृ. 66
6. वही, पृ. 30
7. वही, मुख्य आवरण पृष्ठ
8. वही, पृ. 50

–आशीष द्विवेदी
शोधार्थी
हैदराबाद, विश्वविद्यालय

वेदों में वर्णित पर्यावरण संबंधी आचार नीति

–डा. शिवानी रावत

सार

भारत की धार्मिक परम्परा में भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषाई, दार्शनिक तथा नैतिक प्रणाली का समावेश दिखाई देता है जिसका विकास एक बहुत बड़े इतिहास के दौरान हमें देखने को मिलता है। इस वृहद इतिहास में जन आन्दोलन, विदेशी आक्रान्ताओं तथा समय समय पर अनुभव किये गये संरचना तथा पहचान के आन्तरिक परिवर्तन का समामेलन शामिल है। इस प्रकार के विभिन्न चरण के विकास के इतिहास को देखते हुये भारतीय धार्मिक परम्परा में विदित पर्यावरणीय मूल्यों तथा चिन्तन के विषय में कौन बात कर सकता है? यद्यपि इन सब विषयों की चर्चा अन्धाधुंध अथवा चुनिन्दा तरीके से की जा सकती है, फिर भी इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य है कि पर्यावरण के प्रश्न को ध्यान में रखते हुये पारम्परिक दृष्टिकोण के कुछ विशेष बिन्दुओं तथा तनाव की रूपरेखा को दिखाना। इस शोध पत्र में हिन्दू धर्म, वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों में पर्यावरण से सम्बन्धित आचार नीति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : धार्मिक परम्परा, पर्यावरणीय मूल्य, हिन्दू धर्म, वेद, उपनिषद।

भारत एक ऐसा देश है जहॉ विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय को बनाकर एक साथरहते हैं। भारत के सभी धर्मों में लगभग प्रकृति के प्रति श्रद्धा तथा उसका सृजन एकीकृत नैतिक सिद्धान्त पर आधारित है। इन सभी धर्मों ने प्रकृति को ईश्वर से भी बढ़कर स्थान दिया है। हमारे प्राचीन लोग प्रकृति के पाँच तत्वों- पृथ्वी, जल, वायु, रोशनी तथा ब्रह्माण्ड के साथ रहना सीख गये थे। यथार्थ रूप से वे इन तत्वों की पूजा करते थे तथा इन्हें प्रतीकात्मक मानते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य तथा निबंधों में हमें मनुष्य तथा प्रकृति के बीच सम्बन्ध तथा मानव व्यवहार और प्रकृति के प्रति प्रत्येक मानव की नैतिक जिम्मेदारी के बारे में काफी जानकारी प्राप्त होती है जिसमें मुख्यतः वेद तथा उपनिषद जैसे सभी ग्रन्थ भारत में विद्यमान है।

हिन्दू धर्म : वैदिक तथा पौराणिक साहित्य, उपनिषद, अर्थशास्त्र, चरक संहिता, रामायण तथा महाभारत में जो भी

सन्देश पर्यावरण संरक्षण हेतु दिये गये हैं वे सभी हिन्दु धार्मिक दर्शन पर आधारित हैं। अहिंसा जिसका अर्थ है कि प्रकृति की रचना जैसे पौधं, पशु, वायु, जल, भूमि या पृथ्वी, पहाड़ तथा जंगल के किसी भी जीवित या अजीवित संरचना को नुकसान न पहुँचाना। यह हिन्दू धार्मिक दर्शन का मुख्य आधार था जो जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म तक चलता रहा। हिन्दू धर्म के सभी सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलाप पर्यावरणीय संरक्षण की तरफ इंगित करते हैं। हिन्दू धर्म ने अपने सम्बन्धों का सामाजिक तथा प्राकृतिक पर्यावरण तक विस्तार किया जिसमें मुख्य रूप से नदियों को माता देवी, वनों को देवता, कुलदेवता, पशुओं को भाई के समान तथा शिकार की जाने वाली प्रजाति को नश्वरता के समान माना गया है। यदि हम पारम्परिक हिन्दुओं की बात करें तो वे इस बात पर विश्वास करते हैं कि वृक्ष मानव जाति के लिये सुख शान्ति, सम्पन्नता तथा एकत्रीकरण ला सकते हैं तथा यह भगवान की पूजा के समान ही है। एक हरे वृक्ष को काटना पाप तथा अपवित्रीकरण माना जाता था जिससे न केवल एक परिवार का अपितु एक पूरे ग्राम सम्प्रदाय का विनाश होना तय माना जाता था। एक परम्परागत हिन्दू पिता को मुख्य रूप से हरे वृक्ष को नष्ट करने में नैतिक प्रतिबन्धिता सिखाई जाती है। (भण्डारकर, 1965)

लोगों का ऐसा विश्वास था कि यदि इन वृक्षों की टहनियाँ भी किसी व्यक्ति द्वारा काटी जाये तो उसका यह कृत्य उसके पुत्र को अमान्य बना देगा। सामान्यतः हिन्दू परिवार पीपल के वृक्ष (फिकस रिलिजियस) की पूजा सदा सुहागन होने के लिये करते थे। ये नारियल के वृक्ष (कोकस न्यू सिफेरा) की भी पूजा करते थे। ऐसा माना जाता था कि यह बहुप्रजता का प्रतीत है। इसलिये जो कोई भी हिन्दू महिला नारियल के वृक्ष की पूजा कर उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करती थी वह अवश्य ही पुत्ररत्न को प्राप्त करती थी (दास गुप्ता, 2003)। भारत के प्राचीन हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व जनजाति समाज (आदिवासी), जो प्रायः पहाड़ों तथा जंगलों में निवास करते थे, के द्वारा ही इन पहाड़ों तथा जंगलो को सुरक्षा तथा संरक्षण भी दिया गया जो जैव विविधता की दृष्टि से अमूल्य हैं (डेविड, 1980)। इन्हें 'पवित्र उपवन' (भगवान के जंगल) पुकारा गया और यह स्थानीय लोगों के द्वारा हमेशा अछूते रहे। किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप इन उपवनो में निषेद माना जाता था। इस प्रकार के उपवन किसी देवी अथवा मातृ देवी को समर्पित होते थे जो इन उपवनों की सुरक्षा तथा अध्यक्षता करती थी। बिना अधिकार के प्रवेश करने वाले को इस देवी द्वारा सजा दी जाती थी। इस प्रकार के उपवन समस्त भारत में मिलते है विशेष रूप से पश्चिम घाट तथा हिमालय क्षेत्र के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र प्रमुख हैं। यह क्षेत्र भारत के 'जीव मंडल रिजर्व' बन चुके है जो कुछ दुर्लभ तथा विलुप्त होने वाले प्रजाति केपौधें तथा जानवर युक्त हैं। यह कुछ अमूल्य 'कीटाणु रहित' कोष है जिनकी आवश्यकता भविष्य में आने वाली भावी पीढ़ी को कृषि को सम्भालने में उपयोगी सिद्ध होगी।

वेद (2500 से 1500 ई.पू.) : वेद विश्व के प्रथम धर्मग्रन्थ हैं। वेद ईश्वर द्वारा ऋषियों को सुनाए गए ज्ञान पर आधारित है इसलिये इसे श्रुति कहा गयाहै। वेद पुरातन ज्ञान विज्ञान का अथाह भण्डार है। इसमें मानव की हर समस्या का समाधान है। वेदो में बह्मा (ईश्वर), देवता, ब्रह्मांड, ज्योतिष, गणित, रसायन, औषधि, प्रकृति, खगोल, भूगोल, धार्मिक नियम, इतिहास, रीति-रिवाज आदि लगभग सभी विषयों से सम्बन्धित ज्ञान पड़ा है। इनकी रचना के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। जैकोबी ने वेदों की रचना केविषय में कहा है कि 4500 से 2500 ई. पू. का समय वैदिक सभ्यता का युग है। प्रो. विनटरनिटज का कथन है कि ''प्राप्य प्रमाणों से इतना ही पता चलता है कि वैदिक युग किसी अज्ञात काल से 500 ई.पू. तक रहा। इसी प्रकार 1200-500 ई.पू., 2000-500 ई.पू. आदि युगों का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन सा काल सत्य के अधिक निकट है। वेदो को हिन्दुओं का मुख्य ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि यह मानव जाति के इतिहास के साहित्यिक श्रोतों में से पहला है परन्तु अपनी इस पहचान से परे वेदों ने सिर्फ शास्त्र के रूप में ही नहीं बल्कि कई मायनों में अपनी उपस्थिति को दर्शाया है।

लोगों का ऐसा विश्वास था कि यदि इन वृक्षों को टहनियों को किसी भी व्यक्ति के द्वारा काटा जाये तो उसका यह कृत्य उसके पुत्र को अवैध बना देगा। हिन्दू घर पीपल के वृक्ष की पूजा करते थे (फिकस रिलिजियस) इस पूजा के द्वारा विधवापन समाप्त हो जाता है। वे नारियल के वृक्ष (Cocus nucifera) की पूजा करते थे। ऐसा माना जाता है कि यह बहुप्रजता का प्रतीत है इसलिये जो भी हिन्दू महिला पुत्र की आशा करती है, नारियल के वृक्ष की पूजा करती है तथा नारियल को दिव्य प्रसाद के रूप में ग्रहण भी करती है (दास गुप्ता, 2003) भारत के प्राचीन हिन्दू समाज का प्रतिनिधित्व जनजाति (आदिवासी), जो पहाड़ों तथा जंगलों में निवास करते थे, के द्वारा इन पहाड़ों व जंगलों को सुरक्षा तथा संरक्षण किया गया जो जैव

विविधता की दृष्टि से अमूल्य थे। (डेविड, 1980) इन्हें 'पवित्र उपवन' (देवता के जंगल) कहा गया तथा यह स्थानीय लोगो द्वारा अछूते रहे।

यह सामान्यतः देवी या कुल देवी को समर्पित होता है जो रक्षा तथा अध्यक्षता करने वाली है। बिना अधिकार के प्रवेश करने वाले को सजा दी जायेगी। इस तरह के पवित्र उपवन समस्त भारत में मिलते हैं विशेष रूप से पश्चिम घाट तथा हिमालय क्षेत्र के उत्तर-पूर्वीय क्षेत्रों में यह क्षेत्र भारत के 'जीव मंडल रिजर्व' बन चुके हैं जिसमें कुछ दुर्लभ तथा विलुप्त होने वाले प्रजाति वेद शब्द संस्कृत भाषा के 'विद्' शब्द से बना है। इसका अर्थ है 'ज्ञान होना'। हिन्दू वेदों को 'अपौरूपेय' या ईश्वर के द्वारा रचित मानते है। उनकी दृष्टि में ये शाश्वत है। वेद मानव सभ्यता के लगभग सबसे पुराने लिखित दस्तावेज हैं। जैकोवी ने वेदों की रचना के विषय में कहा है कि 4500 से 2500 ईसा पूर्व का समय वैदिक सभ्यता का युग है। प्रो. विनटरनिटज मानते है कि वैदिक साहित्य का रचनाकाल 2000-2500 ईसा पूर्व हुआ था। दरअसल वेदों की रचना किसी एक काल में नहीं हुई उनका कथन है कि ''प्राय प्रमाणों से इतना ही पता चलता है कि वैदिक युग किसी अज्ञात काल से 500 ईसा पूर्व तक रहा। इसी प्रकार 1200-500 ईसा पूर्व, 2000-500 ईसा पूर्व आदि युगों का उल्लेख किया गया है। किन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन सा काल सत्य के अधिक निकट है। वर्तमान अनुसन्धान के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि 500 ई.पू. की जगह 800 ई.पू. अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। (महाजन, 2008)

वेद आर्य काल में वर्णित प्राचीन भारतीय ग्रन्थ हैं जिनका समयकाल 2500 से 1500 ई.पू. के मध्य माना जाता है। चार वेदों में से एक मुख्य वेद 'ऋग्वेद' में कई मौकों पर पर्यावरण के बारे में बताया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त में बताया गया है कि आसमान पिता के समान है, पृथ्वी माता तुल्य है तथा यह अंतरिक्ष उनका पुत्र है।''

समस्त ब्रहमाण्ड जिसमें उपर्युक्त तीनों शामिल हैं वह एक परिवार की तरह है तथा इन तीनों में से किसी एक पर भी की गई किसी भी प्रकार की हानि से समस्त ब्रहमाण्ड में असन्तुलन व्याप्त हो जायेगा'' (डेविड, 1980), वैदिक संस्कृति तथा वैदिक शास्त्रों में पृथ्वी के पारिस्थितिकी तंत्र तथा उसके सन्तुलन को बनाये रखने की आवश्यकता को साफ-साफ प्रकट किया गया है। ऋग्वेद में एक अन्य छन्द में बताया गया है कि ''यदि आप जीवन के फल तथा खुशी का आनन्द हजारों तथा सौ वर्षों तक प्राप्त करना चाहते हैं तो पेड़ों का रोपण व्यवस्थित ढंग से किया जाना चाहिए''। (द्विवेदी तथा तिवारी, 1987) ऋग्वेद का यह छन्द इस सन्देश का वाहक है कि पृथ्वी को किसी भी प्रकार की चोट पहुँचाने से हमें बचाना है तथा लगातार इस पर वनारोपण कर इसे जीवित रखना है अन्यथा हम पृथ्वी के पारिस्थितिकी तन्त्र को खतरे में डाल देंगे। ऋग्वेद में पारिस्थितिकी तन्त्र तथा उसकी महत्वता के कई तत्वों को शामिल किया गया है। यदि नदियों के तटीय क्षेत्र को क्षति पहुँचाई गई अथवा नष्ट किया गया तो बड़े पैमाने पर नदियों का विनाश हो जायेगा। इसलिए तट पर खड़े, पेड़ों को कभी भी काटा या उखाड़ा नहीं जाये। आधुनिक सभ्यता नदियों के तटबन्ध के कटाव के कारण हर जगह बाढ़ के प्रकोप का सामना कर रहें हैं तथा नदियों के किनारे वृक्षारोपण मात्र से कटाव को नहीं रोका जा सकता है। अर्थववेद में मानव अस्तित्व के लिए आवश्यकीय तत्व जैसे वायु, जल तथा हरे पेड़-पौधों की महत्वता के बारे में उल्लेख किया गया है। यद्यपि उन दिनों 'प्रदूषण' नामक शब्द के सिद्धान्त के बारे में कुछ भी नहीं लिखा गया है (द्विवेदी, 1990) परन्तु इसके लिए 'जहर' (पर्यावरण में जहर घोलना) शब्द उल्लिखित है। अर्थववेद के 18.17 के अनुसार समस्त ब्रह्माण्ड में तीन चीजों जैसे वायु, जल तथा पेड़ पौधों का समामेलन है तथा ये तीनों पृथ्वी में रहने वाले समस्त सभी जीवितों के अस्तित्व हेतु आवश्यक है, पेड़ पौधे तथा जड़ी-बूटी जहर को नष्ट करती है (अर्थववेद 8.7.10), वातावरण की शुद्धता (प्रदूषण) की जांच करती है (अर्थववेद 8.2.25), कुछ जड़ी-बूटियाँ हवा को शुद्ध करती है। गुग्गुल वृक्ष (कॉमिफोरा मुकुल), की सुगन्ध हवा को शुद्ध करती है तथा रोगों का इलाज भी करता है। (अर्थववेद 19.38.1)

अर्थववेद में भी चेतावनी दी गई है कि जल में किसी भी प्रकार की गन्दगी तथा विषैले पदार्थ को न डाला जाये क्योंकि ऐसा करने से रोग फैलते हैं। ''वह जो तालाबों, झीलों, नदियों आदि को गन्दा या खराब करता है अथवा आवासीय क्षेत्रों के निकट दुर्गन्ध फैलाने का कार्य करता है वह अनुशासनात्मक सजा का जिम्मेदार होता है (जोशी तथा नमिता, 2009), यह तर्क नदियों तथा झीलों के पदूषण के सन्दर्भ में प्रासंगिक प्रतीत होता है तथा इसका परिणाम पारिस्थितिक जनित रोग होते है जिसका आज आधुनिक सभ्यता सामना कर रही है। पर्यावरण के सन्दर्भ में अनुभवन पीपल के वृक्ष (Ficus religious) के साथ भी बहुत महत्ता जुड़ी हुई है। राष्ट्रीय वनस्पति अनुसंधान संस्थान, लखनऊ ने लगभग 150 पेड़ तथा जड़ी बूटी को (जिसमें पीपल भी शामिल है) प्रदूषण योद्धा के रूप में

चिन्हित किया है। यह वृक्ष कई विषैली गैसों तथा धूल को बीच में ही रोक सकते है तथा पर्यावरण में ऑक्सीजन को बहुतायत में फैला सकते है। (रवीन्द्र, 1985)

यर्जुवेद में भी पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं को नुकसान पहुँचाने तथा पेड़ों के काटने के दुष्परिणामों एवं पर्यावरण को प्रदूषित करने का उल्लेख किया गया है। परन्तु यह वैश्विक पारिस्थितिकी तन्त्र ऊर्जा सम्बन्ध के विषय में भी चर्चा करता है। ''किसी भी मनुष्य को पशुओं को नहीं मारना चाहिए जो सभी के लिए मददगार होते है'' (यर्जुवेद 13.37) ''हे राजा आपको इन पशुओं जैसे बैल जो कृषि हेतु बहुत ही उपयोगी है, को कभी नहीं मारना चाहिए अथवा गाय जो हमें दूध देती है, को भी नहीं मारना चाहिए तथा अन्य उपयोगी पशुओं की भी हत्या नहीं करनी चाहिए। इसके विपरीत इन पशुओं की हत्या करने वालों को सजा देनी चाहिए जो इन्हें नुकसान पहुँचाते हो या इनकी हत्या करते है''। (यर्जुवेद 13.49), ये समुद्र अकूत धन सम्पदा के कोष है (यर्जुवेद 38.22) पानी को कभी भी दूषित न करें तथा वृक्षों को न कभी काटे या कभी नुकसान भी न पहुँचाये (यर्जुवेद 6.33)। आसपास के वातावरण को कभी भी परेशान न करें तथा पर्यावरण में कभी भी जहर न घोलें (यर्जुवेद 6.33)। वैश्विक पारिस्थितिकी तन्त्र में ऊर्जा के प्रवाह के विषय में यर्जुवेद में कहा गया है ''समस्त ब्रह्माण्ड ऊर्जा से भरा हुआ है जिसमें सूर्य मध्य में स्थित है तथा यह पृथ्वी पर रहने वाले सभी जीवों की परम ऊर्जा का श्रोत है। समस्त ऊर्जा का प्रवाह उत्पादन बिन्दु से लेकर उपभोग बिन्दु तक पेड़-पौधों, पशुओं, मानव जाति, वायु, जल तथा जमीन के द्वारा प्रवाहित होती रहती है तथा यह पूर्ण रूप से सर्वशक्तिमान के नियंत्रण में है। यद्यपि ऊर्जा प्रवाहित रहती है तथा समस्त ब्रह्माण्ड में सन्तुलन बनाये रखती है परन्तु कुछ असन्तुलन विभिन्न प्रकार की प्रा तिक अशान्ति जैसे असमय बारिश, मूसलाधार बारिश, सूखा तथा बाढ़, गरम, शीत ऋतु तथा ठण्डे गर्म मौसम की वजह बनते हैं। पृथ्वी वनस्पति को उगाने के लिए धरातल उपलब्ध कराती है जो गर्मी के निर्माण को नियंत्रित करता है।

सूर्य की किरणों के साथ मिलकर जड़ी-बूटियाँ तथा पेड़-पौधे जीवन जीने के लिए अनूकूल वायुमण्डल प्रदान करते हैं (अर्थववेद 5.28.5) अब ग्लोबल वार्मिंग के लिए वायुमण्डल में बनने वाली कार्बन-डाई-ऑक्साइड (जो जीवाश्य ईधन के जलने के कारण बनती है) तथा वैश्विक वनों की कटाई मुख्य रूप से कारण घटक होते है। (सिन्हा, 1991) हरे पेड़-पौधे (जंगल) प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा (सूर्य की ऊर्जा का उपयोग) ''प्राकृतिक सोरूता'' के रूप में समस्त कार्बन-डाई-ऑक्साइड को सोख लेता है तथा गर्मी के प्रभाव को कम करने में मदद करता है। प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया के दौरान हरे पेड़ पौधे काफी मात्रा में ऑक्सीजन प्रदान करते है तथा वायुमण्डल सौर अवशोषण को भी सीख लेता है ताकि वाष्पोत्सर्जन की प्रक्रिया में जल वाष्प दिया जा सके। इन दोनों प्रक्रिया का संयुक्त प्रभाव वातावरण को ठण्डा करता है तथा जीवन तंत्र में विद्यमान सभी के लिए अनुकूल बनाता है।

उपनिषद (1500 से 600 ई.पू.) : 1500 से लेकर 600 ई.पू. तक के मध्य में उपनिषद का प्रादुर्भाव उत्तर वैदिक काल में देखने को मिलता है। इन्हें वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम चरण के रूप में जाना जाता है। जिसमें कुछ दार्शनिक प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। उपनिषदों को मानने वाले ऋषि मुनि ईश्वर के अस्तित्व को वृक्षों में अन्य पेड़ पौधे में महसूस करते है तथा उन सभी प्राकृतिक सम्पदा को भी ईश्वरीय मानते है जो मनुष्य को जीवित रहने में मदद करते हैं व पारस्परिक जीवित रहने की दिशा में एक साथी के रूप में प्रकृति द्वारा उपहार स्वरूप प्राप्त हुये है। ''ईश्वर जो ब्रहमाण्ड में विद्यमान है, वायु, जल तथा अग्नि में भी शामिल है तथा पेड़-पौधों व जड़ी-बूटी में भी उसी ईश्वर का अंश है अतः मनुष्य को इन सभी के प्रति श्रद्धा भाव होना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद (3. 9.28) वृक्षों को मनुष्य के साथ इस प्रकार जोड़ता है :-एक वृक्ष जंगल के राजकुमार के समान होता है। (त्रिवेदी, 2004) तैत्तरीय उपनिषद (5.101) में पर्यावरण को स्वच्छ रखने हेतु मानव जाति के लिए कुछ निश्चित मानदंडो का उल्लेख किया गया है। ''किसी भी व्यक्ति को (नदी, तालाब या सागर) पानी में मूत्र विर्सजन तथा मल त्याग नहीं करना चाहिए, पानी में थूकना भी नहीं चाहिए तथा कपड़ों के बिना स्नान भी नहीं करना चाहिए''। ईशावास्य उपनिषद में पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व के रहस्यों तथा पारस्परिक जीवित रहने की प्रक्रिया में प्रत्येक जीव की महत्ता को प्रकट किया गया है। समस्त ब्रहमाण्ड समस्त जीवों के साथ ईश्वर से सम्बन्धित है। कोई भी जीव किसी अन्य से किसी भी प्रकार से बेहतर नहीं है। मानव-जाति प्रकृति से ऊपर नहीं है। कोई प्रजाति किसी अन्य प्रजाति के अधिकार क्षेत्र तथा विशेषाधिकार पर अपना अतिक्रमण स्थापित करने की कोशिश न करे। हजारों वर्ष पूर्व ईशावास्य में से बोले गये यह पद्य (वर्सेज) सत्य हैं तथा आज के समय में काफी प्रासंगिक भी लगते हैं क्योंकि आधुनिक मानव सभ्यता में मानव प्रौद्योगिकीय हथियार के साथ सशस्त्र, अपने वैज्ञानिक ज्ञान घमंड के साथ एवं भौतिकवादी

उपलब्धियों के प्रति बढ़ते हुये लालच के कारण अन्य जीवित प्राणियों के अधिकारों का हनन करने में लगा हुआ है फिर चाहे वह उपयोग करके दुरूप्रयोग, शोषण करके तथा अत्यधिक शोषण करके पृथ्वी में उपलब्ध विरले प्राकृतिक संसाधनों का 'सतत विकास' के सिद्धान्त जिसकी बीन आजकल के पर्यावरणविद बजा रहे हैं। यह प्रा तिक सम्पदा का विवेकपूर्ण तरीके से प्रयोग (दोहन) कर सकें ताकि यह एक स्थिर विकास की ओर अग्रसर हो पायें।

पुराण (चौथी शताब्दी ईसवी) : चौथी शताब्दी ईसवी के पौराणिक साहित्य में भी पर्यावरण संरक्षण से सम्बन्धित सन्देश सम्मिलित हैं। नरसिंह पुराण में उल्लिखित है कि खाने के लिए पक्षियों को मारना निषेध किया गया है, ''हे शैतान आदमी। यदि तुम किसी पक्षी को मारते हो तो तुम्हारे द्वारा की गई पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा, पवित्र नदियों में किये गये स्नान तथा यज्ञ सभी कुछ अर्थहीन हो जाते है।'' भगवान केशव सिर्फ उन्हीं मनुष्यों से प्रसन्न होते हैं जो किसी जीव-जंतु अथवा पशु को किसी भी प्रकार का नुकसान अथवा अनिष्ट न करते हैं''(विष्णु पुराण)। पुराण में पेड़-पौधों के गुणों को भी याद किया गया है तथा पेड़ लगाने की आवश्यकता पर जोर भी डाला गया है। ''जिस घर में पवित्र तुलसी का पौधा लगाया गया हो उस घर में रहने वाले लोग काफी भाग्यशाली होते है'' (पदम पुराण 59.7) ''यमराज (मृत्यु का वाहक) कभी भी ऐसे घर में प्रवेश नहीं करते जहाँ तुलसी की प्रतिदिन पूजा की जाती हो'' (स्कन्द पुराण 21. 66)। वाराह पुराण (172.39) में कहा गया है कि ''जो व्यक्ति एक पीपल, नीम, बरगद, दो अनार के पेड़, दो संतरे के पेड़, पांच आम के पेड़ तथा दस फूलों के पौधे अथवा लतायें लगाता है वह कभी भी नरक में नहीं जा सकता'', भारत में 'वन महोत्सव' की प्रथा लगभग 1500 वर्ष पुराने समय से प्रचलित है। मत्स्य पुराण में इस बारे में बताया गया है। अग्निपुराण में कहा गया है कि पापों का उन्मूलन पेड़-पौधों को लगाने तथा बागों को बनाने मात्र से ही हो जाता है। पदमा पुराण (56.40.41) के अनुसार किसी भी हरे पेड़ को काटना एक दण्डनीय अपराध माना जाता है।

उपसंहार : हिन्दुत्व हमेशा से ही एक ऐसा दर्शन रहा है जो पर्यावरण हेतु काफी संवेदनशील, शायद किसी भी अन्य धर्म ने पर्यावरणीय आचार नीति पर इतना जोर नहीं डाला जितना कि हिन्दू धर्म ने। पर्यावरण संरक्षण तथा पारिस्थितिक संतुलन से सम्बन्धित कुछ प्राचीन सन्देश महाभारत, रामायण, वेद, उपनिषद, भगवतगीता, पुराण तथा स्मृति में सम्मिलित हैं। प्रकृति अथवा पृथ्वी को कभी भी विरोधी तत्व नहीं माना गया जिसे जीता या उस पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सके। वास्तव में मानव को प्रकृति के दोहन करने से हमेशा रोका गया है। उसे प्रकृति के साथ समन्वय करके रहना सीखाया जाता रहा है। उसे यह भी सीखाया गया कि समस्त तत्वों जिसमें पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु भी शामिल हैं, में देवत्व होता है उन्हें सिर्फ पहचानने की आवश्यकता है। भूतकाल के ऋषि मुनियों ने हमेशा ही प्रकृति का सम्मान किया है। यह उनका कोई प्राचीन अन्धविश्वास धर्मशास्त्र नहीं था। इन ऋषि मुनियों ने यह महसूस किया कि सभी भौतिकवादी अभिव्यक्ति आध यात्मिकता की ही परछाई है। भगवतगीता हमें यह सलाह देती है कि मनुष्य को पर्यावरण परिवर्तित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए अपितु उसमें सुधार करने का प्रयास करना चाहिए। कभी यदि वह प्रतिरोधी जैसा प्रतीत हो तो उसे सहन कर लेना चाहिए। हिन्दुत्व की दृष्टि से पारिस्थितिक आध्यात्मिक विश्व का एक अन्तर्निहित अंग है।

सन्दर्भ सूची

1. भण्डारक, आर.जी. (1965), वैश्निजम, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजीयस सिस्टम्स, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी।
2. दास गुप्ता एस.पी. (2003) इन्वायरमेण्टल इश्यूज फॉर दि 21वीं शताब्दी, मित्तल पब्लिकेशनस, नई दिल्ली।
3. डेविड, डी.एस. (1980) तामिल टेम्पल मिथस, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी
4. डेविड, डी.एस. (1980) तमिल टेम्पल मिथस, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस न्यू जर्सी
5. द्विवेदी, ओ.पी., तिवारी, बी.एच. (1987) इन्वायरमेन्टल क्राईसेस एण्ड हिन्दू रिलिजन, गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
6. द्विवेदी ओ.पी. (1990) दि इसेन्स ऑफ दि वेदास, विश्व भारती रिसर्च इन्सटीट्यूट, ज्ञानपुर, वाराणसी, जरनस एच (मक), इनसाईक्लो-पिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड इथिक्स (वोल्यू II) न्यूयॉर्कः चार्ल्स स्जिक्रिबमर सण्स 1958
7. जोशी, पी.सी., नमीता जे (2009) ए टेक्सबुक ऑफ इन्वायरमेन्टल साइन्स, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली।
8. रवीन्द्र के (1985) वैश्वेनिज्म थ्रू ऐजेस

डॉ. शिवानी रावत

सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग,

डी.एस.बी. परिसर, कु.वि.वि., नैनीताल

संस्कृति, अनुवाद और अस्मिता

–निरंजन राव

मनुष्य के विकास और उसकी चेतना के निर्माण में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मनुष्य के सांस्कृतिक निर्माण और उत्थान में अनुवाद की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत शोध-पत्र में हम अनुवाद की विस्तृत भूमिका पर विचार और विश्लेषण करेंगे।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में जातीय अस्मिता का निर्माण करने में जिस नवजागरणकालीन साहित्य चेतना का आधार रहा है उसका बीजारोपण अनुवाद से ही होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र से चली यह परंपरा द्विवेदी जी से होती हुई आज तक चली आ रही है।

आधुनिकता के प्रस्फुटन और साहित्य चिंतन में मनुष्य की स्थापना, मनुष्य के भीतर व्यक्ति तथा व्यक्तित्व की पहचान और उसकी अस्मिता को गरिमा प्रदान करने में देशी-विदेशी विभिन्न भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-इतिहास, विश्लेषण-चिंतन की युग परिवर्तनकारी भूमिका रही है। वास्तव में अनुवाद ही वह सेतु है जिस पर चलकर एक भाषा का विचार दूसरी भाषा में आता है। यह आलेख इसी वैचारिक पद्धति का अनुपालन करता है।

प्रतिस्पर्धा तो मनुष्य जाति का सहज भाव है, इसलिए सांस्कृतिकता में भी वह ही होगा। इस संस्कृति का वाहक साहित्य होता है। स्पष्टतः दूसरों की सांस्कृतिक अस्मिता से पहचान का स्रोत उसका साहित्य होगा। अपरिचित भाषा के साहित्य के इस पहचान का माध्यम बनाने की साधना अनुवाद होगा। साहित्य के अनुवाद की संस्कृति इसी कारण महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इससे एक लक्ष्य भाषा का साहित्य भी समृद्ध करना होता है।

अनुवाद संस्कृतियों को मिलाने, उसे प्रभावित करने तथा बड़ी-छोटी अस्मिताओं को मजबूत करने का साधन होता है, नवीन अस्मिताओं का विशिष्ट निर्माता होता है। दुनिया भर के लोग विशिष्ट कृतियों के अनुवाद से अपने ज्ञान कोष भरते रहे हैं। तीसरी-चौथी शताब्दी में बौद्ध साहित्य चीन तथा अन्य देशों में पहुँच गया; आठवीं शताब्दी में पंचतंत्र अरबी के रास्ते दुनिया भर की सैर करने लगा था।

भारतीय अनुवाद परम्परा में अन्य देशों की महत्त्वपूर्ण कृतियों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद का कोई उदारहण नहीं मिलता है। समकालीन अनुवाद चिन्तक एवं आलोचक देवशंकर नवीन इस पर प्रश्न उठाते हैं। उनके प्रश्नों में अनुवाद

के प्रति भारतीय चिंतकों की विरक्ति विचारणीय एवं चिंतनीय है। अनुवाद की व्यापक, समृद्ध परम्परा को आलोचक नवजागरण काल से देखते हैं "भारतीय चिंतकों को कभी दूसरे देशों के मूल्यवान ग्रंथों की और अनुरक्ति क्यों नहीं हुई? उनकी यह निरपेक्षता उनकी अनुवाद-धारणा के प्रति प्रश्नाकुल करती है। या तो वे अपने ग्रंथों पर इतने मुग्ध थे कि बाहर का सारा कुछ निष्प्रयोजनीय लगता था या वाकई बाहर कुछ अनुकरणीय नहीं था या फिर उन्हें दूसरे देशों की भाषा सीखकर वहाँ की बौद्धिक सम्पदा अपने यहाँ ले आने की कभी प्रेरणा नहीं हुई। यह अनुसंधान का विषय है, पर इस सत्य से नहीं मुकरा जा सकता कि अनुवाद द्वारा स्रोतभाषा के प्रचारप्रसार भले हो, किन्तु समृद्ध तो लक्ष्यभाषा ही होती है। आदिकालीन समय में भारतीय वांग्मय के इस तरह समृद्ध होने की कोई घटना सूचित नहीं दिखती"[1]

हिन्दी नवजागरण के दौरान मुख्यधारा के साहित्यकार विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का अनुवाद कर रहे थे। इसका उद्देश्य एक सुदृढ़ जातीयता की तलाश थी जो भारतीयता को पुष्ट कर सके। भारतेन्दु के समय अंग्रेजी, बांग्ला, मराठी नाटकों तथा अन्य कृतियों का अनुवाद हुआ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस परंपरा का विस्तार किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा हिंदी भाषा व क्षेत्र की चेतना को नवीनता और आधुनिकता से जोड़ने में अन्य भाषाओं और अनुवाद पर उनकी भूमिका को रेखांकित करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं कि "उन्होंने संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, मराठी और उर्दू साहित्य में प्राप्त महत्वपूर्ण सामग्री की जानकारी हिंदी पाठक को दी। यह एक मुहल्ले की बात दूसरे मुहल्ले तक पहुंचाने का कार्य नहीं था, हिंदी पाठक को सोचने-समझने के लिए नए मार्गों के निर्माण का कार्य था।"[2]

इस दौर की अनूदित रचनाओं ने हिन्दी भाषा को समृद्ध किया और हिन्दी पट्टी में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की नीव भी रखी। तत्कालीन अनुवाद एक भारतीय अस्मिता के निर्माण में सहायक रहा। यह भारतीय उपमहाद्वीप में अस्मिता का महत्तम रूप था। बाद में लोकतंत्र की स्थापना हो जाती है तो अस्मितावादी दृष्टिकोण तथा विमर्श की शुरुआत होती है। इस प्रक्रिया में अस्मिता का रूप लघुत्तम की ओर चल पड़ता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक सुरक्षा तथा राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये लघुत्तम स्तर पर अस्मितावादी विमर्श तथा आन्दोलन चले। यह लोकतंत्र का चरम रूप था। इसमें देशी-विदेशी भाषा से अनुवाद का महत्त्व बढ़ा। देश दुनिया में अस्मितावादी आन्दोलन, विमर्श और साहित्य अस्तित्व में आया। अन्य आन्दोलनकारियों, विमर्शकारों की, उसकी चेतना, प्रेरणा के तौर पर इच्छित थी। चेतना की इसी इच्छापूर्ति के लिये अनुवाद का महत्त्व व जरूरत बढ़ी। आज दलित अस्मिता के निर्माण और चेतना में मराठी, गुजराती, पंजाबी, बंगला आदि से लेकर अफ्रो-अमेरिकन साहित्य के अनुवाद की जरूरत हुई।

अनुवाद केवल भाषा और कथ्य का नहीं होता। अनुवाद एक सेतु के रूप में काम करता है। जिस पर चलकर एक 'संस्कृति' दूसरी संस्कृति से मिलती है। इस प्रकार मानव समाज सुसंस्कृत होता है। सुसंस्कृत होने का तथ्यात्मक विवरण ही कालांतर में सभ्यता का इतिहास कहलाता है।

भारतीय संस्कृति विश्व में तीसरी सबसे पुरानी संस्कृति मानी जाती है। पहला स्थान इजिप्ट सिविलाइजेशन का आता है, दूसरा ग्रीक सभ्यता और उसके बाद हड़प्पा सभ्यता (भारतीय) मानी जाती है। भारतीय संस्कृति विविधता के मामले में सम्पूर्ण विश्व से अलग व उन्नत रही है। इसी कारण भारतीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति भी कहा जा सकता है।

गौरतलब है कि भारतीय समाज की विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों से सृजित साहित्य का अनुवाद अन्य भाषा-भाषी तथा संस्कृतियों को समृद्ध करता रहा है। अनुवाद कभी मौखिक तो कभी लिखित रूप से अन्यों के पास पहुंचा है। सांस्कृतिक रूप से समृद्ध करने के अलावा एक बड़ा काम अनुवाद ने किया है, वह है 'अस्मिता बोध' व 'अस्मिता निर्माण' में भूमिका निभाना।

जब एक संस्कृति का जीवन-बोध साहित्य के माध्यम से अनुवाद होकर अन्य संस्कृतियों तक जाता है तो उनके बोध को भी प्रभावित करता है। अस्मिता निर्माण में इस प्रक्रिया की युगांतरकारी भूमिका हो सकती है।

अनुवाद की परम्परा में अस्मिता निहित है। भारतीय नवजागरण तथा स्वतंत्रता संघर्ष को देखें तो इनका प्रारंभ अनूदित नाटकों से होता हैं। यहां अनूदित नाटकों से भारतीय जातीयता की भावना को मजबूत करने का प्रयास रहा है। तत्तकालीन समाज में ऐसे कथ्यों की आवश्यकता भी थी जो रियासतों में बंटे बिखरे जन-मन और औपनिवेशिक शासन से पीड़ित भारतीय समाज को एक 'अस्मिता' के सूत्र में पिरो सके। वह तत्तकालीन आवश्यकता थी।

देवशंकर नवीन की स्थपाना है कि "भारतीय भाषा में किसी भारतीयेतर ग्रन्थ के अनुवाद का पहला उदाहरण सन 1880 में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा अनूदित विलियम शेक्सपियर की कृति दुर्लभ बन्धु है। इसके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्वारा अनूदित हर्बर्ट स्पेन्सर (शिक्षा 1906), और जॉन स्टुअर्ट मिल (स्वाधीनता, 1907), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित अन्सर्ट हैकल (विश्वप्रपंच), और बाबू राव विष्णु राव पराड़कर द्वारा अनूदित सखाराम गणेश (देश की बात, 1904) की कृतियों से स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान भारतीय नागरिकों का आहात मनोबल ऊँचा हुआ। उपनिवेशवादी धारणाओं से प्रेरित अनुवाद जब भारतीय समाज, कानून, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, परम्परा, चेतना और अस्मिता का विरूपित चेहरा पेश कर रहा था। आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल ने भारत की उस अनूदित अस्मिता पेश करने वालों की नीयत पर गहरा आघात किया।''[3]

समाजशास्त्री श्यामचरण दुबे ने भारत और विश्व में हो रहे मानव समुदायों, जातीय समूहों के बीच छिड़े संघर्ष एवं हिंसक, अहिंसक द्वंद्व तथा संघर्षण को 'अस्मिताओं का संघर्ष' कहा है। लेखक ने 'अस्मिता' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा हैं ''भाषा, भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, रक्त-सम्बन्ध, सुदूर आत्मीय सम्बन्ध या धर्म, जाति अथवा उद्देश्यों में होने वाली समरूपता ऐतिहासिक तथा वर्तमान व्यवहारिक सम्बन्धों एवं सक्रियताओं के आधार पर विभिन्न सामाजिक समुदायों/समूहों का निर्माण करती है, ये तमाम छोटे-बड़े समूह समाज में, राज्य में, राष्ट्र में यहां तक कि वैश्विक पटल पर भी अपनी स्वतंत्र स्वायत्त पहचान बनाए रखने के लिए विरोधी एवं प्रतिलोम शक्तियों से बराबर जूझते रहते हैं। अपने-अपने समुदायों में बाहरी दखलन्दाजी बर्दाश्त नहीं करते। अपने आर्थिक, राजनैतिक, भाषाई, सांस्कृतिक, सांप्रदायिक, जातीय, सामाजिक, भौगोलिक स्वरूप की विशिष्टता को बनाए रखने के लिए ये पूरी तरह जागरूक रहते हैं, अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए डटकर लोहा लेते हैं।''[4]

स्वतंत्र भारत के सामने अस्मिता का प्रश्न क्षेत्र और भाषा के आधार पर सबसे उग्र रूप में आया। जिसमें सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न जुड़ा था। जैसे उत्तर-पूर्व में नगा और मिजो के जनजातीय आन्दोलन जो बाद में स्वतंत्र राज्य के रूप में निर्मित हुए। असम में बंगलाभाषी और बोड़ो जनजातियों की सांस्कृतिक परम्परा और अस्मिता का प्रश्न। तमिलनाडु का द्रविड़ आन्दोलन जो भाषा, संस्कृति और जातीय भावना पर आधारित था। इसलिए परम्परा और उसके मूल्यों का अर्थ निरंतरता से बदलता रहता है। जिससे बड़ी-छोटी अस्मिताएं प्रभावित होती रहती हैं।

अस्मिता का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है। एक समय ईश्वर और मोक्ष मूल्यवान अस्मिता थे तो दूसरे समय राजा व सामंती मूल्य महत्त्वपूर्ण हो गये। कालांतर में लोकतान्त्रिक प्रेरणाओं के चलते दलित, आदिवासी और स्त्री चिन्तन केन्द्र में आया। आन्दोलनों और साहित्य ने पारम्परिक और सांस्कृतिक हिन्दू धर्म के स्थिर मूल्यों पर आधारित अस्मिता को अस्वीकार किया। अस्वीकार के भाव बोध ने नयी अस्मिता का निर्माण किया और भारतीयता को नये ढंग से परिभाषित किया।

बीसवी सदी का अस्मितामूलक साहित्य अपनी अर्थवत्ता, व्यापकता, सार्थकता तथा अस्मितागत बोध के रूप में आज अखिल भारतीय साहित्य के केन्द्र में स्त्री, दलित और दिवासी 'विमर्श' का विषय बना हुआ है। अस्मितमूलक साहित्यिक आन्दोलनों को गति अनुवाद ने दी हैं। साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनितिक आन्दोलनों द्वारा दलित अस्मिता का विकास व्यावहारिक रूप से हुआ है। साहित्य की सभी विधाओं जैसे आत्मकथा, उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक आदि में दलित साहित्य हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में लिखा व पढ़ा जा रहा हैं। जब इन रचनाओं का अनुवाद होता है तब अखिल भारतीय स्तर पर 'दलित अस्मिता' से हमारा परिचय होता है।

समकालीन दलित चिन्तक और आलोचक बजरंग बिहारी तिवारी अस्मिता के स्वरुप को स्पस्ट करते हुए लिखते हैं "अस्मिताओं के उभार को उत्तर आधुनिकता से जोड़ के देखा जाता है। आधुनिकता के बृहद आख्यान का प्रत्याख्यान है उत्तर आधुनिकता। अस्मिताएं वृहद आख्यानों के भीतर के उपेक्षित समूह हैं। अनसुनी आवाजें हैं। संज्ञान में न लिए गए अनुभव हैं। राष्ट्र के रूप में भारत का एक वृहद आख्यान है। स्त्री, दलित और आदिवासी समुदाय इसके भीतर की वंचित अस्मिताएं हैं। इन अस्मिताओं का प्रकटन बृहद आख्यान में टूटन या दरार की तरह है''[5]

वरिष्ठ मराठी दलित लेखक गंगाधर पानतावणे अस्मिता का संबंध जाति से नहीं जोड़ते, वह उसे कांशसनेस अर्थात चेतना से जोड़ते हैं। लेखक के अनुसार- ''हम दलित का सम्बन्ध जाति से नहीं जोड़ते, कांशसनेस से जोड़ते हैं। जो दबा हुआ, 'सोशल प्रोलेतेरियत' है, जिसकी मनुष्यता की प्रतिष्ठा ही नहीं हो पायी वह अपनी अस्मिता की खोज करता है। मैं कौन हूँ अर्थात 'सेल्फ आइडेंटिटी' के सवाल से प्रारंभ करने वाला ही दलित चेतना है। इसका सम्बन्ध कोहम्ध्सोहम् से नहीं है। यह जीता जागता मनुष्य है। मैं यह नहीं हूँ, मैं यह हूँ- बाबा साहब ने हमे समझाया। बुद्ध का कथन- 'अप्प दिपोभव'। इसलिए यह जाति का मामला नहीं है। मुझे अछूत बनाया गया, बहिष्कृत रखा गया यह

कांशसनेस ही दलित-कांशसनेस है।''[6]

कालान्तर में अनेक लघु अस्मिताएँ उभरीं और भारतीय समाज को पूरकता प्रदान की। यह पूरकता लघु अस्मिताओं को सामाजिक और राजनैतिक अधिकार प्रदान कर सकने में थी। और बाद में असंतुष्ट भावबोध ने अस्मितामूलक विमर्श को आन्दोलन का रूप दिया। इसी चेतना से प्रेरित साहित्य दलित, स्त्री और आदिवासी चेतना का साहित्य कहलाया। अनुवाद ने इन आन्दोलनों को गति प्रदान की। अनुवाद के कारण ही अस्मितामूलक साहित्य को भारत और विश्व में पहचान और स्वीकृति प्राप्त हुई।

विशेष : प्रस्तुत शोध पत्र किसी अंतिम निष्कर्ष का दावा नहीं करता अपितु नए शोध विषयों की संभावनाएं पैदा करता है।

सन्दर्भ-सूची

1. नवीन, देवशंकर अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य, दिल्ली, प्रकाशन विभाग, 2016
2. त्रिपाठी, विश्वनाथ हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, दिल्ली, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2007
3. नवीन, देवशंकर अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य, दिल्ली, प्रकाशन विभाग, 2016
4. दुबे, श्यामाचरण समय और संस्कृति, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2017
5. तिवारी, बजरंग बिहारी, भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिन्तन, दिल्ली, शब्दारंभ प्रकाशन, 2015
6. वही

निरंजन राव
शोधार्थी
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

प्रेम कुमार मणि कृत 'उपसंहार' उपन्यास में व्यक्त सामाजिक सरोकार

—उपदीप कौर

शोध सार

समाज सम्बन्धों का जाल है। यह अपने आप में रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व आपसी सहायता, अनेक समूहों तथा उनके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। यह निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। इसके अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता या संकुलता निहित है, चाहे वे सम्बन्ध साध्य साधन, स्वाभाविक, प्रतीकात्मक अथवा क्रियाओं से उत्पन्न हो। कोई भी व्यक्ति समाज से अलग नहीं है। घने बीहड़ों में निवास करने वाले साधु-संन्यासी भी समाज के दायरे में ही आते हैं। जैनों, नाथों और सिद्धों ऐसे वैरागी साधुओं ने समाज से एक निश्चित दूरी रखी, परन्तु वे फिर भी किसी न किसी रूप में समाज से सम्बन्ध रहे और समाज भी उनसे प्रेरणाएं पाता रहा है। कवि स्वयं भी समाज का अभिन्न अंग है और उसके अधिकांश विषय भी समाज से जुड़े होते हैं। विशेषकर आधुनिक उपन्यास 'उपसंहार' सामाजिक अनुभूतियों के रंगों से खूब रंगा हुआ है। सामाजिक जड़ताओं और कुसंस्कारों के विरूद्ध वैज्ञानिक सोच से जुड़कर इस उपन्यास में जीवन की चिंताओं के व्यापक अहसास प्रकट हुए हैं। समसामयिक उपन्यासों में भी समाज में रह रहे आदमी के संघर्ष, उसके दुःख-दर्द और उसकी सामाजिक स्थिति का सजीव चित्रण मिलता है, परन्तु इससे भी बड़ी बात यह है कि इस उपन्यास में मानवीय सम्बन्धों में आई गिरावट, सामाजिक मूल्यों का अवमूल्यन और सामाजिक विषमताओं की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है।[1]

मूल शब्द : समसामयिक, विषमता, तिरस्कार, उपसंहार, रूपायित

लेखक एवं कवि कर्म उसके कथ्य पर केंद्रित होता है। वह समाज का तिरस्कार नहीं कर सकता। प्रेमकुमार मणि के उपन्यास 'उपसंहार' में समाज की विभिन्न स्थितियों को कथ्य का आधार बनाया गया है। इनकी रचना धर्मिता में युग

और समाज की संवेदना है। समाज में व्याप्त समस्याएँ रचना को व्यापकता प्रदान करती है। युग की परिस्थितियाँ रचनाकार की चेतना को रूपायित भी करती है। कोई भी रचना युग के संदर्भ से अलग रखकर नहीं आंकी जा सकती एवं न ही उसका कोई स्थायी महत्त्व होता है। डॉ. मांगो रानी का कथन अत्यंत प्रभावशाली है 'वह अपने विचारों में उलझा था। 'विचारों की दरिद्रता' को शीर्षक लेख आज उसे पूरा कर लेना है। कहाँ से प्रारम्भ करे अपनी बात। सब ओर वैचारिक दरिद्रता है। दशक भर पहले सभी राजनीतिक दलों की एक विचारधारा होती थी, कैडरों का एक चरित्र होता था। कोई कहता था कि अमुक आदमी कम्यूनिस्ट पार्टी में है तो उसका मतलब होता था कि वह जातिवाद, धर्मवाद और रूढ़िवाद से अलग होगा। वैज्ञानिक भौतिकवादी होगा। अमुक व्यक्ति समाजवादी पार्टी का है या कांग्रेसी है अथवा जनसंघी ही है, तब उसका एक विचार चरित्र होता था।[2] आज यदि कोई कम्युनिस्ट पार्टी में है तो यह आवश्यक नहीं कि वह जातिवादी नहीं है। यदि किसी समाजवादी कहीं जाने वाली पार्टी में है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह व्यक्तिगत पूंजी का विरोधी ही है। आज तो कांग्रेसी रामनामी ओढ़ सकता है और भाजपाई वोट के लिए गोमांस खा सकता है। दरिद्रता का आलम यह है कि कम्युनिस्टों के हाथ में 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' की जगह मंडल कमीशन की रिपोर्ट है और लोहियावादी 'बैंडिट क्वीन' को छाती से लगाए घूम रहे है। सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है।[3]

कवि के अनुसार उपन्यास 'उपसंहार' में पारिवारिक तालमेल की शिक्षा दी गई है। परिवार व्यक्ति और समाज दोनों के लिए परस्पर धुरी के समान है। समाज में स्त्री और पुरूष विवाह के बंधन में बंधकर परस्पर विपरीत मनोभावों व वैचारिकता में सामंजस्य बैठाकर परिवार का स जन करके आपस में सहयोग की भावना का विकास करते हैं। परिवार में परस्पर सहयोग की भावना होती है। समाजशास्त्री मैकाइवर एवं पेज लिखते हैं- ''परिवार पर्याप्त निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों को पैदा करने तथा लालन-पालन करने की व्यवस्था करता है। परिवार अपने सदस्यों को संरक्षण प्रदान करने और उनके संस्कारों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली संस्था बनकर सामने आता है। परिवार के सभी सदस्य परिवार की सामूहिक उन्नति, विकास एवं हित-चिंतन हेतु प्रेरित रहते हैं। उपरोक्त परिभाषाएं पारिवारिक स्तर के यथार्थ को प्रस्तुत करने में समर्थ है। परिवार उन व्यक्तियों के समूह को कहते हैं, जो विवाह, रक्त संबंध या गोद लेने द्वारा परस्पर सम्बद्ध हो। ये सम्बन्ध एक दूसरे पर प्रभाव डाले व एक दूसरे के साथ अन्ततः सम्पर्क रखें और इस प्रकार एक सर्व सामान्य संस्कृति का सृजन करके सुसंगठित रहे। भारतीय परिवारों में आज मूल्यों का विघटन हुआ है। एक अजनबीपन, दिशाहीनता, कलह और घुटन का शिकार हुए हैं। दाम्पत्य सम्बन्धों में तनाव पनपा है। पति-पत्नी वैमनस्य से गुजर रहे हैं। नारी शिक्षित होकर अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हुई है। पति-पत्नी अपना-अपना महत्त्व जताने के प्रयास में कुण्ठित रहते हैं। अहं जब टकराता है तो सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। परिवार के सद्भाव एवं उसके टूटते-बिखरते रिश्तों को अभिव्यक्त किया गया है। पुरूष प्रधानता के प्रति आक्रोश भी कवि ने जताया है।[4]

और वह रातभर सपनाता रहा। रिक्की-टिक्की। उसके स्कूल के नए मास्टर साहब। भिन्न का जोड़ और बीच-बीच में शहर की कों-पों, गंगा का बहाव, उसके भाई जैसा भिखमंगा बालक। गोलघर की सीढ़ियाँ और सीढ़ियों पर छितरी बेशुमार ही नहीं, अठनियाँ, और अरे-अरे ये एक-एक रूपए के सिक्के। अब क्या करे चन्दन। कैसे ले जाने दें इतने पैसों को? को वह लाचार है। कहीं कुछ मिलता ही नहीं है जिसमें भरे वह इन सिक्कों को। और वह घबरा जाता है बुरी तरह। वह सपने में लौटना चाहता हैं। लेकिन इतना आसान नहीं है सपने में लौटना । सामने सपने की चवन्नियां थी न। सपने के सिक्के थे न। ओह! बहुत गलती हो गई उससे। थोड़े ही सिक्के जब बटोरे थे तो दौड़कर उसे मिठाईयों की दुकान पर जाना चाहिए था और मिठाईयां खानी चाहिए थी। सपने में भी तो स्वाद मिलता ही है न। स्वाद का क्या? अभी खाया, कुछ मिनट बाद कुछ नहीं। थोड़ी देर तक मिले स्वाद को ही लोग याद करते हैं और क्या। क्या सपने में खाई मिठाईयों के स्वाद याद न रहते जागने पर! जरूर रहते। जा, भूल हो गई।[5]

मुझे अच्छा लगा कि बगलगीर ग्रामीण पृष्ठभूमि के है। उससे भी अच्छा यह लगा कि उनकी दादी पीतल के लोटे से पानी पीनेवाली थी। मन ने कहा, ''चलो अच्छा हुआ, धौंस जमानेवाला कोई आदमी नहीं आया। मेरी भाषा में अपनी बोली के बेलबूटे रहते थे और इनके कारण अक्सर शहरी लोगों के बीच मैं लज्जित होता रहता था। एक हीन ग्रन्थी थी मेरे मन में। उस ग्रन्थी के उत्तेजित होने का कोई कारण मुझे नहीं लगा और खुद को मैनें मजबूत महसूस किया।''[6]

वह अपने साहब से कहेगा कि हमारी कमाई के पच्चीस रूपये जो हर माह आप हमारे बाप को देते हैं, वह जमा कर दीजिए और एक दिन सब पैसे लेकर वह दादी के

पास जाएगा। दादी कभी नहीं कहेगी कि भूखे मरने से मार खाकर जिन्दा रहना अच्छा है। वह चाय बनाना जान गया है। करण साहब की वाइफ ने कहा कि उसे पकौड़े बनाना सिखा देगी। वह दादी को लेकर उसी शहर में चला जाएगा जिस शहर में जीवछ रहता है। वह वहां पकौड़े और चाय की दुकान खोल देगा और दादी को भीख नहीं मांगने देगा और अभिराम झा का नाती जीव जब मोटर पर चढ़कर गुजरेगा तो उसका मोटर रोककर कहेगा कि जीवछ भाई, लो चाय पी लो और गरम पकौड़ी खा लो और पूछेगा कि दिल्ली में तो तुम फर्स्ट होते हो न? उगना का मन उदार हो गया। उसने सोचा, काहे नहीं होगा फर्स्ट, दिल्ली में बेचारा। दिल्ली में कोई उगना थोड़े है।[7]

उगना की आँखें भर आती हैं जब उसे सालभर पहले के अपने बाप से भेंट की। याद आती है। सालभर पहले उसका बाप उसे देखने आया था। उगना की दीदी ने भीख माँग-माँगकर पैसे जुटाए और उगना के बाप को दिया कि जाए और उसे देख आवे। बाप आया। बेटे से मिला। लेकिन दोनो में दिलभर बात न हो सकी। उगना अब भोजपुरी के अलावा कुछ बोल नहीं सकता था और उगना का बाप भी मैथिली के अलावा कुछ न बोल सकता था, न समझ सकता था। बाप और बेटे की यह संवादहीनता अपने किस्त की ऐसी ट्रेजडी थी जिससे अपनी ही तरह से जूझ रहे थे। दोनों जब बात करने में असमर्थ हो गए तो दोनों की आँखें उमड़ने लगी और वे एक-दूसरे को पकड़कर रोने लगे।[8]

मीना ने इतना सोचा, लेकिन इस सोच के विकास के साथ ही उसे फिर अपने मर्द पर गुस्सा आ गया। वह चाहता तो क्या उसे नहीं मिल सकते थे पच्चीस-पचास। चाहता ही नहीं है। महेन्द्र बाबू को क्या अच्छी कुर्सी पर भगवान ने बैठाया हैं ? तिकड़म ने बैठाया है, तिकड़म ने बैठाया है, तिकड़म ने। लेकिन यह मेरा भोंदू, मरद किसी तरह का तिकड़म जाने तब न। घर में शेर बना रहता है। बाहर में घोंचू हैं, महाघोंचू। मेरी किस्मत ही फूटी थी, नहीं तो और क्या। नहीं तो बाप ने शादी में जितने पैसे खरच किए थे और मेरी जो शक्ल-सूरत थी उसमें इसी गोबर-गणेश के पल्ले पड़ना था।[9]

आधुनिक जीवन मे 'अर्थ' और 'रोटी' सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अर्थ ने जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है, अथवा आधुनिक जीवन शैली में संपूर्ण क्रिया-कलाप अर्थ तंत्र से जुड़े हुए हैं। व्यक्ति का मूल्यांकन अर्थ के परिप्रेक्ष्य से किया जाता है। यह हमारे जीवन के विभिन्न पहलूओं को नियंत्रित करता है। आज अर्थ जीवन की धुरी है। अर्थ की प्रधानता ने व्यक्ति परिवार और समाज के प्रतिमानों को बहुत गहरे तक प्रभावित किया है। आज व्यक्ति का मापदण्ड अर्थ ही है। जीवन मूल्यों, योग्यता, प्रतिमा, नैतिकता आदि गुणों का मुकाबला परिप्रेक्ष्य में होने लगा है। एक कहावत- दाम बनाये काम, आज के युग में सही लगती है। दाम यानी **अर्थ** यदि है तो कोई काम रूक नहीं सकता, जमाने की आधुनिक समय के सभी तंत्र के साथ-साथ आज समाज में भी केन्द्रित हो गई है और अर्थ पर आधारित जीवन दृष्टि का संकीर्ण बन जाना, धन को साधन की तरह प्रयुक्त करके साध्य तक पहुंचाना, सारे नैतिक मूल्यों को तटस्थ करके राजनीतिक सत्ता को हथियाना, आज की राजनीति का इमान बन गया है। राजनीतिक और आर्थिक दुःव्यवस्था ने मिलकर जीवन में उलझाव पैदा कर दिया है। जीवन और जटिल हो गया है। आज की राजनीति अर्थ की बैसाखियों के सहारे गतिमान है। अर्थ ने राजनीति, सत्ता एवं व्यवस्था को अपने प्रभाव में जकड़ लिया है। अर्थ के अभाव में कोई भी काम संपन्न नहीं होता। वर्तमान परिवेश में जीवन शैली अर्थ की अंधी दौड़ में दौड़ रही है। अर्थ और प्रकृति ने गरीब और अमीर के बीच खाइयों को और पाट दिया है, जो लगातार बढ़ती जा रही है। देश का आर्थिक ढांचा दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है। भूख, गरीबी, बेरोजगारी और महंगाई ने आम आदमी की कमर तोड़ दी है। उसका जीना दूभर हो गया है। आर्थिक विषमता ने अनेक समस्याएं पैदा कर दी हैं। राजनीति की पंगुता और सर्वग्राही शोषण एवं भ्रष्टाचार ने समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा और अधिक विषम एवं जटिल बना दिया है। अर्थ नीति के क्रूर, दुश्चक्र में आम आदमी पिस रहा है और कृत्रिमता के भयावह साम्राज्य में पला आज का व्यक्ति मानवता का उपहास सा प्रतीत हो रहा है। उसका स्वयं की जीवन सभी विलासिता पूर्ण साधनों के बावजूद उदास, खिन्न और विपन्न है। अधिक से अधिक अर्थ प्राप्ति की प्रवृति ने मनुष्य को निजहितैषी व धूर्त बना दिया है। मानवीय जीवन के मूल्यों के विभिन्न पक्षों को अर्थ ने क्षति पहुंचाई है। आज के युग में तो राजनैतिक धार्मिक नेताओं व संस्थाओं तक को अपने पंजे में जकड़ लिया है। अर्थ में जुड़े विचारों को साहित्य में अभिव्यप्त करना अनिवार्य है और साहित्यकारों ने इस पर खूब कलम चलाई है। उन्होनें अर्थ से जुड़ी विसंगतियों और अर्थ के अभाव में उत्पन्न होने वाली समस्याओं को अपनी उपन्यासों में वाणी दी है।

''छटाँक भर क्या, है तो आधा सेर। लेकिन आधा सेर से ही दोनों टेम की भूख मिटेगी!''

''ऐसा कर कि बच्चों के लिए गोलहथ पक्का दे। इन

लोगों को खिला दे।''

''और हम दोनों?''

''अपना जुगाड़ देखते हैं।''

कम में खोंसी हुई चुनौती उसने निकाली और खैनी मलने लगा। वातावरण तो ऐसा था कि मन करता था, न हगे, न मूते। लेकिन दोनों शाम के कौर की तो जुगाड़ करनी ही होगी। खैनी होंठ से दबाकर वह ओरी के नीचे गोड़कुनिए बैठ गया। मौसम में फिसिर-फिसिर मची थी। इसकी परवाह किए बिना बिन्दा बरतन धो-खँगाल रही थी। उसका आँचल भीग चुका था। हिरवा के बाबू ने पच्च से थूक फेंका और आंगन में भीगते जड़ौंधों को उठा-उठाकर ओरी के नीचे रखने लगा। पता नहीं कितने दिन झपसी रहती है। बाँस के ये जड़ौंध न रहे तो जाड़ा उठा ले जाए। किसी को फिकिर ही नहीं है। इन्हीं निकालने में नानी याद आ जाती है। कुदाल, टैंगारी, खंती सब और करो करो तब निकलते हैं ये जडौंध।[10]

उन दिनों गांव में सेठ की खूब चर्चा होती थी। पूरे गांव में तीन पुरोहित परिवार थे। तीनों को आशा था कि मन्दिर की पुरोहिती का पद उन्हें ही मिलेगा। तीनों सेठ की खूब-खूब प्रशंसा करते। गंजेड़ियों और जुआरियों की चौबारे के बगल में एक सार्वजनिक छत मिलने जा रही थी, सो वे भी प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे और कई तो बिना मजदूरी लिए पुण्य कमाने के नाम पर मन्दिर के लिए मेहनत कर रहे थे। ऐसे लोगों को तबका उससे बड़ा था जो मुँह पर सेठ की बडाई करते और पीठ पीछे गाली देती। फिर मेरी माँ जैसे लोग थे जो हर समय, हर जगह उसकी बुराई करते। सेठ के तमाम कारनामे इन दिनों हवा में तैर रहे थे और बच्चे-बच्चे उससे परिचित थे। मुझे बहुत खराब-खराब बातें सेठ के बारे में मालूम हुई। तब मैं 'रंडी' शब्द का अर्थ विस्तार से नहीं समझता था- पता हुआ सेठ शहर में रंडियों का बिजनेस करता है। एक पूरी गली है सेठ की, जिसके दोनों तरफ रंडियों के कटरे है। गली के नुक्कड़ पर भी उसने काली का एक मँझोला मन्दिर बनवाया हुआ है। इसी मन्दिर में सेठ का कारिन्दा बैठता है और रंडियों से परसेंटेंज वसूलता है।[11]

चिट्ठी बाजप्ता कई तहों में थी। उसे छूते हुए मुझे एक अजनबी डर ने घेरा। कहीं ऐसा महसूस हुआ कि चिट्ठी पर पड़ी यह परत कफन है। और इसे उघारते ही उनका चेहरा, जो अब हमेशा के लिए बुझ गया है, एकबारगी सामने आ जाएगा और मैं उनका सामना नहीं कर पाऊंगा। लेकिन, उसे खोलना ही था। खोला। छोटी-सी चिट्ठी थी, ''पत्ता हुआ आप आए है तो आया था। काफी तंगी है। तीन रोज से चूल्हा नहीं जला। चला नहीं जाता। लिखा नहीं जाता। तुरन्त मदद करिए ''[12]

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति में धर्म को अत्यधिक मान्यता प्रदान की गई है। धर्म के अंतर्गत नैतिक मूल्य कर्तव्य, उतरदायित्व आदि अनेक विशयों का समावेष होता है। जो व्यक्ति नैतिक कार्य नहीं करता वह धर्म के विरूद्ध होता है। आज के बदलते परिवेष में नैतिकता और धर्म की बदलती स्थिति लेखक को विचलित करती है तभी वे व्यंग्य के माध्यम से उन लोगों पर व्यंग्य बाण छोड़ते हैं जो धर्म का राजनीतिकरण करके अपने स्वार्थ की पूर्ति करते है। संघर्ष, दंगा-फसाद-लूट-खून धर्म का मुख्य उद्देश्य है। अपने धर्म का पालन न करना ही स्वधर्म है। दूसरों के धर्म की निंदा करना ही अपने धर्म की शान है। भक्ति के नाम पर शक्ति प्रदर्शित करना ही धर्म है। जिसका कर्म से कोई संबंध नहीं वह धर्म। रथयात्रा पर आरूड़ होना धर्म। शराब पीना, गालियाँ देना, पाप करना, सूद से पैसे देना, पड़ोसी से नफरत यानी मानव धर्म। किये कर्म पर शर्माना यानी धर्माना। दफ्तर में गबन कर देवी के मंदिर का उद्धार यानी धर्म। किसी ने एक गाली दी तो बदले में दस थप्पड़ मारना हमारा धर्म। हम किसी से कम नहीं धर्म, मेरा भारत महान अपना धर्म। धर्म के नाम पर देश को कुरेदना देशधर्म नकली कर्म-मर्म हमारा असली धर्म।

ग्रंथ सूची

1. आर.एम. मैकलेवर एण्ड सी.एच.पेज, सोसायटी, पृ. 3
2. आलोचना : जनवरी 1968, पृ. 52
3. प्रेम कुमार मणि 'उपसहांर', पृ. 69
4. आर.एम. मैकलेवर एण्ड सी.एच.पेज, सोसायटी, पृ. 238
5. प्रेम कुमार मणि 'उपसहांर', पृ. 120
6. वही, पृ. 8
7. वही, पृ. 63
8. वही, पृ. 59
9. वही, पृ. 69
10. वही, पृ. 30
11. वही, पृ. 41
12. वही, पृ. 78

उपदीप कौर
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
गुरु काशी विश्वविद्यालय,
तलवंडी साबो, बठिण्डा, पंजाब-151302

RNI NO. : DELHIN/2008/27588
An International Peer Reviewed Journal
Website : www.bahurinahiawana.in

मैं तेरे विरद भरोसे अविनासी।
यंत्र न जानूं, मंत्र न जानूं, वेद पढ़ा नहिं कासी ॥
ना मैं पूजूं देवी देवा, ना बन फिरूं उदासी।
तीर्थ न जाऊं, वर्त न साधूं, राखौ दृढ़ विस्वासी ॥
यह काया बिच बधिक बहुत हैं, डारे गल बिच फांसी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, ऐसो दृढ़ विस्वासी।

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 403, पद संख्या 1